भारतीय सामन्तवाद



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली ११०००६ पटना ८००००६

भारतीय सामन्तवाद

रामशरण शर्मा

अनुवादक आदित्यनारायण सिंह

मूल्य २५ ००

प्रथम सस्करण १९७३
प्रकाशक राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०,
८ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली ११०००६
मुद्रक ग्रन्थ भारती दिल्ली-११००३२
आवरण हरिपाल त्यागी

प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक १९६४ में प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के उच्च अध्ययन केन्द्र (सेंटर ऑफ एडवांस्ड स्टडी इन एंशिएंट इंडियन हिस्ट्री एंड कल्चर) के तत्वावधान में कलकत्ता विश्वविद्यालय में दिये मेरे छः व्याख्यानों की शृंखला पर आधारित है। व्याख्यान देने के लिए मुझे केन्द्र के निदेशक प्रोफेसर निहाररंजन रे ने आमन्त्रित किया, इसके लिए मैं उनका आभारी हूं। मैं केन्द्र के वर्तमान निदेशक प्रोफेसर डी० सी० सरकार का भी कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इस व्याख्यान माला और उसके बाद होने वाली परिचर्या का संयोजन किया। पुस्तक के प्रणयन में मुझे प्रोफेसर ए० एल० बैशम से जो मूल्यवान सहायता मिली है उसके लिए मैं उनका विशेष ऋणी हूँ। उन्होंने पुस्तक की पाण्डुलिपि का अवलोकन करके उसकी भूल बताने की कृपा की—खासकर भारतीय जहाजरानी के सम्बन्ध में जिसका विवेचन छठे परिच्छेद में किया गया है। पूरी रचना का पारायण करके कुछ महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ सुझाने के लिए मैं डॉ० बी० पी० मजूमदार का भी आभारी हूँ।

पाठक देखेंगे कि परिशिष्ट १ में मुख्य पाठ की कुछ बातों की पुनरावृत्ति हुई है, तथापि यह परिशिष्ट इसलिए शामिल किया गया है कि एक अर्ध जनजातीय क्षेत्र की भूमि-व्यवस्था की विशेषताओं को उजागर किया जा सके।

भारत के सन्दर्भ में सामन्तवाद के अध्ययन की कठिनाइयों का मुझे बोध है। लेकिन यह ऐसी चुनौती है जिसे किसी न किसी को स्वीकार करना

ही है और इस दिशा म पहला कदम उठाना ही है। यहा मैंने भारतीय साम तवाद के प्राय नौ सौ वर्षों के इतिहास का विवेचन काला तर से किया है, वल्कि या कहिए कि उसकी एक ऐसी मोटी रूप रेखा प्रस्तुत की है जिसके दायरे म यहा उठाई गई समस्याओ का विशद विवेचन काला तर से किया जा सकता है। क्षेत्र की दष्टि से मेरा यह अध्ययन मुख्यत उत्तर भारत तक सीमित है और इसमे साम तवाद के राजनीतिक तथा आर्थिक पहलुओ का तो विचार किया गया है, कि तु सामाजिक तथा सास्कृतिक जीवन पर उसके प्रभाव का विश्लेषण नही किया गया है। इन मर्यादाओ के रहते हुए भी यदि यह कृति भारतीय इतिहास क सुधी अध्यताओ म इस विषय के प्रति रुचि उत्प न कर पाई तो मैं अपना प्रयास सफल मानूगा।

इतिहास विभाग
पटना विश्वविद्यालय
१५ अगस्त १९६५

रामशरण शर्मा

विषय-सूची

परिच्छेद १

उद्भव और प्रथम चरण

(लगभग ३०० ६५० ईस्वी)

सामन्तवाद की ठीक ठीक परिभाषा कर पाना बहुत कठिन है। जिस प्रकार जितने समाजवादी हैं समाजवाद की उतनी ही परिभाषाएँ मिलती हैं, उसी प्रकार सामन्तवाद पर शोध करनेवाले जितने विद्वान हैं, उतनी ही तरह की इसकी व्याख्याएँ की गयी हैं। इस शब्द का प्रयोग ऐतिहासिक विकास की भिन्न भिन्न अवस्थाओं के सन्दर्भ में किया जाता है और ये अवस्थाएँ देश काल की दृष्टि से एक दूसरी से काफी दूर पडती हैं। जहा एक ओर मिस्र के पुरातन राज्य (ओल्ड किंगडम) के बाद वाले राज्यहीन काल (अर्थात् २४७५ २१६० ई० पू०) को सामन्तवादी कहा जाता है वहा दूसरी ओर चाऊ कालीन (११२२ २५० ई० पू० के) चीन को भी यह संज्ञा दी जाती है। लेकिन, आमतौर पर पाचवी शताब्दी से लेकर पन्द्रहवी शताब्दी तक के यूरोपीय समाज को ही सामन्तवादी कहा जाता है। यहाँ भी कभी प्रभु और सामन्त के अनुबन्धात्मक सम्बन्धों में निहित कानूनी पक्ष पर जोर दिया जाता है तो कभी आर्थिक पक्ष, अर्थात् कम्मी प्रथा के प्रचलन पर। यूरोपीय सामन्तवाद के स्वरूप को देखते हुए हम तो यही लगता है कि उसका राजनीतिक और प्रशासनिक ढाचा भूमि अनुदानों के आधार पर गठित था और असली आर्थिक ढाचा कृषि दासत्व (सर्फडम) प्रथा के आधार पर। इस प्रथा के अधीन किसान भूमि से बधे होते थे, और भूमि के मालिक वे जमींदार होते थे जो असली काश्तकारों और राजा के बीच की कडी का काम करते थे। किसान जमीन जोतने के बदले सामन्तों को उपज और बठ-बेगार के रूप में लगान अदा करते थे। इस प्रणाली का आधार आत्म-

निर्भर अर्थव्यवस्था थी जिसमें चीजों का उत्पादन बाजार में बेचने के लिए नहीं बल्कि मुख्यतः स्थानीय किसानों और उनके मालिकों के उपयोग के लिए होता था। तो इन्हीं अर्थों में सामन्तवाद की कुछ मोटी मोटी विशेषताओं को ध्यान में रखकर हम भारत में उसके उद्भव और विकास पर विचार करेंगे।

कुछ राजनीतिक एवं प्रशासनिक प्रवृत्तियों के कारण मौर्योत्तर काल और विशेषकर गुप्त काल में राज्य व्यवस्था सामन्तवादी ढाँचे में ढलने लगी। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति ब्राह्मणों को भूमिदान देने की थी। धर्मशास्त्रों, महाकाव्यों के उपदेशात्मक अंशों और पुराणों में दिये गये धर्मादेशों ने इस प्रवृत्ति को पुण्य कार्य के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। महाभारत के अनुशासन पर्व में इसकी महिमा का गुणगान पूरे एक अध्याय (भूमि दान प्रशंसा) में किया गया है। प्राक् मौर्य काल के पालि साहित्य में कोसल और मगध के राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को दान दिये गये गाँवों का उल्लेख मिलता है। लेकिन इन राजाओं ने इन गाँवों के प्रशासन के अधिकार भी ग्रहीता ब्राह्मणों को दिये हों ऐसा कोई उल्लेख इन ग्रन्थों में नहीं मिलता। भूमि दान का सबसे प्राचीन पुरालेखीय प्रमाण ईस्वी पूर्व की पहली शताब्दी के एक सातवाहन अभिलेख में मिलता है जिसमें अश्वमेध यज्ञ में एक गाँव दान करने की चर्चा है।[1] किन्तु यहाँ भी प्रशासनिक अधिकारों की कोई चर्चा नहीं है। मगर विचित्र बात यह है कि अभिलेखों में उस प्रकार का शायद पहला प्रमाण दूसरी शताब्दी में बौद्ध भिक्षुओं को दान किये गये गाँवों के सिलसिले में मिलता है। यह दान सातवाहन राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि ने दिया था। उन भिक्षुओं को दान की गयी भूमि में राज सेना का प्रवेश वर्जित था, राज्याधिकारी वहाँ के जीवन क्रम में कोई विघ्न बाधा नहीं डाल सकते थे और न जिला पुलिस के लोग ही उस क्षेत्र में कोई हस्तक्षेप कर सकते थे।[2] पाँचवीं शताब्दी में ऐसे अनुदानों की प्रवृत्ति खूब बढ़ी। इनकी दो महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ थीं—एक तो राजस्व के समस्त साधनों का ग्रहीता के नाम हस्तान्तरण, और दूसरी दान लेनेवाले पर आन्तरिक सुरक्षा और प्रशासनिक दायित्वों का बोझ डाल देना। दूसरी शताब्दी के अनुदानों में राजस्व के सिर्फ एक साधन, अर्थात् नमक पर राजा के अधिकार के हस्तान्तरण का उल्लेख मिलता है। इसका मतलब यह हुआ कि राजस्व के कुछ दूसरे साधनों पर राजा अपना अधिकार कायम रखता था। लेकिन दक्षिण

१ सि० इ० पृष्ठ १८८ पंक्ति ११।
२ वही पृष्ठ १९२ १९४५।

भारत म दिय गये चौथी शताब्दी के पल्लव अनुदानो म यह स्थिति नही रह जाती। वाकाटक राजा द्वितीय प्रवरसेन के समय (पाँचवी शताब्दी) से हम देखते हैं कि राजा चरागाह, घास काष्ठागार नमक की खान और सभी भूगर्भ सपदा तथा विष्टि आदि राजस्व क प्राय समस्त साधनो का परिहार कर देता था।[1] रघुवश के अनुसार पृथ्वी की रक्षा करने क लिए राजा के वतन का एक साधन खान भी है।[2] चौथी और पाचवी शताब्दियो के कुछ दानपत्रो स ज्ञात होता है कि ब्राह्मणो को दान किय गये गाँवो की भूगर्भ सपदा के उपभोग का अधिकार भी उन्ह द दिया जाता था।[3] इसका तात्पय यह हुआ कि खानो का राजकीय स्वामित्व भी ग्रहीता को द दिया जाता था और यह ध्यान देने की बात है कि खानो का स्वामित्व राजा की प्रभुसत्ता का एक महत्वपूर्ण प्रतीक था।

यह बात भी उतनी ही महत्त्व रखती है कि दाता राजस्व के परिहार क साथ-साथ दान किये गये गाँवो क निवासियो पर शासन करने का अधिकार भी ग्रहीता को द देता था। गुप्त काल म मध्य भारत के बडे-बडे सामन्त राजाओ द्वारा ब्राह्मणो को दान स्वरूप बसे बसाये गाँव देने के ऐसे कम स कम आधे दजन उदाहरण तो मिलते ही हैं। इन अनुदानो म सामन्त राजाओ ने सम्ब-न्धित गाँवो के निवासियो को, जिनम किसान और कारीगर दोनो शामिल थे, स्पष्ट निर्देश दिया है कि व ग्रहीताओ को केवल प्रचलित कर ही नही दें, बल्कि उनके आदेशो का भी पालन करें। गुप्तोत्तर-काल क दो अन्य भूमि अनुदानो म सर्वाध्यक्ष के पद पर काम करनेवाले सरकारी अमलो तथा वेतनभोगी नियमित सैनिको और छत्रधरो को इस आशय क राज्यादेश दिये गये हैं कि वे ब्राह्मणो के जीवन क्रम मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे।[4] ये तमाम उदाहरण राज्य द्वारा अपने प्रशासनिक अधिकारो के त्याग के स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

पाँचवीं शताब्दी के अभिलेखो स ज्ञात होता है कि राजा चोरो को दण्डित करने का अपना अधिकार आमतौर पर नही छोडता था, यह अधिकार राज्य-

१ सि० इ० पष्ठ ४२२, पंक्ति २९ ई।

२ स० १७, श्लोक ६६।

३ का इ० इ०, जि० ३, न० ४१ पंक्ति ८, सि० इ०, पष्ठ ४२२ पंक्ति २९।

४ रा० श० शर्मा पालिटिकल ऐस्पेक्ट्स ऑफ द कास्ट सिस्टम, ज० बि० रि० सो० ३९ ३२५।

सत्ता का एक मुख्य आधार था। लेकिन आगे चलकर राजा बहुत-सारे चोरों को दण्डित करने का अधिकार ही नहीं, बल्कि परिवार, सम्पत्ति और व्यक्ति के प्रति अपराध करनेवालों को दण्ड देने का अधिकार भी ब्राह्मणों को देने लगा, और इस प्रकार विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया अपनी स्वाभाविक परिणति पर पहुँच गयी। मध्य भारत और पश्चिमी भारत में कुछ उत्तर गुप्तकालीन शासकों ने दान किये गये गाँवों में मुकदमों की सुनवाई का अधिकार भी ब्राह्मणों को सौंप दिया। उनके दानपत्रों में 'अभ्यन्तरसिद्धि'[1] शब्द का प्रयोग हुआ है। अलग-अलग विद्वानों ने इसके अलग-अलग अर्थ लगाये हैं।[2] किन्तु अगर हम इसका अर्थ गाँव के आन्तरिक विवादों का निपटारा लगायें तो असंगत न होगा।[3] और ब्राह्मणों का यह अधिकार निश्चय ही गाँव के सम्बन्ध में गाँव स्वभावतः सबसे अधिक स्थिर राजनीतिक इकाई बन जाता था। स्पष्ट ही अभ्यन्तरसिद्धि का प्रयोग यहाँ उसी प्रयोजन से किया गया है जिस प्रयोजन से उत्तर भारत के दानपत्रों में 'सदण्डदशापराध' शब्द का प्रयोग किया गया है। किन्तु जहाँ सदण्डदशापराध ब्राह्मणों के न्यायाधिकार को आपराधिक अर्थात् फौजदारी मामलों तक ही सीमित रखता है,[4] वहीं अभ्यन्तरसिद्धि शब्द उन सभी आन्तरिक विवादों अर्थात् दीवानी मामलों पर भी न्यायाधिकार प्रदान करता है। स्पष्ट है कि इस अधिकार के बल पर ब्राह्मण दान में प्राप्त गाँव को मामलों से राजकीय शासन-तन्त्र बचा न सकता था।

प्राचीन साहित्य और पुराभिलेखों में राज्य की शक्ति के जिन सात अंगों का उल्लेख मिलता है, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान कर वसूल करने और दण्ड देने के अधिकार को दिया गया है। और यह ठीक भी है क्योंकि इन दोनों अधिकारों का त्याग करने से स्वभावतः राज्य की शक्ति छिन्न-भिन्न हो जाती है। लेकिन ब्राह्मणों को दिये गये दानों से जो स्थिति उत्पन्न हुई, वह बिलकुल यही थी। दान क्षेत्र आमतौर पर सूर्य-चन्द्र के अस्तित्व पर्यन्त के लिए दिये जाते थे। इसका अर्थ यह था कि राज्य की अखण्डता हमेशा के लिए टूट जाती थी। पुरोहितों को भूमि-दान देने की प्रथा का प्रारम्भ प्राङ्-मौर्य-काल और मौर्य काल में ही देखा जा सकता है। कौटिल्य कहता है कि नयी बस्तियों में ब्रह्मदेय

१ अभ्यन्तरसिद्धिका, का० इ० इ०, जि० ६, नं० ३१, पंक्ति ४१।

२ का० इ० इ० जि० ४ १५४ पा० टि० १।

३ वही।

४ वही, जि० ३, १८६ ई० पा० टि० ४।

भूस्वामित्व के अनुसार भूमिदान करना चाहिए और ब्रह्मदेय्य भू-स्वामित्व की शर्तों में कर और दण्ड से मुक्ति भी शामिल है।[1] लेकिन गुप्त काल में स्थिति बदल जाती है। प्रारम्भिक पालि साहित्य में उल्लिखित ब्रह्मदेय्य शब्द की टीका करते हुए पाँचवीं शताब्दी में बुद्धघोष कहते हैं कि ब्रह्मदेय्य अनुदान में न्यायिक और प्रशासनिक अधिकार भी शामिल हैं।[2] समकालीन पुरालेखीय प्रमाणों से भी इस बात की पुष्टि होती है। किन्तु ब्रह्मदेय्य शब्द की इस व्याख्या से प्राङ् मौर्य कालीन स्थिति का बोध नहीं होता। इससे दरअसल टीकाकार के समय की ही स्थिति प्रकट होती है। इस प्रकार गुप्त-काल में भूमि दान के व्यापक प्रचलन ने एक ऐसे ब्राह्मण सामन्तों के आविर्भाव का मार्ग प्रशस्त कर दिया जो राजकीय अधिकारियों की सत्ता से लगभग स्वतन्त्र रहकर अनुदत्त क्षेत्रों का प्रशासन चलाते थे। प्रारम्भिक अनुदानों में जो बात एक अस्पष्ट तथ्य के रूप में विद्यमान थी, लगभग १००० ईस्वी से वही बात स्पष्ट रूप से प्रचलित हो गयी, और तुर्कों की शासन प्रणाली में तो उसे विधिवत स्वीकार कर लिया गया। इन दाताओं का मंशा चाहे जो रहा हो, किन्तु इसके अनुदानों का परिणाम यही हुआ कि देश में प्रचुर आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति से सम्पन्न एक जबरदस्त मध्यवर्ती वर्ग खड़ा हो गया। जैसे जैसे भूमिधर ब्राह्मणों की महत्ता बढ़ती गयी, उनमें से कुछ लोग धीरे धीरे पुरोहिताई का काम छोड़कर अपना ध्यान मुख्यतः अपनी भूसम्पत्ति की व्यवस्था पर केन्द्रित करने लगे। ऐसे ब्राह्मणों के लिए सांसारिक काम काज धार्मिक कृत्यों से अधिक महत्त्वपूर्ण हो गये। लेकिन ब्राह्मणों को भूमिदान देने का सबसे बड़ा नतीजा यह निकला कि शासन तन्त्र पर सकेन्द्र का वह सक्षम और व्यापक नियन्त्रण जिसके लिए मौर्यों का राज्य प्रसिद्ध था मौर्योत्तर काल और गुप्त काल में लुप्त होने लगा और उसका स्थान सत्ता का विकेन्द्रीकरण लेने लगा। अब तक शान्ति सुव्यवस्था कायम रखने और प्रतिरक्षा का प्रबन्ध करने के साथ साथ कर उगाहने, राज्य के लिए बेठ बेगार की व्यवस्था करने, खानों और कृषि का नियमन करने की सारी जिम्मेदारी राज्याधिकारियों पर थी किन्तु अब इन कर्त्तव्यों के निर्वाह का दायित्व धीरे धीरे पहले तो पुरोहितों के हाथों में और बाद में योद्धा वर्ग के हाथों में खिसकता गया।

---

१ अर्थशास्त्र म० २ अध्याय १।

२ पा० टे० सो० पालि इंग्लिश डिक्शनरी, ब्रह्मदेय्य शब्द।

बंगाल और मध्य भारत के गुप्त कालीन शासपत्रों में ग्रहीता को भूमि के लगान व उपभोग का स्थायी अधिकार तो दिया गया है, लेकिन भूमि का स्वामित्व अथवा लगान का अधिकार दूसरों के नाम हस्तान्तरित करने अथवा दूसरों को दानस्वरूप देने का हक उसे हासिल नहीं है। ग्रहीता को यह हक देने का शायद सबसे प्राचीन प्रमाण हमें मध्य भारत में मिलता है। वहाँ इन्दौर में प्राप्त ३९७ ई० के एक अभिलेख में महाराज स्वामिदास नामक किसी व्यक्ति ने जो शायद गुप्त सम्राट का सामन्त था, किसी सौदागर को अपना एक खेत दान करने की अनुमति दी है।[1] मतलब यह कि स्वामिदास को अपने अधिकार क्षेत्र के भीतर किसी भी व्यक्ति को धार्मिक अनुदान देने की मंजूरी दे सकता था। इससे जाहिर होता है कि सामन्त की हैसियत से स्वयं स्वामिदास को भी राजकीय अनुमति के बिना धार्मिक अनुदान देने का अधिकार प्राप्त था। गुप्तों के अन्य सामन्तों द्वारा भी धार्मिक अनुदान देने के प्रमाण मिलते हैं। उदाहरण के लिए परिव्राजक और उच्छकल्प ने कई गाँव दान किये थे। लेकिन न तो स्वामिदास वाले उदाहरण में और न अन्य उदाहरणों में ऐसा कोई उल्लेख है जिससे यह समझा जा सके कि इन सामन्तों को जमीन राजा की ओर से मिली हुई थी। इस प्रकार के अनुदान असल में उपसामन्तीकरण के उदाहरण नहीं हैं। लेकिन इन्दौर अनुदान में ग्रहीता को यह अधिकार दिया गया है कि वह जब तक ब्रह्मदेय अनुदान की शर्तों का पालन करता रहेगा तब तक वह उस भूमि का उपभोग कर सकता है, उसमें स्वयं खेती कर सकता है और दूसरों से भी करवा सकता है।[2] इस दान में इस बात के लिए साफ गुंजाइश है कि भोक्ता अगर चाहे तो अनुदान में प्राप्त भूमि पट्टे पर दूसरों को दे सकता है। यह भूमि के उपसामन्तीकरण का शायद सबसे प्राचीन पुरालेखीय प्रमाण है। यद्यपि इस काल में देश के दूसरे हिस्सों में ऐसे उदाहरण नहीं मिलते, किन्तु यहाँ उपसामन्तीकरण की प्रक्रिया का सूत्रपात तो हो ही जाता है। यह प्रक्रिया मध्य भारत के पश्चिमी हिस्से में पाँचवीं शताब्दी में जारी रही और छठी तथा सातवीं शताब्दियों में वलभी नरेशों के अनुदानों में यह चीज निरपवाद रूप से देखने को मिलती है।

---

१ ए० इ० जि० १५ नं० १६ पंक्तियाँ १-६। यह स्पष्ट नहीं है कि दाता स्वयं वह सौदागर था या कोई और।

२ उचितया ब्रह्मदेय भुक्तया भुञ्जतः कृषतः कर्षापयतश्च। वहीं पंक्तियाँ ६-७

यह बात ध्यान देने योग्य है कि गुप्त साम्राज्य के केन्द्रीय हिस्सा म, अर्थात आधुनिक बगाल बिहार और उत्तर प्रदेश मे किसी भी सामन्त सरदार द्वारा सम्राट की अनुमति के बिना भूमि दान अथवा ग्राम दान करने का कोइ उदाहरण नही मिलता। इस प्रकार के जो भी उदाहरण मिलते हैं, सभी इस परिधि के बाहर सुदूरवर्ती क्षेत्रो मे ही मिलते हैं, जहाँ के सरदार नाम मात्र को ही गुप्त सम्राट के अधीन थे। साम्राज्य के केन्द्रीय प्रदेशो म यह प्रवत्ति, जब गुप्त सम्राटो का शासन समाप्ति पर था, तब से शुरू हुई। कुमारामात्य महाराज नन्दन ने छठी शताब्दी के मध्य म आधुनिक गया जिले म एक गाँव दान किया था[1] यद्यपि पहले ऐसे अनुदान देना गुप्त सम्राटो का विशेषाधिकार था।

दानपत्रो को देखने से पता होता है कि भूमि अनुदाता के बदले पुरोहितो को दाताओ या उनके पूवजो के आध्यात्मिक कल्याण के लिए पूजा प्राथना करनी पडती थी। इनके सासारिक कत्तव्यो का निर्देश कदाचित ही कही किया गया हो। इसका एकमात्र उदाहरण वाकाटक राजा द्वितीय प्रवरसेन का चम्मक ताम्र पत्र है। इसम एक सहस्र ब्राह्मणो को एक गाँव दान किया गया है और उनके लिए कुछ कत्तव्य भी निर्धारित किये गय हैं।[2] उ ह हिदायत दी गयी है कि व राजा और राज्य के विरुद्ध द्रोह नही करग, चोरी और व्यभिचार नही करेंगे, ब्रह्म हत्या नहीं करेंगे और राजा का अपथ्य अर्थात विष नही देंगे, इसके अतिरिक्त व दूसरे गावो से लडाई भी नही करेंगे और न उनका कोइ अनिष्ट करेंगे।[3] य सभी दायित्व निषेधात्मक हैं, जिसका मतलब यह हुआ कि पुरोहित लोग इस शत पर भूमि का उपभोग करत थे कि वे प्रचलित सामाजिक एव राजनीतिक व्यवस्था के विरुद्ध कोइ काम नही करेंगे। दूसरे दानपत्रो म भोक्ता पुरोहितो न इन निषेधो को शायद एक सवमा य तथ्य के रूप म यो ही स्वीकार कर लिया जिससे इनके उल्लख की जरुरत नही समझी गयी। लेकिन, ऐसा मानना स्वाभाविक ही होगा कि ब्राह्मणो ने अपने उदार दाताओ स जितना पाया बदले म उ हें उसस अधिक ही दिया। उन्होने अपन अपन अधीनस्थ क्षेत्रो म शान्ति सुव्यवस्था कायम रखी, प्रजा को वण धम के निर्वाह का पवित्र कत्तव्य समझाया तथा उसके मन म राजा के प्रति जो गुप्त काल से विभिन्न

---

१ ज० ए० सो० ब० पु० सि० ५ (१९०९), १६४ ए० इ०, १०, १२।

२ का० इ० इ० जि० ३ न० ५५।

३ वही, पक्तियाँ ३८ ४३।

देवताओं के गुणों से विभूषित बताया जाने लगा था, यह भाव जगाया कि उनकी आज्ञा का पालन करना भी पुनीत काम है। अतएव, दाताओं का मनचाहा जो रहा हो, ऐसा मानना गलत होगा कि इन अनुदानों से सिर्फ धार्मिक उद्देश्यों की ही सिद्धि होती थी। यह ठीक है कि पुरोहित लोग दाताओं तथा उनके पूर्वजों के आध्यात्मिक कल्याण के लिए पूजा प्रार्थना करते थे और इंग्लैंड के पादरियों की तरह उनके लिए मना रहे जुगाड़ थे, लेकिन अगर जनता को ठीक आचरण करने और प्रचलित व्यवस्था को स्वीकार करने के लिए समझाया जा सकता था तो फिर सैनिक सत्ता की जरूरत ही क्या थी?

गुप्त काल में अधिकारियों को सैनिक और प्रशासनिक सेवाओं के लिए भूमि अनुदान देने का कोई ग्रन्थ या पुरातत्त्वीय प्रमाण नहीं मिलता यद्यपि हो सकता है कि ऐसा प्रचलन रहा हो। धर्मशास्त्रों को देखने से प्रतीत होता है कि दशमिक प्रणाली पर आधारित राजकीय तथा प्रशासनिक इकाइयों के प्रधान अधिकारियों को भूमि अनुदान के रूप में ही वेतन दिया जाता था। क्षेत्रीय संगठन की दशमिक प्रणाली की रूपरेखा सबसे पहले कौटिल्य ने प्रस्तुत की। उसने ८०० ४०० २०० और १० गांवों[1] बल्कि ५ गांवों में भी इकाइयों की व्यवस्था की है और उनके अधिकारियों के पद नाम बताये हैं। ये हैं—पंचग्रामी दशग्रामी गोप स्थानिक तथा समाहर्ता।[2] समाहर्ता को नकद वेतन देने की व्यवस्था की गयी है[3] यद्यपि नयी बस्तियों में गोप और स्थानिक को भूमि अनुदान भी दिया जा सकता है जिसे वह न बेच सकता है और न अन्य किसी प्रकार से किसी दूसरे को दे सकता है।[4] स्पष्ट है कि यह भूमि अनुदान नियमित रूप से मिलने वाले नकद वेतन के ऊपर से दिया जाता था। अतः कौटिल्य की प्रणाली में सामन्तवाद का यह लक्षण बहुत क्षीण दिखाई देता है। लेकिन जैसा कि मनुस्मृति में देखा जा सकता है ईस्वी सन के प्रारम्भ में यह लक्षण काफी पुष्ट हो जाता है। मनु ने दशमिक प्रणाली को कायम रखते हुए १० २० १०० और १००० गांवों के इकाइयों की व्यवस्था की है।[5] साथ ही इन इकाइयों के अधि

१ अर्थशास्त्र अ० २ श्लो० १।
२ वही २ ३५।
३ वही ५ ३।
४ वही २, १।
५ म० स्मृ० अ० ७ श्लो० ११५—७।

कारियों को भूमि अनुदानों के रूप में वेतन देने का विधान करके[1] उसने वेतन विधि में काफी परिवर्तन किया है। प्रायः सभी स्तरों के अधिकारियों को नकद वेतन देने की कौटिल्यवाली व्यवस्था से यह नियम बहुत भिन्न है। 'मनुस्मृति' में 'राजप्रदेयानि' एकत्र करने और शांति-सुव्यवस्था कायम रखने के लिए गठित एक, दस, बीस, सौ या हजार गांवों के एकांशों के प्रधान अधिकारियों को वेतन स्वरूप भूमि अनुदान देने की सिफारिश की गयी है।[2] इस नियम को बृहस्पति की स्मृति में भी उद्धृत किया गया है[3] जिससे ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह नियम गुप्त-काल में भी मान्य था। यद्यपि गुप्त कालीन अभिलेखों में इस प्रथा का कोई उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु पाल अभिलेखों में ग्रामपति और दाशग्रामिक जैसे अधिकारियों की चर्चा मिलती है। इस दाशग्रामिक शब्द को यहाँ भी उसी अर्थ में लिया जा सकता है जिस अर्थ में यह 'मनुस्मृति' में मिलता है।[4] इससे पूर्ववर्ती काल में भूमि का लगान, जो राजस्व का मुख्य साधन था, सीधे राज्य के अमले या ग्रामभोजक अथवा गोप लोग वसूल करते थे। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर कौटिल्य ने यह व्यवस्था की थी कि सभी परिवारों की गणना करके उनके सदस्यों के नाम और उनकी सम्पत्ति दर्ज कर ली जाय[5] ताकि सरकार कर लगाने लायक सम्पत्ति का निश्चय कर सके और वह कितना बेगार ले सकती है इसका अनुमान लगा सके। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त काल में सरकारी कर वसूल करने का दायित्व कम से कम अंशतः तो सामन्तों को सौंप ही दिया जाता था। इसलिए सरकार के लिए अब परिवारों की गणना करके उनका लेखा जोखा रखना जरूरी नहीं रह गया था। चीनी यात्रियों के विवरणों से ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है। पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में गुप्त साम्राज्य के मध्यदेश क्षेत्र में जनता की अवस्था के सम्बन्ध में लिखते हुए फाहियान कहता है 'उन्हें अपने घर बार का पंजीयन नहीं कराना पड़ता न किसी मजिस्ट्रेट के सामने पेश होना पड़ता है।'[6]

---

१ मनुस्मृति अ० ७ श्लो० ११८-९।
२ वही, ११५-२०।
३ अ० १९ श्लो० ४४।
४ हिस्ट्री ऑफ बंगाल, जि० १, श्लो० २७७।
५ अर्थशास्त्र, २, ३५।
६ सैमुअल बील, ट्रैवेल्स ऑफ फाहियान ऐंड सुंग युन, परिच्छेद १६, पृष्ठ २७। चाइनीज लिटरेचर, १९५६, नं० ३, १५८ में इसका अनुवाद इस

इससे इस बात का संकेत मिलता है कि कर-व्यवस्था और दण्ड प्रशासन के सम्बन्ध में गुप्त साम्राज्य की केन्द्रीय सत्ता ढीली पड़ने लगी थी। सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रशासनिक व्यवस्था के सम्बन्ध में ह्वेनसांग से भी हमें ऐसी ही जानकारी मिलती है। ह्वेनसांग के ही शब्दों में, "चूंकि सरकार की नीति उदार है इसलिए बहुत कम अधिकारियों की जरूरत होती है। परिवारों का पंजीयन नहीं होता ...।"[1] इस प्रकार भारत में चीनी यात्रियों के कथनानुसार परिवारों का पंजीयन नहीं होता था। इसका कारण क्या था? हम ऐसा मान सकते हैं कि अब राज्य किसानों से सीधे कर वसूल करने की फिक्र नहीं करता था और यह काम अब सामन्त जमीन को जोतने वाले किसानों और सरकार के मध्य स्थित तीसरे वर्ग के हाथ में चला गया था। इसे राज्य-तन्त्र के सामन्तीकरण का एक और लक्षण माना जा सकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तोत्तर काल में राज्याधिकारियों को वेतन देने की विधि में बड़ा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। अगर हम अर्थशास्त्र के प्रमाण को मानकर चलें तो नयी बस्तियों (जनपद निवेश) से सम्बन्धित कुछ अधिकारियों को छोड़ कर राज्य के समस्त अधिकारियों को नकद वेतन दिया जाता था। अधिकतम वेतन सालाना प्रतिमास ४८,००० पण था और न्यूनतम ६० पण।[2] कहीं कहीं ६० पण से कम वेतन का भी उल्लेख मिलता है। यह सब 'भृत्य भरणीयम्' प्रकरण में मिलता है जिसमें राज्य के छोटे बड़े सभी तरह के अधिकारियों के लिए वेतन निर्धारित किये गये हैं। बहुत से अधिकारियों के पद नाम भी बताये गये हैं और कई मामलों में ऐसा कहा गया है कि एक तरह के अधिकारियों को एक सा वेतन देना चाहिए।[3] किन्तु ऋत्विग आचार्य तथा पुरोहित जैसे कुछ बड़े बड़े धर्माधिकारियों को जिन्हें वेतन-स्वरूप ४८ ००० पण देने की सिफारिश की गयी है नयी बस्तियों में ब्रह्मदेय भूमि का भी पात्र माना गया है।[4] फिर नयी बस्तियों में हस्ति प्रशिक्षक, चिकित्सक तथा अश्व प्रशिक्षक जैसे मध्यम स्तर के कुछ अधिकारियों को, जिन्हें वेतन स्वरूप २००० (पण ?) दिया जाता था भूमि अनुदान देने की भी सिफारिश की गयी है

प्रकार दिया गया है   वे व्यक्ति कर या अधिकारियों के प्रतिबन्धों से मुक्त हैं।

१ वाटर्स, ऑन युआन च्वांग्स ट्रैवल्स इन इण्डिया, १, १७६।

२ अर्थशास्त्र, अ० ५ श्लो० ३।

३ वही।

४ वही।

किन्तु उन्हें इस भूमि को बेचने अथवा किसी को देने का अधिकार नहीं था।[१] इस प्रकार हम देखते हैं कि कौटिल्य की कल्पना के राज्य में जिन थोड़े से अधिकारियों को नियमित नकद वेतन के ऊपर से नयी बस्तियों में भूमि अनुदान देने की व्यवस्था की गयी है उनके अतिरिक्त शेष सभी को सिर्फ नकद वेतन ही दिया जाता है। ईस्वी सन की प्रारम्भिक शताब्दियों में यह स्थिति बदल गयी, प्रतीत होती है। 'मनुस्मृति' में, जो शायद दूसरी शताब्दी में संकलित की गयी, राजस्व अधिकारियों को भूमि-दान के रूप में वेतन देने की व्यवस्था की गयी है[२] और गुप्त-काल के स्मृतिकार इस व्यवस्था को कायम रखते हैं। पांचवीं शताब्दी में बृहस्पति 'प्रसाद लिखित' शब्द की परिभाषा करते हुए बतलाता है कि जब राजा किसी की सेवा, शौर्य आदि से प्रसन्न होकर उसे अनुदान-स्वरूप कोई जिला या ऐसा ही कोई क्षेत्र प्रदान करता है तो उसे प्रसाद लिखित अनुदान कहते हैं।[३] गुप्त साम्राज्य में अधिकारियों को वेतन देने की विधि का हमें ठीक ठीक ज्ञान नहीं है, क्योंकि इस विषय में चीनी यात्रियों का प्रमाण काफी स्पष्ट नहीं है। फाहियान के विवरण के एक वाक्य का लेगी द्वारा किये गये अंग्रेजी अनुवाद से हमें ज्ञात होता है कि "राजा के अंगरक्षकों और परिचरों सभी को नियमित वेतन दिया जाता है।"[४] लेकिन बील का अनुवाद इससे भिन्न है। उनके अनुसार, "राजा के सभी प्रमुख अधिकारियों के वेतन के लिए राजस्व निर्धारित है।"[५] और हाल में एक चीनी विद्वान ने इस महत्वपूर्ण अंश का अनुवाद इस प्रकार किया है "राजा के परिचरों, अंगरक्षकों और अनुचरों सबको परिलब्धियाँ (इमोल्युमेंटस) और पेंशन मिलती हैं।"[६] अगर हम इस अन्तिम अनुवाद को सही मानकर चलें तो देखेंगे कि चूंकि परिलब्धियाँ शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है, इसलिए हो सकता है इसमें भूमि अनुदान भी शामिल रहे हों। जो भी हो इतना तो स्पष्ट है कि हर्षवर्धन के समय में

१ अर्थशास्त्र, अ० २ श्लो० १।

२ मनुस्मृति अ० ७ श्लो० ११५ २०।

३ व्यवहारमयूख, (अनु० पी० वी० काणे और एम० जी० पटवर्धन) में उद्धृत पृष्ठ २१ ७।

४ ए रेकर्ड ऑफ बुद्धिस्टिक किंगडम्स, पृष्ठ ५।

५ ट्रेवल्स ऑफ फाहियान एंड सुंग-युन, पृष्ठ ५५।

६ हो चांग-चुन 'फाहियान्स पिलग्रिमेज टु बुद्धिस्ट कंट्रीज' चाइनीज लिटरेचर १६५६, नं० ३, १५८।

राज्य की सेवा के बदले नकद वेतन नहीं दिया जाता था, क्योंकि एक चौथाई राजस्व बड़े बड़े अधिकारियों की वृत्ति के लिए सुरक्षित था।[1] एक स्थल पर ह्वेनसांग ने स्पष्ट कहा है कि निजी खर्च चलाने के लिए प्रत्येक गवर्नर, मंत्री, मजिस्ट्रेट और अधिकारी को जमीन मिली हुई थी।[2] हर्ष के अभिलेखों के अनुसार इन बड़े अधिकारियों में हम दौस्साधसाधनिकों, प्रमातारों, राजस्थानीयों, उपरिकों तथा विषयपतियों को शामिल कर सकते हैं।[3] इस प्रकार हर्ष के शासनकाल में अनुदान के रूप में राजस्व न केवल पुरोहितों और पंडितों को,[4] बल्कि राज्याधिकारियों को भी दिया जाता था। इस प्रथा की पुष्टि इस बात से होती है कि हमें उस काल की मुद्राएं बहुत कम मिली हैं।

गुप्त काल के कुछ अभिलेखों से ज्ञात होता है कि धर्म-कर्म में लगे पुरोहितों और पंडितों के अतिरिक्त गृहस्थों को भी अनुदान स्वरूप गांव दिए जाते थे किंतु ये लोग उन गांवों से होनेवाली आय का उपयोग धार्मिक प्रयोजनों के लिए करते थे।[5] मानधाम्नों और कुषाणों के अधीन भिक्षुओं के संघों को धर्म कार्यों में लगाने के लिए राज्य की ओर से नकद दानियां दी जाती थीं, लेकिन गुप्तों के शासन काल में ऐसा उद्देश्य से अधिकारियों तथा अन्य लोगों को भूमि अनुदान दिए जाते थे। इसका एक उदाहरण अंत प्रारंभ में ही अर्थात् ४९६ ९७ में, मध्य भारत में उच्छकल्प महाराज जयनाथ द्वारा दिए गए एक ग्राम अनुदान में देखने को मिलता है।[6] उस गांव के निवासियों को निर्देश दिया गया है कि वे नियमपूर्वक भाग भोग कर हिरण्य आदि आवकरों को दें तथा उनकी आज्ञा का पालन करें किंतु दाता ने चोरों को सजा देने का अधिकार अपने ही हाथों में रखा है।[7] अत ऐसा अनुमान लगाना असंगत न होगा कि इन गृहस्थ याचकों (दुम्पाज) ने इस अनुदान का उपयोग सदैव धार्मिक कार्यों के लिए ही नहीं किया होगा और चूंकि वे ज्यादा अपना अत्याचार और शोषण के लिए प्रसिद्ध दिविर (कायस्थ) जाति से सम्बन्धित थे, इसलिए यह और भी बड़ा

१ वाटर्स, भा० १, पृ० १७६।
२ मधुबन ग्रंट (अनु०) ... ८८।
३ ए० इ० जि० [illegible] नं० २८ पंक्ति ६।
४ वही जि० १ ८७।
५ का० इ० इं० जि० [illegible] नं० ३।
६ वही पंक्तियां ५ १२।
७ वही पंक्तियां ११ १४।

कारण है। इस अनुदान की आय से दिविर को वतन मिलता हो, यह कहना कठिन है। किन्तु व्यवहारत तो वह उससे अपनी जेब भरने से शायद नहीं ही चूका होगा।

उसी क्षेत्र म इस प्रकार के कई अनुदान जयनाथ के पुत्र शर्वनाथ न भी दिये। ५१२ ३ मे उसने एक गाँव चार हिस्सा म दान किया। इनम से दो हिस्से विष्णुनंदिन के थे एक व्यापारी शक्तिनाग का और एक एक कुमारनाग तथा स्कन्दनाग का।[1] यह गाव उदरंग तथा उपरिकर के अधिकार के साथ साथ दान किया गया था और इसम सरकार के अनियमित अथवा नियमित सनिको का प्रवेश वर्जित था। इस मन्त्वपूर्ण प्रशासनिक छट का कोई उल्लेख उपर्युक्त अनुदान म नही मिलता। स्पष्ट है कि यहा प्रत्यक्ष भोक्ता व गृहस्थ लोग थे, जिनको यह दान दिया गया था और उनके वशजो को भी सन्तान के लिए इस दान का उपभोग करने का अधिकार प्राप्त था।[2] किन्तु अनुदान की धाराओ के अनुसार इसके भोक्ता देवता थे जिनकी पूजा और मंदिरो की मरम्मत के लिए दाता और ग्रहीता के बीच हुए इकरारनाम के मुताबिक यह दान दिया गया था।[3] जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि राजस्व तथा प्रशासन सम्बन्धी सत्ता का प्रयोग करने का अधिकार इन गृहस्थ भोक्ताओ के ही हाथ म था, और सिर्फ आय का उपयोग मंदिरो के लिए निर्धारित था। इसी राजा ने चोड्डुगोमिन नामक व्यक्ति को ऐसी ही शर्तों पर आधा गाव दान किया। यह व्यक्ति भी गृहस्थ ही था, और इसने दाता के साथ अनुबन्ध किया कि अनुदान का उपयोग पिष्टपुरिका देवी की पूजा और उनके मन्दिर के जीर्णोद्धार के लिए किया जायेगा।[5] इन सभी दानपत्रो से यही आभास मिलता है कि अनुदान प्राप्त करनेवाले गृहस्थ लोग दान म दिये गावो के व्यवस्थापक बन जाते थे, और उन पर मन्दिरो को चलाने की जिम्मेदारी होती थी।

लेकिन इसी राजा द्वारा ५३३ ३४ म जारी किये गये एक दानपत्र को देखने से इस विषय म कोई शका नही रह जाती कि गृहस्थ लोगो को धर्मेतर उद्देश्यो से भी भूमि अनुदान दिये जाते थे। इस दानपत्र के अनुसार पुलिन्दभट नामक किसी व्यक्ति को राजकृपा स्वरूप दो गाव सदा के

१ का० इ० इ० जि० ३ न० २८ पक्तियाँ १ १७।
२ वही पक्तियाँ ६ १०।
३ वही पक्तियाँ १२ १३।
४ वहा, पक्तियाँ १ १६।
५ वही, न० २६, पक्तियाँ १ १२।

लिए दे दिये गये और उनके राजस्व तथा प्रशासन सम्बन्धी उपयुक्त अधिकार भी उसे सौंप दिये गये।[1] ऐसा लगता है कि पुलिंदभट कोई आदिवासी सरदार था। उसने पिष्टपुरिका देवी की पूजा और उसके मन्दिर के जीर्णोद्धार के लिए ये दोनों गाँव कुमारस्वामिन को स्थायी अनुदान के रूप में दे दिये।[2] इस प्रकार यह निश्चित है उससे पहले वह जिस दानपत्र के बल पर उनका स्वामी था, वह विशुद्ध रूप से धर्मेतर दानपत्र था। हो सकता है कि गुप्त काल में इस प्रकार के और भी धर्मेतर दानपत्र जारी किये गये हों, किन्तु चूँकि उनका सम्बन्ध धार्मिक अनुदानों से नहीं था, इसलिए वे पत्थर और ताँबे जैसे टिकाऊ धातुओं पर दर्ज नहीं किये गये।

गुप्तोत्तर-काल के अभिलेखों में अनुदान पानेवाले धर्मेतर व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है। पूर्व बंगाल स्थित आशरफपुर नामक स्थान से प्राप्त ताम्रपत्रों में जिन दो अनुदानों के विवरण मिले हैं उनमें ऐसे कई नामों का उल्लेख हुआ है। ये दोनों दानपत्र सातवीं से लेकर आठवीं सदी तक कभी जारी किये गये थे।[3] उनसे भासित होता है कि बौद्ध मठ के प्रधान के नाम से दान किये गये जमीन के टुकड़े कई लोगों से, जो उनका उपभोग कर रहे थे छीन लिये गये। यह बात अभिलेखों में प्रयुक्त 'भोज्यमान'[4] या 'भोज्यमानक'[5] शब्द के प्रयोग से प्रकट होती है। कुछ मामलों में तो एक ही टुकड़े का उपयोग एक के बाद एक दो व्यक्तियों ने किया और उसके बाद वह फिर बौद्ध आचार्य संघमित्र के मठ को लौटा दिया गया।[6] ऐसे सभी लोगों के नाम दिये गये हैं लेकिन वे कौन थे और क्या थे, इसका निश्चय करना कठिन है। किंतु, भूमिदान के कई धर्मेतर उदाहरण भी मिलते हैं। एक ताम्रपत्र के अनुसार कुछ जमीन रानी को दी गयी[7]— कदाचित उसके निजी खर्च के लिए। फिर वह जमीन राजा की सेवा करने के पुरस्कार स्वरूप किसी स्त्री को दे दी गयी[8] और फिर वही जमीन

---

१ का० इ० इ० जि० ३ नं० ३१ पंक्तियाँ ९ १०।
२ वही, पंक्तियाँ ११ १५।
३ मेमॉयर्स ऑफ द एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १ नं० ६, पृष्ठ ८५।
४ वही पृष्ठ ९० फलक ए० पंक्ति ४।
५ वही पंक्तियाँ ५ ६।
६ वही फलक बी०, पंक्तियाँ ८ ९।
७ वही फलक ए०, पंक्ति ८।
८ वही पंक्तियाँ ४ ५।

अपने स्वामी की सेवा करने के बदले किसी सामन्त को दे दी गयी।[1] स्पष्ट है कि इन सामन्तों और दूसरों को जमीन के ये टुकड़े किसी-न-किसी प्रकार की सेवा के बदले ही मिले हुए थे, और अवधि के समाप्त होने पर या अन्य कारणों से दाता इन्हें फिर लौटा लेते थे। अगर ये टुकड़े ऐसी शर्तों पर न मिले हुए होते तो इन्हें इतनी आसानी से लौटाया नहीं जा सकता। जाहिर है कि अपनी जागीरों से वंचित किये जानेवाले लोगों को कोई मुआवजा नहीं दिया जाता था। इस सबसे प्रकट होता है कि सातवीं या आठवीं शताब्दी में पूर्व बंगाल में कुछ अधि-सेवाओं के लिए लोगों को भूमि अनुदानों के रूप में वेतन मिलता था और ये अनुदान एक सीमित अवधि के लिए किये जाते थे।

धार्मिक सेवाओं के लिए भूमि अनुदान दिये जाते होंगे और धर्मेतर सेवाओं के लिए नकद वतन, यह बात तत्कालीन अर्थ-व्यवस्था को देखते हुए सम्भव नहीं जान पड़ती, क्योंकि जैसा हम आगे चलकर देखेंगे गुप्तोत्तर काल की अर्थ-व्यवस्था की विशेषता मुद्रा का अभाव था। जबतक कुषाणों और सातवाहनों के काल में मुद्रा का काफी चलन था तबतक तो धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी नकद वतन देकर ही करायी जाती थी, और किसी सीमा तक गुप्त काल में भी ऐसा चलता रहा। लेकिन, जब मुद्रा का चलन अपेक्षाकृत कम हो गया तो धार्मिक तथा धर्मेतर दोनों प्रकार की अधि-सेवाओं का प्रतिदान भूमि अनुदानों के रूप में ही देना था। धार्मिक सेवाओं के लिए भूमि अनुदान देने की प्रथा का संकेत तो अभिलेखों में साफ साफ मिलता है। और जब पुरोहितों और मन्दिरों के निर्वाह के लिए भूमि अनुदान दिये जाते थे तब फिर अधिकारियों के निर्वाह के लिए किसी दूसरे रूप में पारिश्रमिक क्या कर दिया जा सकता था?

अधिकारियों को राजस्व अनुदान के द्वारा वतन देने के प्रश्न पर हम गुप्त काल के अधिकारियों के पद-नामों और उस समय के प्रशासनिक एकाकों की संज्ञाओं के अनुसार भी विचार कर सकते हैं। भोगिक और भोगपतिक, इन दो पद-नामों से भासित होता है कि इन अधिकारियों को ये पद मुख्यतः राजस्व का उपभोग करने के लिए ही दिये गये थे और प्रजा पर राज-सत्ता का प्रयोग करना तथा उसके कल्याण के लिए कार्य करना इनका गौण दायित्व था। कभी कभी मासिक समाज भी हुआ करता था।[2] क्या पता कि उस अवस्था में उस

१ मेमॉयर्स आफ द एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, फलक ए पंक्ति ५।

२ का० इ० इ० जि० ३, न० २३, पंक्तियां १८-२०, न० २६, पंक्तियां २२-२३।

भोगिक का पद उसको अपने दूसरे पद से सम्बन्धित कार्यों के लिए वेतन देने के उद्देश्य से ही न दिया जाता हो। इसके अतिरिक्त भोगिक का पद सामान्यतया वंशानुगत हुआ करता था क्योंकि भोगिकों की कम से कम तीन पीढ़ियों का उल्लेख तो कई स्थानों पर मिला है।[1] इन तमाम बातों के परिणामस्वरूप भोगिक स्वभावतः शक्तिशाली सामन्त स्वामी हो गया होगा जिस पर केन्द्रीय सत्ता का अंकुश अपेक्षाकृत बहुत कम रह गया होगा। भोगपतिक का उल्लेख वर्तमान मुंगिर में नियुक्त लगभग दर्जन भर अधिकारियों के साथ साथ हुआ है। यह बात लगभग ५०० ईस्वी की है जब महाराजाधिराज श्री गोपचन्द्र का एक सामन्त महाराज विजयसेन वहां शासन करता था।[2] इसके बारे में ठीक ही अनुमान लगाया गया है कि यह अधिकारी शायद कोई जागीरदार था।[3] कुछ भोगपति ग्रामवासियों पर अत्याचार करते थे। हर्षचरित में ऐसा उल्लेख है कि हर्ष के सैनिक कूच के दौरान ग्रामवासियों ने भोगपतियों के खिलाफ झूठी शिकायतें कीं।[4] परन्तु अपने संरक्षक के प्रशासन को दोष रहित चित्रित करने की फिक्र में बाण ने इन शिकायतों को विश्वसनीय नहीं माना है। हर्ष के काल में दूसरा सामन्त अधिकारी महाभोगी था। इसका उल्लेख उत्तर भारत के समकालीन अभिलेखों में नहीं हुआ है लेकिन उड़ीसा के कतिपय पुरालेखों में हुआ है।[5] कादम्बरी में राजा तारापीड के प्रासाद के अन्तःपुर का वर्णन करते हुए बाण ने लिखा है कि द्वारप्रकोष्ठ पर खड़ा महाभोगी उपस्थित थे।[6] अग्रवाल के अनुसार ये राज्य की दया दाक्षिण्य पर पलनेवाले लोग थे।[7] शायद इनकी तुलना मध्यकालीन यूरोप के बड़े बड़े सामन्तों या राजाओं के प्रासादों में रहनेवाले घरेलू अनुचरों या योद्धाओं से की जा सकती है। राजा की दानशीलता ने व्यवहारतः शायद यही रूप ले लिया कि राज्य की ओर से महाभोगियों के उपभोग के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ राजस्व निर्धारित कर

---

१ का० इ० इ० जि ३ नं० २६ पंक्तियाँ २२ २३।
२ ए० इ० पृष्ठ ३६० पंक्तियाँ ३ ४।
३ वही पृष्ठ ३६० पा० टि० ६।
४ पृष्ठ २१२।
५ विनायक मिश्र मीडिवल डाइनेस्टीज ऑफ ओरिसा पृष्ठ २६५ अभिलेख सं० १।
६ अग्रवाल कादम्बरी पृष्ठ १०३।
७ वही।

कर दिये जाते थे और ये महाभोगी अपने भूमिदाता प्रभु के प्रति अपना सम्मान व्यक्त करने के लिये यदा कदा सामूहिक रूप से राज प्रासाद में उपस्थित होते थे। प्रारम्भिक कलचुरि अभिलेखों में भोगिकपालक[1] नामक अधिकारी का उल्लेख मिलता है। वह शायद भोगिकों के अधीक्षक का काम करता रहा हो।[2] छठी शताब्दी के अंतिम चरण के एक अभिलेख में भोगिकपालक महापीलुपति (हस्ति सेना के प्रधान) के रूप में भी सामने आता है।[3] उसे यह पद भोगिकपालक के रूप में उसकी सेवाओं के परिणामस्वरूप दिया गया था अथवा भोगिकपालक का पद ही महापीलुपति की हैसियत से उसकी अधिसेवाओं के कारण दिया गया था यह बात स्पष्ट नहीं है। किन्तु, जो भी हो भोगिक, भोगपतिक और भोगिकपालक जैसे शब्दों से सामन्तवादी सम्बन्धों की गन्ध तो आती ही है।

✓यह सामन्तवादी विचारधारा कि भूमि या भूखण्ड उसके उपभोग के लिए है जो उसका स्वामी अथवा शासक हो, हमारे सामने स्पष्ट रूप से गुप्त काल में आती है।)उत्तर वैदिक साहित्य में कहा गया है कि वैश्य लोग शासकों को खिलाने पिलाने के लिए हैं और वैदिकोत्तर काल में धर्मसूत्रों में बताया गया है कि शूद्र लोग ऊपर के तीन वर्णों की सेवा करने के लिए हैं।(यह विचार कि भूमि राज्याधिकारियों के उपभोग के लिए है, पहले पहल अशोक के अभिलेखों में मिलता है। अशोक के शासन-काल में जनपद आहारों में विभक्त कर दिया गया प्रतीत होता है।[4] शब्दार्थ की दृष्टि से यही माना जायगा कि ये आहार आहाराधिपतियों के आहार रूप, अर्थात भोजन रूप थे और ये आधुनिक जिलों या तहसीलों के बराबर थे। यह प्रशासनिक एकांश सातवाहन युग में कायम रहा और जैसा कि गुप्त-काल और गुप्तोत्तर काल के प्रारम्भिक कलचुरि अभिलेखों से ज्ञात होता है गुजरात और महाराष्ट्र में यह उसके बाद भी बना रहा।[5] किन्तु, तब तक प्रादेशिक विभाजनों के लिए ऐसे और भी बहुत से उपभोग-सूचक शब्द सामान्य रूप से प्रयोग में आ गये।

---

१ कॉ० इ० इ० जि० ४ न० १३ पंक्ति ८, न० १८, पंक्ति ६।
२ वही भूमिका, पृष्ठ १४१।
३ वही न० १३, पंक्ति ४।
४ रूपनाथ लघु स्तम्भ अभिलेख सारनाथ लघु स्तम्भ अभिलेख।
५ कॉ० इ० इ० जि० ४ भूमिका, पृष्ठ १२४ ५।

ऐसा भी कहा गया है कि भौमिक शब्द शायद भुक्ति शब्द से भी सम्बद्ध है,[1] किन्तु बंगाल के अभिलेखों में भुक्ति के शासक को उपरिक कहा गया है। भुक्ति शब्द के प्रयोग पर कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। गुप्तों के अभिलेखों में यह एक प्रादेशिक एकांश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द सबसे पहले समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रस्तर स्तम्भ अभिलेख में सामने आता है। उसमें कहा गया है कि कुषाण राजाओं तथा सिंहल (लंका) और अन्य द्वीपों के राजाओं को अधीनता स्वीकार करने और विवाह में अपनी बेटियाँ देने की शर्त पर यह अनुमति दी गयी कि वे अपने अपने विषयों और भुक्तियों पर अपना अधिकार रखें।[2] इसके बाद के अभिलेखों में एक बड़े प्रशासनिक एकांश के अर्थ में भुक्ति शब्द का प्रयोग बार-बार हुआ है। शब्दार्थ की दृष्टि से भुक्ति का मतलब है कोई भोग्य वस्तु क्योंकि शासकों द्वारा धरती के भोग का विचार इस काल में काफी प्रचलित था।[3] अतएव यह सम्भव है कि प्रशासनिक एकांश के रूप में भुक्ति सम्बन्धित शासक के भोग के लिए रही हो।

भुक्ति शब्द की तुलना भोग से की जा सकती है। मध्य भारत (के पूर्वी हिस्से) में प्राप्त ५०८-९ के एक अभिलेख में प्रयुक्त 'महाराज शर्वनाथ भोग'[4] शब्द पद का अर्थ स्पष्ट रूप से महाराज शर्वनाथ द्वारा भोग्य प्रदेश है। इस सन्दर्भ में भोग शब्द से इस बात का बोध होता है कि शायद गुप्त सम्राट की नाममात्र की सत्ता के अधीन उसका सामन्त शर्वनाथ उस क्षेत्र का उपभोग करता था, लेकिन भुक्ति शब्द का मतलब है सम्राट के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में उस क्षेत्र का उपभोग। परन्तु कलचुरि काल के अभिलेखों में भोग शब्द से भौमिक के अधीनस्थ एक बहुत छोटे राजस्व क्षेत्र का बोध होता है।

उत्तर भारत और बंगाल में भुक्ति विषयों में विभक्त था, लेकिन अगर दामोदरपुर ताम्रपत्रों में वर्णित अनुदानों में प्रयुक्त कतिपय शब्द पदों की हमारी व्याख्या स्वीकार्य हो तो मानना पड़ेगा कि विषय भी विषयपतियों के उपभोग के लिए ही थे। 'अनुवहमानके कोटिवर्षविषये' शब्द पद का मतलब 'सतत समृद्धिमान जिला'[5] लगाया गया है। लेकिन अनुवह का वहन

---

१ का० इ० इ० जि० ३ पृष्ठ १०० पा० टि० २।
२ सि० इ० पृष्ठ २५८ पंक्ति २४।
३ य भवतात्यनाधन सि० इ० पृष्ठ २६४ श्लोक ४।
४ का० इ० इ० जि० ३ नं० २४ पंक्ति ४।
५ भार० जा० बमार ए० सो० [illegible] पा० टि० २।

के अर्थ में लेना समीचीन होगा। मनुस्मृति, अ० ३, श्लोक ७ की टीका से भी इस अर्थ की पुष्टि होती है।[१] इसलिए अनुवहमानके विषये' का अर्थ भार वहन करनेवाला जिला ही समझना ठीक होगा। इस भार के स्वरूप का आभास हम 'हस्त्यश्वजनभोगेन'[२] शब्द पद में मिलता है। इससे प्रकट होता है कि वह विषय विषयपति के लिए या तो हाथी, अश्वारोही और पदाति सैनिक जुटाकर या उन तीनों तरह की सेनाएँ रखने के लिए आवश्यक धन देकर उसके उपभोग की सामग्री प्रस्तुत करता था। [३]ऐसा लगता है कि कोटिवर्ष विषय के निवासियों को वहाँ के शासक की सेना का खर्च उठाना पड़ता था और इस तरह उसके भोग का भार वहन करना पड़ता था।[४]

मौर्य साम्राज्य में रज्जुकों, अर्थात् मण्डलों (डिविजनों) के प्रधान अधिकारियों की नियुक्ति सम्राट करता था, किन्तु गुप्त साम्राज्य में ये अधिकारी, जिन्हें अब कुमारामात्य कहा जाता था, उपरिक द्वारा नियुक्त किये जाते थे। कुमार गुप्त के एक अभिलेख (४४८ ईस्वी) के एक अंश के आधार पर ऐसा माना गया है कि बंगाल के एक जिले के प्रधान अधिकारी (कुमारामात्य) और गुप्त सम्राट के बीच सीधा और व्यक्तिगत सम्बन्ध था और यह अनुमान लगाया गया है कि पंचनगरी के कुमारामात्य को जिसके लिए भट्टारकपादानुध्यात[५] विशेषण प्रयुक्त हुआ है स्वयं प्रथम कुमार गुप्त ने नियुक्त किया था।[६] किन्तु भट्टारक[७] विरुद पर विचार करने से लगता है कि वह व्यक्ति कुमार गुप्त नहीं था क्योंकि बंगाल वाले उसके पहले के तीनों अभिलेखों में

---

१ मोनियर विलियम्स, संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, शीर्षक 'अनुवह'।

२ सि० इ० पृष्ठ ३३८, पंक्ति ३।

३ ए० इ० (जि० १५, १४४) में दिया यह अर्थ—"पदाति सैनिकों अश्वारोहियों और गज-सैनिकों के शासन"—शब्दार्थ तो नहीं है, किन्तु व्यंजनार्थ के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

४ ए० इ०, जि० १५ नं० १, फलक सं० ८, पंक्तियाँ २ ३।

५ सि० इ०, जो० ई० १२८ का बग्राम ताम्रपत्र अभिलेख, पृष्ठ ३४२, पंक्ति १।

६ बी० सी० सेन, पॉलिटिकल ऐडमिनिस्ट्रेटिव ऑफ ऐन्शिएन्ट बंगाल, पृष्ठ २११।

७ सि० इ०, पृष्ठ २८० और २८५।

उसे 'परम भट्टारक' विरुद से विभूषित किया गया है।[1] दो अन्य अभिलेखों में भी गुप्त सम्राट बुधगुप्त को यही विशेषण दिया गया है। इसलिए उस महत्त्वपूर्ण अभिलेखों से यही भासित होता है कि पंचनगरी का कुमारामात्य अपने निकट-तम प्रभु का अनुरक्त था और सम्भवतः पुण्ड्रवर्धन भुक्ति का प्रधान उसका स्वामी था।

सिर्फ गुप्त साम्राज्य के केन्द्र में या निकटवर्ती क्षेत्रों में ही विषयपतियों की नियुक्ति स्वयं सम्राट करता था। इसका उदाहरण है अन्तर्वेदी, अर्थात् गंगा-यमुना के दोआब के विषयपति शर्वनाग की नियुक्ति।[2] लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि विषयपति की नियुक्ति के सन्दर्भ में प्रशासन या प्रजा-कल्याण की कोई चर्चा नहीं है। जो कुछ कहा गया है उससे यही बोध होता है कि विषयपति अपने अधीनस्थ क्षेत्र का उपभोग करता था।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि सम्राट को साम्राज्य के केन्द्रस्थ क्षेत्रों के बाहर के विषयपतियों की भक्ति-निष्ठा प्राप्त नहीं थी। वे अपने सर्वोच्च प्रभु के बजाय अपने निकटतम (इमि-डिएट) प्रभु के ही अनुरक्त थे।

लेकिन इससे ऐसा निष्कर्ष निकाल लेना गलत होगा कि उपरिक, कुमारा-मात्य और विषयपति स्वतन्त्र सामन्त जैसे थे। गावों में दिए गए भूमि अनुदानों की सूचना अनेक राज्याधिकारियों को दी जाती थी, कभी कभी तो इनकी संख्या चार सौ तक पहुँच जाती थी।[4] लेकिन यह तय कर पाना कठिन है कि सभी स्थलों पर राज्याधिकारियों के पदों के नाम वरीयता के क्रम से ही दिए गए हैं अथवा नहीं। गुजरात में प्राप्त एक अभिलेख (५४१ ईस्वी) में महासामन्त महाराज संयमसिंह द्वारा दिए गए एक भूमि अनुदान का वर्णन किया गया है। उसमें दाता ने राजस्थानीय, उपरिक, कुमारामात्य, चाट, भट आदि अपने अधीनस्थ अधिकारियों को कुछ आदेश भी दिए हैं।[5] यदि दूसरे अभिलेखों को ध्यान में रखा जाय तो पता चलेगा कि उपरिक का स्थान विषयपति और कुमारामात्य

---

1 सि० इ० पृष्ठ ३२४, पंक्ति १; ए० इ०, २१ नं० ८, पंक्ति १०-११। (यह अभिलेख शायद बुधगुप्त से सम्बद्ध है) देखिए सि० इ० पृष्ठ ४०३, पंक्ति १।

2 का० इ० इ० जि० ३ नं० १६, पंक्ति ३-४।

3 'अन्तर्वेद्यां भोगाभिवृद्धये वर्तमाने।' वही पंक्ति ४-५।

4 का० इ० इ०, जि० ३ नं० ७ पंक्तियाँ ७-८।

5 वही नं० ३१ पंक्तियाँ १-२।

से ऊपर था। स्पष्ट है कि अनुदानों के सम्बन्ध में आदेश न केवल बड़े अधिकारियों को बल्कि उनके अधीनस्थ अधिकारियों को भी दिया जाता था। इस उदाहरण से संकेत मिलता है कि सामन्त राजा अपनी सत्ता की धाक विषयपतियों पर भी समान रूप से स्थापित करता था यद्यपि इनकी नियुक्ति उपरिक करता था।

कालक्रम से 'अमात्य और कुमारामात्य' सामन्ती विरुद बन गये। अमात्यों के सम्बन्ध में तो हर्ष के शासन काल में निश्चित रूप से यही स्थिति थी क्योंकि 'हर्षचरित' में कम से कम दो स्थलों पर ऐसे अमात्यों की चर्चा की गयी है, जिन्हें मूर्धाभिषिक्ताश्चामात्या राजानः रूप में अभिषिक्त किया गया।[1] अग्रवाल साहब के अनुसार यहाँ अमात्य शब्द का अर्थ सचिव ही मानना चाहिए,[2] मन्त्री नहीं। लेकिन इसे किसी बहुत बड़े सम्मान का द्योतक मानना ज्यादा ठीक होगा। अग्रवाल साहब आगे यह भी कहते हैं कि कुमार से सम्बद्ध अधिकारी कुमारामात्य कहलाते थे।[3] हो सकता है इस पद का आरम्भ इसी तरह हुआ हो लेकिन आगे चलकर यह अपने आप में एक अलग पद हो गया और कुमार से इसका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। ऐसा प्रतीत होता है कि कुमारामात्य का दर्जा अमात्य से नीचे था। गुप्त काल में मन्त्री, सेनापति, महादण्डनायक, विषयपति और अन्य बड़े-बड़े प्रशासनाधिकारी भी कुमारामात्य विरुद धारण करते थे। विद्वानों के विचार में इससे प्रकट होता है कि 'अर्थशास्त्र' के अमात्यों की तरह कुमारामात्य नामक अधिकारियों के एक विशिष्ट संवर्ग की व्यवस्था की गयी, और सभी बड़े बड़े अधिकारी इसी संवर्ग में से चुने जाने लगे। किन्तु वास्तव में कुमारामात्य एक सम्मान सूचक सामन्तवादी उपाधि थी जो बड़े बड़े अधिकारियों को—यहाँ तक कि महाराजों को भी दी जाती थी।[4] इस विरुद को धारण करने वालों को राजस्व आदि के सम्बन्ध में कुछ विशेषाधिकार भी मिले हुए थे या नहीं, यह कहना कठिन है। लेकिन गुप्त सम्राटों के शासन काल के अंतिम दिनों में हम कुमारामात्य महाराज नन्दन को अपने प्रभु से अनुमति लिए बिना एक भूमि अनुदान देते देखते हैं। इससे प्रकट होता

१ 'श्रुताभिजनशीलशालिनो मूर्धाभिषिक्ताश्चामात्या राजानः', हर्षचरित आफ बाणभट्ट (निर्णयसागर संस्करण) पृष्ठ १७३। अग्रवाल के अनुसार युवराज कुमारामात्य कहे जाते थे, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ ११२।

२ हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ ११२।

३ वही।

४ ज० ए० सो० बं० न्यू सिरीज ५ (१९०९), १६४।

है कि छठी शताब्दी के मध्य तक कुमारामात्य लोगों के सामन्तिक शासक बन बैठे थे, और वे किसी से अनुमति लिये बिना दान कर सकते थे।

गुप्त काल में सामन्तों और जिलों के अधिकारियों के पद उत्तरोत्तर वंशानुगत होते चले गये। इससे एक ओर तो राजा की शक्ति कमजोर होती गयी और दूसरी ओर प्रशासन का स्वरूप और भी सामन्तवादी हो गया। यद्यपि कौटिल्य के मत से अधिकारियों (अमात्यों) और मंत्रियों के पद वंशानुगत होने चाहिए किन्तु आरम्भ के युग में इसका प्रमाण नहीं मिलता है। गुप्त काल के अभिलेखों से प्रकट होता है कि गुप्त सम्राट के मंत्री पद और सचिव के पद वंशानुगत थे 'दश [illegible]' तथा [illegible]' में [illegible] के पद की थी। मध्य भारत में एक ही परिवार के लोग [illegible] तक विभिन्न पदों पर काम करते [illegible] दूसरी में अमात्य और मंत्रिपद का भार [illegible] और थी। [illegible] [illegible] महादण्डनायक [illegible] में भी उदाहरण मिलते हैं। फिर हम पाते हैं कि [illegible] शासन करने वाले [illegible] सभी उत्तराधिकार [illegible] था। [illegible] लगता है कि ये सब [illegible] थे। सिद्धान्ततः सम्राट अधिकारियों को [illegible] कर सकते थे किन्तु व्यवहारतः ये अधिकारी [illegible] [illegible] थे। इसके अतिरिक्त एक ही व्यक्ति को अनेक पद और [illegible] के कारण इनकी शक्ति और प्रभाव में और भी वृद्धि हुई।

सामन्तों [illegible] में अधिकारियों को बड़ी बड़ी [illegible] उपाधियाँ दी जाने लगीं। मालवराज के [illegible] (भाण्डागाराधिकृत) [illegible] को महासामन्त की उपाधि मिली हुई थी।[8] इसी प्रकार [illegible] के राज्याधिकारी

---

१ सि० इ० पृष्ठ २८२ ३, पंक्तियाँ ६ ७ कॉ० इ० इ० जि० ३ न० ६ पंक्तियाँ ३ ४।
२ का० इ० इ० जि० ३ न० २२ पंक्तियाँ २८ ३०।
३ दीक्षितार दि गुप्त पॉलिटी पृष्ठ १४० ५०।
४ का० इ० इ०, जि० ३ न० २२ पंक्तियाँ २८ ३०, न० २३ पंक्तियाँ १८ २०।
५ वही न० २७, पंक्तियाँ २१ २२।
६ वही, न० २६ पंक्तियाँ २२ २३।
७ सि० इ० पृष्ठ २८४, पंक्ति ३ पृष्ठ ३२४, पंक्ति २ पृष्ठ ३२८ पंक्ति २।
८ आर० बी० पाण्डे, हिस्टारिकल ऐंड लिटरेरी इंस्क्रिप्शंस न० ५६ पंक्ति ५०।

भी इस उपाधि से विभूषित थे। महत्त्व का विषय यह है कि इस काल में अधिकारियों और अधीनस्थ सामन्त सरदारों को 'प्राप्त पंचमहाशब्द' की आडम्बयुक्त उपाधि भी दी जाने लगी। पूर्वी भारत में यह उपाधि कुछ बड़े बड़े राज्याधिकारियों को प्राप्त थी। भास्करवर्मन के एक अनुदानपत्र का मुख्य लेखक प्राप्त-पंचमहाशब्द[1] के रूप में विदित था। पश्चिमी भारत में गुर्जर राजा द्वितीय डड्ड ने यह उपाधि धारण कर रखी थी[2] और सातवीं सदी के तृतीय चरण में उसने यह गौरव संद्रका को प्रदान किया था।[3]

राष्ट्रकूट सरदार नन्नराज, जो दन्तिदुर्ग के पूर्वजों में था, अपने ६३१ ३२ के एक दानपत्र में दावा करता है कि उसे पंचमहाशब्द की गरिमा प्राप्त थी, जिसे उसने व्यक्तिगत पुरुषार्थ से अर्जित किया था और जो उसके पूर्वजों को नहीं उपलब्ध थी।[4] इससे ऐसा ध्वनित होता है कि कोई भी व्यक्ति अपने प्रभु की किसी महत्त्वपूर्ण सेवा के द्वारा ही इस गौरव का पात्र बन सकता था। बारहवीं सदी की एक रचना मानसोल्लास के अनुसार इस शब्द से पाँच वाद्ययन्त्रों के प्रयोग का बोध होता है।[5] इनकी चर्चा जैन लेखक रत्नप्रभाचार्य ने भी की है और लिंगायत सम्प्रदाय के एक लेखक ने इनके नाम इस प्रकार गिनाये हैं: शृंग, तम्मट, शंख, भेरी और जयघंट।[6] यह उपाधि पहले शायद सर्वोच्च सत्ताधारी ही धारण कर सकते थे किन्तु बाद में सामन्तों को भी यह उपाधि दी जाने लगी।

गुप्त काल में राजा द्वारा नियुक्त किये गये गाँवों के प्रधान लोग अर्ध-सामन्त अधिकारी बनते जा रहे थे जिन्हें मुख्यतः अपने लाभ की ही चिन्ता बनी रहती थी। मौर्य काल में जो कार्य कृषि अधीक्षक (सीताध्यक्ष) लोग राज्य के हित में किया करते थे वही कार्य गुप्त काल में गाँव के प्रधान (ग्रामाहिरण्यायुक्त) अपना घर भरने के लिए करने लगे।[7] मध्य भारत में प्राप्त पाँचवीं सदी के प्रारम्भ के कुछ अभिलेखों में आयुक्तक का उल्लेख हुआ है और ऐसा जान पड़ता

---

१ आर० बी० पाडे, हिस्टॉरिकल ऐंड लिटरेरी इंस्क्रिप्शन्स, पंक्तियाँ ८७ ८।
२ का० इ० इ० जि० ४ न० १६ पंक्ति ३१।
३ ए० इ० २८ न० २४, फलक ए० पंक्तियाँ ११ १२, फलक बी०, पंक्ति १६।
४ अलतेकर, दि राष्ट्रकूटाज ऐंड देयर टाइम्स, पृष्ठ ७।
५ ३ श्लोक १३३६।
६ इ० ए०, १२, पृष्ठ ९६।
७ कामसूत्र, अ० ५ ५ ५।

है कि वह ग्राम अधिकारी के पद पर था।[1] ग्रामवासियों द्वारा राजा को दिये धान्य की स्वल्प मात्रा का उसका निर्धारण होता था।[2] और इस तरह वह जो कुछ वसूल करता था उसका एक बड़ा हिस्सा ग्रामपति राजा को भेज देता था। स्पष्ट बात यह है कि वह वसूल किये में से अपना आवश्यकता के लिए उधार भी ले सकता था।[3] जबकि स्वयं केवल राजा के लिए ही इस प्रकार उधार लिया जा सकता था।

गुप्तकाल में एक नये वर्ग के लोगों का उदय हुआ जो राजप्रसाद प्राप्त लोगों को आश्रय मिलता था। मार्कण्डेय पुराण बतलाता है कि इन लोगों में अधिष्ठान हुए और हाथी घोड़े और रत्न से युक्त धन सम्पत्ति और गली बाड़ी रहा करती थी और वे दूसरों की जमीन और गली-बाड़ी पर जाते थे।[4] राजप्रसाद प्राप्त लोगों का यह समूह जो एक प्रकार के मध्यवर्गी वर्ग का काम करता था राजनीतिक जीवन में सामन्तवादी प्रवृत्ति के प्रवेश के कारण पैदा हुआ।

ऐसा लगता है सामन्तवादी सम्बन्धों के विकास में देश विजय की उस प्रक्रिया से भी बड़ी सहायता मिली जिसमें पराक्रमी राजा छोटे छोटे सरदारों को जीत कर उन्हें इस बात पर पुनः प्रतिष्ठित कर देता था कि वे उसे कर देते रहेंगे और उसके प्रति अपनी श्रद्धा भक्ति प्रदर्शित करते रहेंगे। यह प्रक्रिया समुद्रगुप्त के समय में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी। उसने बहुत बड़े पैमाने में भारत के विशाल भू भाग को जीत लिया और अधिकांश विजित राजाओं और सरदारों से उपयुक्त रीति से अधीनता स्वीकार करवा कर उन्हें अपने अपने पदों पर छोड़ दिया। परिणामस्वरूप अब सामन्तवादी सम्बन्ध अत्यन्त बड़े पैमाने पर स्थापित हो गये और फिर समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारियों ने भी देश विजय के सम्बन्ध में उसी के उदाहरण का अनुकरण किया। यद्यपि समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति में सामन्त शब्द की चर्चा नहीं है तथापि छठी शताब्दी में उत्तर भारत के अभिलेखों में विजित सरदारों के लिए सामन्त शब्द का प्रयोग

१ कॉ० इ० इ० जि० ४ न० ६ पंक्ति २ (एक भूमि अनुदान के संदर्भ में आयुक्तक का ही उल्लेख हुआ है) न० ७ पंक्तियाँ २ ४।

२ कामसूत्र अ० ५ ५ ५।

३ वही।

४ मार्कण्डेय पुराण ४९ ४६। इस अंश का एम० एन० दत्त द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद पार्जीटर के अनुवाद से ज्यादा सही जान पड़ता है।

किया जाता था। 'अर्थशास्त्र', तथा अशोक के अभिलेखों में इस शब्द का जिस रूप में प्रयोग हुआ है[1] उससे स्पष्ट है कि मौर्य काल में इसका मतलब था स्वतंत्र पड़ोसी। मौर्योत्तर काल की स्मृतियों में इसका प्रयोग पड़ोसी भूस्वामियों के अर्थ में हुआ है।[2] यह मत कि इन स्मृतियों में सामंत का प्रयोग सरदार के अर्थ में हुआ है[3] ठीक नहीं जान पड़ता। इसी प्रकार यह भी सोचना निराधार है कि मनु ने (अ० ७ १२६ और ९) उपज, कर, जुर्माना आदि राजा या देश के शासक द्वारा नहीं, बल्कि सामंतों द्वारा वसूल करने का विधान किया है।[4]

ऐसा जान पड़ता है कि दक्षिण भारत में पाँचवीं शताब्दी के तृतीय चरण में सामंत शब्द का प्रयोग अधीनस्थ सरदार के अर्थ में किया गया है क्योंकि शान्तिवर्मन के काल (लगभग ४५५ ई०) के एक पल्लव अभिलेख में 'सामंत चूडामणय' शब्द पद आया है।[5] इसी सदी के अन्तिम चरण में दक्षिणी और पश्चिमी भारत के कतिपय दानपत्रों में भी यह शब्द अधीनस्थ सरदार के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[6] ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर भारत में इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ में सबसे पहले बंगाल के एक अभिलेख में और मौखरि सरदार अनन्तवर्मन के बराबर पहाड़ी के गुहा अभिलेख में हुआ है। अनन्तवर्मन के अभिलेख में उसके पिता को 'सामंत चूडामणि' कहा गया है।[7] पुरालिपि शास्त्र की दृष्टि से यह अभिलेख ५५४ ईस्वी अर्थात् हड़हा अभिलेख के काल से पहले का माना गया है।[8] अतएव अनन्तवर्मन के पिता का काल ५०० ईस्वी के आसपास माना जा सकता है। उन दिनों मौखरि गुप्त सम्राट के सामंत थे। इसके बाद सामंत शब्द का महत्त्वपूर्ण उल्लेख हमें यशोधर्मन (लगभग ५२५-३५ ईस्वी) के मन्दसौर प्रस्तर-स्तम्भ में मिलता है। इसमें उसने सारे

---

१ अर्थशास्त्र, १, ६, स० स० २, पंक्ति ५।
२ मनु स्मृति (से० बु० ई०), अ० ८, २८६ ६ याज्ञवल्क्य स्मृति, २ १५२ ३।
३ बी० एन० दत्त हिन्दू लॉ ऑफ इनहेरिटेंस, पृष्ठ २७।
४ प्राणनाथ इकॉनॉमिक कंडिशन्स इन एंशिएन्ट इण्डिया, पृष्ठ १६०।
५ आर० बी० पांडे, हिस्टॉरिकल एंड लिटरेरी इन्स्क्रिप्शन्स, न० २९ पंक्ति ३१।
६ इन उदाहरणों का संकलन एल० गोपाल ने जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी (भाग १ और २, अप्रैल १९६२) में लिखे 'सामन्त—इट्स वेरीयिंग सिग्निफिकेंस इन एंशिएंट इंडिया' शीर्षक निबंध में किया है।
७ कॉ० इ० इ०, जि० ३, न० ४९ पंक्ति ४।
८ आर० बी० बसाक, दि हिस्ट्री ऑफ नार्थ ईस्टर्न इंडिया, पृष्ठ १०५।

उत्तर भारत के सामन्तों को पराजित करने का दावा किया है।[1] छठी शताब्दी में वलभी शासक सामन्त महाराज और महासामन्त की उपाधि धारण किया करते थे। धीरे धीरे सामन्त शब्द का प्रयोग पराजित सरदारों के अतिरिक्त राज्याधिकारियों के लिए भी होने लगा। इस प्रकार कलचुरि चेदि युग के अभिलेखों में ५९७ ईस्वी से उपरिकों और कुमारामात्यों का स्थान राजाओं और सामन्तों ने ले लिया।[2] बाद में हर्षवर्धन के भूमि अनुशासनपत्रों में सामन्त महाराज और महासामन्त शब्दों का प्रयोग बड़े बड़े राज्याधिकारियों की उपाधियों के रूप में किया गया है।[3]

समुद्र गुप्त के अधीनस्थ सरदारों के लिए सामन्त शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है किन्तु प्रयाग अभिलेख में उनके दायित्वों का स्पष्ट निर्देश किया गया है। अपने अपने सिंहासनों पर पुनः प्रतिष्ठित कर दिए जाने के बदले विजित और अधीनस्थ राजाओं से अपेक्षा की जाती थी कि वे सभी कर प्रदान करें, राज्यादेशों का पालन करें, विवाह में अपनी बेटियाँ दें और विजेता के प्रति श्रद्धा भक्ति प्रदर्शित करें।[4] बाण पहला लेखक है जिसने सामन्तों के कर्तव्यों का सृजन किया है। उसने हर्षचरित में समुद्र गुप्त के अभिलेख से प्राप्त इस महत्त्वपूर्ण सामग्री पर एक प्रकार का भाष्य सा प्रस्तुत कर दिया है। उसमें हम देखते हैं कि पुष्यभूति ने अपने महासामन्तों को अपना करद (कर देने वाला) बना लिया था।[5] सम्राट सामन्तों द्वारा प्रशासित प्रदेशों की प्रजा से कर न लेकर उन सामन्तों से ही लेता था।[6] सम्राट के इन सामन्तों को अपनी इच्छानुसार करों में वृद्धि करने अथवा नये कर लगाने की छूट थी या नहीं यह स्पष्ट नहीं है किन्तु अपने अपने अधीनस्थ क्षेत्रों में राज करने के लिए उत्तरदायी वे ही लोग थे।

कादम्बरी में पराजित राजाओं द्वारा जो निश्चय ही सामन्त बना लिये गये थे राजा को प्रणाम करने के पाँच तरीकों का उल्लेख हुआ है। इनमें से एक है सिर झुकाना दूसरा सिर झुका कर सम्राट के चरणों का स्पर्श करना तीसरा है सिर झुकाकर सम्राट के तलवों का स्पर्श करना (जिसे हर्ष चरित

१ सि० इ० पृष्ठ ३६४ श्लोक ५।
२ का० इ० इ० जि० ४ भूमिका पृष्ठ १४१।
३ ए० इ० जि० १ ६७ और आगे जि० ४ पृष्ठ २०८।
४ पंक्ति २२ २५।
५ करदीकृत महासामन्त हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृष्ठ १०० ।
६ अग्रवाल हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ २१६ ।

में पराजित सामन्त द्वारा सम्राट की चरण धूलि लेना कहा गया है) और एक अन्य तरीका है सम्राट के चरणों के निकट मस्तक से धरती का स्पर्श करना।[१]

सामन्तों का यह दायित्व तो बिल्कुल स्पष्ट है कि वे सम्राट को वार्षिक कर दिया करें। उनके दूसरे दायित्व का, अर्थात व्यक्तिगत रूप से उपस्थित होकर सम्राट के प्रति अपनी भक्ति प्रकट करने के कर्त्तव्य का बहुत ही सजीव वर्णन बाण ने किया है। उसमें हम देखते हैं कि पराजित महासामन्त किस प्रकार अपने-अपने शेखर और मौलि उतार कर सम्राट का अभिवादन करते थे। हर्ष के राजदरबार में तरह-तरह से उनका मान मर्दन किया जाता था। कुछ लोग विजनधारी का काम करते थे, कुछ अपनी अपनी गर्दनों में तलवार बाँध कर प्राणों की भीख माँगते थे, और समस्त श्रीसम्पदा से वंचित कुछ दूसरे सामन्तगण बड़ी आतुरता से सम्राट को करबद्ध नमस्कार करते थे और विजेता द्वारा अपने भाग्य का निर्णय होने तक दाढ़ी नहीं बनाते थे।[२]

पराजित राजाओं से, जो स्पष्टतः सामन्त बना लिए गये थे, राजदरबार में तीन तरह की सेवाएँ ली जाती थीं। वे चँवरधारी का काम करते थे, जैसा कि हर्ष के राजदरबार में पराजित शत्रु महासामन्त किया करते थे।[३] वे अपने हाथ में बेंत लेकर दरबार में द्वारपाल का काम किया करते थे।[४] और कुछ सामन्त राजा की शुभकामना करते हुए उसका जयकार किया करते थे।[५] पराजित राजाओं द्वारा सेवा के इन तीन तरीकों (परिचारिकीकरण) का वर्णन बाण ने 'कादम्बरी' में किया है।[६] जो चीज स्पष्टतः अपमान जैसी लगती है उसी को वे अपना सौभाग्य और गौरव समझते थे। वे द्वारपाल से बार बार पूछते थे कि सम्राट के दर्शन कब होंगे।[७]

---

१ अग्रवाल, कादम्बरी, पृष्ठ १२८। अग्रवाल के अनुसार प्रणाम करने की चौथी और पाँचवीं विधियाँ शेखरीभवत्पादरजासि शब्द पद के अन्तर्गत आ जाती हैं।

२ हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ ६०।

३ वही।

४ वही, पृष्ठ १६४।

५ अग्रवाल, कादम्बरी, पृष्ठ १२७-८।

६ वही।

७ हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ ६०।

को दान म देता है,[1] और यह भाव एव ताम्रशासनपत्र के जरिये सम्पादित कर दिया गया।[2] यह प्रथा पूर्वी भारत तक ही सीमित नहीं थी। ईस्वी सन की सातवी शताब्दी के पूर्वार्ध म[3] मध्य प्रदेश म सामन्त इन्द्रराज न एक ब्राह्मण को एक गाँव दान म दिया[4] और स्पष्ट है कि उसने इसके लिए अपने प्रभु की अनुमति नहीं ली क्योंकि इसम उसका कोई उल्लेख नहीं किया गया है।

ऐसा जान पड़ता है कि राजदरबार म रहनेवाले सामन्तों को कतिपय सामाजिक दायित्वों का भी निर्वाह करना पड़ता था। व अनेक मनोरजनों म भाग लेते थे—जैसे द्यूत क्रीडा, पाँसा खेलना, बाँसुरी बजाना राजा का चित्र बनाना, पहेलियाँ सुलझाना आदि।[5] इसी प्रकार समारोहों के अवसरों पर उनकी पत्नियों को भी राजदरबार म उपस्थित होना पड़ता था।[6] इस प्रकार सामन्त सैनिक और प्रशासनिक दृष्टियों स ही नहीं बल्कि सामाजिक दृष्टि स भी अपने प्रभु स सम्बद्ध रहते थे।

बाण न सामन्त महासामन्त, आप्तसामन्त प्रधानसामन्त, शत्रुमहासामन्त और प्रतिसामन्त—इतने तरह के सामन्तों का उल्लेख किया है। इनम स महासामन्त स्पष्टत सामन्त स एक श्रेणी ऊपर था और शत्रुसामन्त पराजित शत्रु सरदार था। आप्तसामन्त[7] शायद व लोग थे जिन्होंने स्वेच्छा स अपने प्रभु की अधीनता स्वीकार कर ली थी। प्रधानसामन्त सम्राट के सबसे विश्वस्त व्यक्ति थे, और वह उनकी सलाह की उपेक्षा कभी नहीं करता था लेकिन प्रतिसामन्त शब्द का अर्थ बताना कठिन है।[8] शायद वह राजा स विरोध भाव रखनेवाला सामन्त था या हो सकता है वह मात्र एक अविनयी सामन्त रहा हो। जो भी हो इतना स्पष्ट है कि इस काल म सामन्त शब्द का चलन अच्छी तरह हो गया था, और सामन्तों के कम स कम छ प्रकार होते थे।

---

१ वही, न० ७, पत्तियाँ १ ३।
२ वही, पत्तियाँ ७ १४।
३ ए० इ० ३२ २०६।
४ वही, न० ८१ पत्तियाँ ७ १५।
५ अग्रवाल कादम्बरी पृष्ठ १००।
६ हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ १४३।
७ वही पृष्ठ १५५।
८ "प्रतिसामन्त चक्षुषामिव नक्तानिद्रा कुमुदवनानाम्" हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ २१९।

राजाओं की स्थिति भी सामन्तों से बेहतर नहीं थी। राजा तीन तरह के होते थे। एक तो थे शत्रु महासामन्त। ये सम्राट की तरह तरह की सेवाएं करते थे और इनके साथ सम्मानजनक व्यवहार किया जाता था। दूसरे थे महीपाल जिन्हें लाचार होकर सम्राट के प्रताप के सामने झुकना पड़ता था। तीसरे वे राजा थे जो सम्राट के प्रति अनुराग से प्रेरित होकर उसके पास आये थे।[1] बाण ने एक स्थल पर अनुरक्त महासामन्तों का उल्लेख किया है। इससे शायद यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे अपने प्रभु से विशेष रूप से सम्बद्ध थे।

सामान्यतया राजाओं और सामन्तों का मुख्य कर्त्तव्य अपने प्रभु के लिए सेना जुटाना था। हर्ष के मणिपुर कूच के विवरण से ज्ञात होता है कि उसकी सेना में राजाओं द्वारा दिये गये सैनिक और घोड़े शामिल थे और उनकी संख्या इतनी बड़ी थी कि अपने मन में एकत्र उस विशाल सैन्य समूह को देखकर हर्ष चकित रह गया।[2] ह्वेनसांग ने हर्ष की सेना का जो विवरण दिया है उसे अगर हम अतिरंजित मानें तो भी वह सेना वास्तव में मौर्य वाहिनी से बड़ी रही होगी। अब ध्यान देने की बात यह है कि एक तो हर्ष का राज्य मौर्यों के राज्य से बहुत छोटा था और उस पर भी उसका वैसा प्रभावकारी नियन्त्रण नहीं था जैसा कि मौर्य राजाओं का अपने राज्य पर था। फिर वह इतनी बड़ी सेना कहां से रख पाता होगा और अपेक्षाकृत छोटे राज्य की रक्षा के लिए इसे रखने की आवश्यकता भी क्यों थी? इसलिए एक ही बात सम्भव लगती है कि यह एक सामन्ती सेना थी, जो युद्ध काल में ही खड़ी की जाती थी। एहोल अभिलेख से भी इस अनुमान की पुष्टि होती है। इसमें हर्ष के प्रबल शत्रु पुलकेशिन की प्रशंसा करते हुए यह भी बताया गया है कि हर्ष अपने सामन्तों द्वारा जुटायी गयी सेना से सज्जित था।[3] स्पष्ट ही सामन्तों द्वारा अपने प्रभु के लिए सेना जुटाने के चलन के परिणामस्वरूप प्रभु का सामन्तों का मुखापेक्षी बन जाना पड़ा होगा।

यह स्पष्ट नहीं है कि इन सामन्तों को हर्ष की ओर से अनुदान स्वरूप गांवों के राजस्व भी मिलते थे अथवा नहीं। किन्तु सम्राट और अग्रहारिकों के सम्बन्ध

१ वही पृष्ठ ६० मिलाइए अग्रवाल कृत हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृष्ठ ४३ म।

२ वही पृष्ठ २०६ १०।

३ सामन्तमनामुकुटमणिमयूखाक्रान्तपादारविन्दु श्लोक २३।

का आधार हो यही था कि उन्हें सम्राट् ने अनुदान में गाँवों की आमदनी दे रखी थी। मगर ऐसा लगता है कि अग्रहारिकों का अपने दाता और संरक्षक के प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं था। हर्षचरित में उल्लेख है कि कुछ अग्रहारिक हर्ष का स्वागत करने के लिए दही, गुड़ और शक्कर लेकर स्वेच्छा से अपने अपने गाँवों से बाहर आकर खड़े हो गये, और दण्डधारियों ने उन्हें डरा धमकाकर दूर कर दिया।[1] लेकिन सामान्यतया ये लोग इससे अधिक कुछ करते भी नहीं थे। सब, जब हर्ष सैनिक अभियान पर निकलता तब ये उसके लिए शुभकामना करते थे जिसकी विधि यह थी कि गाँवों के बड़े-बुजुर्ग (महत्तर) अपने अपने हाथों में कलश उठाकर खड़े रहते थे।[2]

किन्तु सामन्तों, अधीनस्थ राजाओं आदि के कर्त्तव्यों के इस विवेचन से हमें ऐसा न मान लेना चाहिए कि गुप्त-काल अथवा गुप्तोत्तर-काल की किसी स्मृति या शास्त्र में इन कर्त्तव्यों का स्पष्ट निर्देश किया गया है। हाँ कतिपय समकालीन साहित्यिक कृतियों से इनका स्पष्ट संकेत अवश्य मिलता है।

घोड़ों और हाथियों—विशेषकर हाथियों—पर राजकीय एकाधिकार समाप्त होने से केन्द्रीय सत्ता की जड़ें और भी कमजोर पड़ गयीं। ऐसा लगता है कि प्राङ्-मौर्य काल में हाथी सिर्फ राजा ही रख सकता था। एक जातक कथा में उल्लेख है कि एक राजा ने तीस परिवारों के एक गाँव को पुरस्कार स्वरूप एक हाथी दिया।[3] जहाँ शक्ति और सत्ता एक के बजाय अनेक व्यक्तियों के हाथों में होती थी वहाँ शासक वर्ग के प्रत्येक सदस्य को राज्य को एक हाथी देना पड़ता था जिसका उदाहरण विपाशा के तट पर बसे ५००० कुलीनों का राज्य है।[4] मेगास्थनीज़ के विवरण से ज्ञात होता है कि किसी भी गैर सरकारी व्यक्ति को घोड़ा या हाथी रखने की अनुमति नहीं थी क्योंकि ये जानवर राजा की विशेष सम्पत्ति माने जाते थे।[5] मेगास्थनीज़ का उद्धरण करते हुए स्ट्रैबो कहता

---

१ ह० च० पृष्ठ २१२।

२ वही।

३ जातक, जि० १, पृ० २००।

४ स्ट्रैबो, प० १५ ३७ मैक्क्रिण्डल, एंशियण्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर, पृष्ठ ४५।

५ स्ट्रैबो, प० १५, ४१ ४३, मैक्क्रिण्डल, एंशियण्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाइ मेगास्थनीज, ऐण्ड एरियन पृष्ठ ९०।

खराब नही हुई। फिर भी तीसरी शताब्दी के आस पास लिखी विष्णु स्मृति मे कहा गया है कि सम्पत्ति और सुरक्षा प्राप्त करने के लिए गृहस्थ को किसी श्रीमन्त से निवेदन करना चाहिए।[1] किंतु, अनुगतता, अर्थात् बलवानों की शरण लेने के वास्तविक उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। बिहार के हजारीबाग जिले मे प्राप्त ८वीं शताब्दी के आसपास के एक अभिलेख के अनुसार तीन गाँवों के निवासियों ने अपने आपको एक व्यापारी के हाथों में सौंप दिया जिसने उनके राजा द्वारा उनसे मांगा गया अवलगन चुकाया और उन्हें सुरक्षा प्रदान की।[2] राजा की अनुमति लेकर उन्होंने उस व्यापारी से अपना राजा बनने का निवेदन किया और उसने तुरंत उसे स्वीकार कर लिया।[3] ऐसा माना जाता है कि 'अवलगन या आलग' शब्द मूलत कन्नड भाषा का शब्द है और इसका मतलब होता है अपने प्रभु की सैनिक या दूसरी सेवा करना।[4] यहाँ हम अपनी ओर से इतना और कह सकते है कि चूकि ८वीं सदी से कर्णाटक के लोगों की सेना मे काम करने का उल्लेख मिलता है इसलिए हो सकता है यह शब्द उन्हीं लोगों के साथ उत्तर भारत मे आया हो। किंतु यह निश्चित नहीं है कि इस अभिलेख मे प्रयुक्त अवलगन शब्द का अर्थ यही है। इस अभिलेख के अनुसार मगध का राजा आदिसिंह तीन गाँवों से अवलगन मांगता है।[5] स्पष्ट ही इसका मतलब यह है कि वह नकद और किस्मों मे बकाया कर माग रहा है। यहा अवलगन का अर्थ किसी प्रकार का सामन्ती सेवा लगाना ठीक नही जान पड़ता। हाँ जब व्यापारी उदयमान तीनों गावो की ओर से अवलगन देने को तैयार हो जाता है और राजा उसे उन तीनो गावो का राजा बना देता है[6] तो इसे हम प्रभु और सामन्त के बीच हुए यूरोप के ढंग के सामन्ती अनुबन्ध का एक उदाहरण अवश्य मान सकते हैं। फिर जब उदयमान इनमे से एक गाव अपने छोटे भाई को दे देता है जो एक प्रकार से उपराजा बना दिया जाता है[7] तब हम धर्मेतर उपसामन्तीकरण का

---

१ अर्थ याचन्नैमायमीश्वरमधिच्छत।
२ ए० इ० २ न० २७ पंक्तियाँ ६ ७।
३ वही पंक्तियाँ ९ १०।
४ समरीज आफ पेपर्स इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस का रजत जयन्ती अधिवेशन (पूना १९६३) पृष्ठ १५।
५ ए० इ० २ २७ पंक्ति ७।
६ वही पंक्तियाँ ७ ८।
७ वही पंक्तियाँ ९ ११।

स्पष्ट उदाहरण देखने को मिलता है। पूर्व मध्यकालीन साहित्य में 'प्रवलगन' शब्द का प्रयोग ८वीं शताब्दी की सिर्फ दो कृतियों में हुआ है और फिर बाद में १२वीं, १४वीं और १६वीं शताब्दियों के साहित्य में हुआ है।[1] इसलिए इसका ठीक ठीक अर्थ समझ पाना और भी कठिन है। किन्तु इसका अर्थ चाहे जो हो, उक्त अभिलेख अनुगतता और उपसामन्तीकरण, इन दो सामन्तवादी प्रवृत्तियों की ओर स्पष्ट संकेत करता है और इनके परिणाम-स्वरूप केन्द्रीय सत्ता निस्संदेह और भी क्षीण हो गई होगी।

केन्द्रीय सत्ता के उत्तरोत्तर कमजोर होने और स्थानीय सरदारों-श्रीमन्तों की शक्ति बढ़ने का संकेत नारद के एक विधान से भी मिलता है। उसके अनुसार जो लोग राजा का विरोध करते हैं या कर की अदायगी में बाधा डालते हैं, उनसे निबटने के लिए ऐसे ही दूसरे लोगों को प्रेरित करना चाहिए।[2] यद्यपि 'फूट डालो और राज करो' की नीति बहुत पुरानी है फिर भी अराजक तत्त्वों को एक-दूसरे के खिलाफ भिड़ा देने के सुझाव से यही प्रकट होता है कि राज्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण में काम करने वाले अधिकारियों में कतिपय शक्तिशाली व्यक्तियों से निबटने की क्षमता नहीं थी, और सम्भावना यही दिखाई देती है कि इन शक्तिशाली व्यक्तियों की स्थिति सामन्ती समाज के मध्यवर्ती वर्ग की जैसी ही रही होगी।

✓जिन आर्थिक प्रवृत्तियों के कारण सामन्तवाद के उदय में सहायता मिली, उनका सही सही निरूपण कर सकना जरा कठिन है। इस सम्बन्ध में पहले तो इस बात पर विचार करना है कि ब्राह्मणों और मन्दिरों को अनुदान में दी गई जमीनें आबाद थीं या परती और ये ग्रहीता अथवा दूसरे भूस्वामी स्वयं ही भूमि के जोतदार थे या इनकी जमीन अस्थायी रूप से काम पर रखे गए किसान लोग जोतते थे। दक्षिण भारत के पश्चिमी हिस्से में प्राप्त १३० ईस्वी के एक सातवाहन अभिलेख में राजकीय जमीन का एक टुकड़ा बौद्ध भिक्षुओं को दान किया गया है और कहा गया है कि जहाँ जमीन जोती नहीं जाती है वहाँ गाँव

१ इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस के पूना अधिवेशन (१९६३) के समक्ष प्रस्तुत इस विषय पर लिखा दशरथ शर्मा का शोध निबंध, जिसका प्रकाशन अब तक नहीं हो पाया है।

नही बसता है ।[1] इससे साफ जाहिर होता है कि कम से कम दूसरी शताब्दी में जो गाँव दान किये जाते थे उनमें जोत की जमीन रहती ही थी । आंध्र प्रदेश के कृष्णा गुंटूर क्षेत्र में प्राप्त तीसरी शताब्दी के दूसरे चरण के अभिलेखों में इक्ष्वाकु राजा को सहस्रों हलों से जोतने लायक जमीन दान करने वाला कहा गया है ।[2] शासकों द्वारा भूमि की माप के लिए हल के प्रयोग से साफ जाहिर होता है कि आन्ध्र के लोग तीसरी शताब्दी के पहले से ही हल से जमीन जोतते थे । दक्षिण भारत के पश्चिमी हिस्से में ईस्वी पूर्व की पहली शताब्दी में ब्राह्मणों को यज्ञ भाव से दान दिये गये गाँव[3] कैसे थे यह तो हम नही जानते किन्तु यह स्पष्ट है कि दूसरी और तीसरी शताब्दियों में दान दिये गये ऐसे गाँवों में खेती-बारी होती थी ।

उत्तर तथा पूर्वी बंगाल के गुप्त कालीन भूमि अनुदानों में खिल और अप्रहत शब्दों का प्रयोग हुआ है जिससे यह अनुमान लगाया गया है कि ब्राह्मणों को ऊसर और परती जमीन दी जाती थी । लेकिन यह निष्कर्ष सभी जगह लागू नही होता । ४४८ ईस्वी के बग्राम ताम्रपट अभिलेख में प्रयुक्त खिल क्षेत्र शब्द[4] का अर्थ परती और ऊसर जमीन नही लगाया जा सकता । प्रथमतः गुप्त कालीन स्मृति नारद स्मृति में खिल शब्द की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि इसका मतलब ऐसी जमीन है जिसे तीन साल से जोता नही गया हो ।[5] दूसरे उपर्युक्त अनुदान में खिल क्षेत्र के साथ साथ मन्दिरों में सेवा करनेवाले कुछ लोगों के लिए थोड़ी सी वास भूमि भी दी गयी है[6] जिससे प्रकट होता है कि वह भूमि बिलकुल ऊसर और परती नही थी । इसी प्रकार ५४३ ईस्वी के दामोदरपुर ताम्रपट अभिलेख में अप्रहत और खिल शब्दों[7] का प्रयोग रूढ़ अर्थों में ही हुआ जान पड़ता है क्योंकि यहाँ जमीन की इतनी कमी थी कि पाँच कुल्यवाप

---

१ तं चेत (न) वपते स च गमा न वमनि, सि० इ० पृष्ठ १९४ पंक्तियाँ ३ ४ ।
२ वही पृष्ठ २१९ २० पंक्तियाँ ४ ५ पृष्ठ २२२ पंक्ति ४ पृष्ठ २२७ पंक्ति १ पृष्ठ २२९ पंक्तियाँ ३ ४ पृष्ठ २३० पंक्ति ६ ।
३ वही पृष्ठ १८७ पंक्तियाँ १० ११ ।
४ वही पृष्ठ ३४३ पंक्तियाँ ६ ७ ।
५ नारद स्मृति ११ २६
६ सि० इ० पृष्ठ ३४३ पंक्ति ६ और पा० टि० ६ ।
७ वही पृष्ठ ३४८ पंक्तियाँ ६ ७

जमीन तीन जगहों में खरीदनी पड़ी।[1] इसके अतिरिक्त यहाँ भी अप्रहत और खिल भूमि के साथ साथ वास्तु अर्थात् वास भूमि दी गयी थी,[2] जिससे यह मानना कठिन हो जाता है कि वह जमीन ऊसर और परती थी। और फिर यह बात भी है कि इस भूमि के साथ सर्वत्र अप्रहत विशेषण का ही प्रयोग नहीं किया गया है एक स्थान पर इस पाँच कुल्यवाप जमीन को खिल कहा गया है।[3] दामोदरपुर का एक दूसरा भूमि अनुदान, जो पाँचवीं शताब्दी के अंतिम चरणों का है बतलाता है कि एक व्यापारी ने कोकामुखस्वामि नामक देवता का दान करने के लिए जो चार कुल्यवाप जमीन खरीदी और श्वेतवराहस्वामि के लिए जो सात कुल्यवाप जमीन खरीदी वह निश्चित रूप से आबाद जमीन थी।[4]

आधुनिक मध्य प्रदेश के पूर्वी हिस्से में गुप्तों के परिव्राजक सामंतों के राज्य में मंदिरों और ब्राह्मणों को दिये गये भूमि अनुदान दो बातों में बंगाल के अनुदानों से भिन्न थे। बंगाल के अनुदानों में ग्रहीताओं को सिर्फ जमीन के टुकड़े ही दिये गये थे, और दाता लोग सामान्य व्यक्ति थे, जिन्होंने जमीनें खरीदकर दान की थीं। किन्तु मध्य भारत के अनुदान सामंत राजाओं ने दिये थे, और ग्रहीताओं को पूरे के पूरे गाँव प्राप्त हुए थे। बंगाल के अनुदान सरकारी अधिकारियों की अनुमति से दिये गये थे, और उनमें ग्रहीताओं को सिर्फ करों से मुक्ति दी गयी थी किन्तु, मध्य भारत के अनुदानों में ग्रहीताओं को प्रशासनिक बंधनों से भी मुक्त कर दिया गया था। फिर भी, बंगाल के अनुदानों की तरह मध्य भारत के अनुदानों में भी परती जमीन के बोधक शब्द का प्रयोग रूढ़ अर्थ में ही किया गया है। मध्य भारत में भूमिच्छिद्रन्याय के अनुसार कई अनुदान दिये गये, जिससे देखने में लगता है कि इन दानों का उद्देश्य परती जमीन को आबाद कराना था। फिर भी इनमें ऐसी कोई दूसरी बात नहीं मिलती जिससे प्रकट होता हो कि दान में दिये गये गाँव परती और बिना आबादी के थे। अधिकांश अनुदानों में भूमिच्छिद्रन्याय शब्द का प्रयोग मात्र एक कानूनी मान्यता का निर्वाह करने के लिए ही किया गया है। पिष्टपुरिका देवी की पूजा और एक मंदिर के जीर्णोद्धार के लिए ब्राह्मणों को दिये गये दो गाँव स्पष्टतः आबाद थे यद्यपि इनका दान भूमिच्छिद्रन्याय के अनुसार हुआ

१ सि० इ० पृष्ठ ३३८।
२ वही, पंक्तियाँ १५ १८।
३ वही पंक्तियाँ १७ १८।
४ वही, पृष्ठ ३२८ पंक्तियाँ ५ ७।

था।[1] इन गावो मे ब्राह्मण तथा दूसरे लोग रहते थे जिन्हे अनुदान सूचना[2] दी गयी थी। एक बात और है। ये गाव पुलिन्दभट नामक एक व्यक्ति को (जो स्पष्टतया ब्राह्मण था) पहले ही दान मे प्राप्त हुए थे और फिर उसने इन्हे कुमारस्वामि नामक पुरोहित को दे दिया[3] जिसके लिए उसने महाराज शर्वनाथ से अनुमति ली। यह उपसामन्तीकरण की प्रक्रिया का द्योतक है।

इसी प्रकार गुजरात और महाराष्ट्र मे प्राप्त कलचुरि चेदि युग के अभिलेखो मे जो पाचवी से लेकर सातवी शताब्दी तक के हैं, भूमिच्छिद्र शब्द का प्रयोग स्पष्टत ऐसे गावो की जमीन के टुकडो के अनुदानो के सन्दर्भ मे किया गया है जो आबाद थे और जिनमे खेती बारी की जाती थी।[4] कुल नौ अनुदानो मे से केवल तीन ऐसे हैं जिनमे जमीन के टुकडे दान मे दिये गये हैं शेष छ मे गाव ही दान किये गये हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि इन अभिलेखो मे जो सबसे पुराना (पाचवी शताब्दी की प्रारम्भिक दशाब्दियो का) है उसमे एक गाँव के अनुदान के विषय मे महाराज सुबन्धु का आदेश उस गाव के निवासियो को सूचित किया जाता है[5] यद्यपि यह गाव भूमिच्छिद्रन्याय के अनुसार ही दान किया गया है। यदि पाँचवी शताब्दी के प्रारम्भ मे भी इस न्याय के अनुसार बसे बसाये गाव दान किये जाते थे तो पूरी सम्भावना है कि छठी तथा सातवी शताब्दियो के अनुदानो मे भूमिच्छिद्रन्याय का उल्लेख एक औपचारिकता मात्र रहा हो। गुजरात के एक भूमिच्छिद्रन्याय अनुदान (६४२ ई०) मे कुछ जमीन एक सगीवरम' (खेत पर बने घर) के साथ साथ दान की गई जान पडती है।[6] इससे प्रकट होता है कि इस जमीन पर खेती होती थी। एक दूसरे मामले मे तो दान की गई भूमि के आबाद होने का प्रमाण बहुत ही स्पष्ट है क्योकि यहा वापी कूप तडाग आदि सिंचाई के साधनो के साथ साथ खिल भूमि दान की गई है।[7]

१ का० इ० इ० ३, न० ३१ पक्तियाँ ११ और १३।
२ वही पक्ति ७।
३ वही पक्तियाँ १० ११।
४ का० इ० इ० ४ न० ७ पक्ति ६ न० ११ पक्ति १० न० १४, पक्ति २० न० १५ पक्ति २१ न० १६ पक्ति ३४ न० १७ पक्ति ४ न० १६, पक्ति १५ न० २०, पक्ति १३, न० २१ पक्ति २६।
५ ग्रामप्रतिवासिन का० इ० इ० ४, न० ७ पक्तियाँ ४।
६ वही न० २० पक्तियाँ १२ १३ और पृष्ठ ८० की पा० टि० १०।
७ वही, न० २१ पक्ति २८।

इस प्रकार के लगभग तमाम अनुदानों में प्रायः एक ही तरह की शब्दावली का प्रयोग किया गया है। वह यह है कि अमुक गाँव अथवा भूमिखण्ड उद्रंग और उपरिकर, अर्थात सभी तरह के करों और महसूलों के साथ साथ दान किया जाता है, दाता उस क्षेत्र से कोई भेंट नजराना नहीं लेगा, वहाँ उसका कोई विशेषाधिकार नहीं रहेगा, और उसमें चाट भट आदि प्रवेश नहीं कर सकते। इस शब्दावली के प्रयोग से भी प्रकट होता है कि ये क्षेत्र आबाद थे। कई अनुदानों में ग्रहीताओं को ऐसे लोगों से जुर्माने वसूल करने का भी अधिकार दिया गया है, जो दस अपराधों के लिए दोषी सिद्ध हो चुके हों। जिन करों और महसूलों से ग्रहीताओं को छूट दी गई है, वे वीरान गाँवों पर नहीं लगाये जा सकते थे। इस सन्दर्भ में अवनिरन्ध्र-न्याय शब्द भी, जो भूमिच्छिद्र-न्याय का पर्याय है, कानूनी रूढ़ि के निर्वाह के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण के लिए महाराष्ट्र में ४७२ ई० में एक गाँव अवनिरन्ध्र-न्याय के अनुसार दान किया गया, परन्तु वह गाँव भेंट नजराना और बेठ बेगार देने, दौरे पर गये सरकारी अधिकारियों को खिलाने पिलाने के लिए शुल्क देने तथा समस्त करों के दायित्वों से मुक्त घोषित किया गया है और साथ ही ग्रहीता को स्थानीय झगड़ों के फैसले निबटारे का भी अधिकार प्रदान किया गया है।[1] इससे उस गाँव के आबाद होने की पूरी सम्भावना प्रकट होती है।

इसलिए पाँचवीं शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक के भूमि अनुदानों में प्रयुक्त खिल, अप्रहत, भूमिच्छिद्र और अवनिरन्ध्र आदि शब्दों का अर्थ लगाने में बहुत सावधानी बरतनी चाहिए। जिस प्रकार अभिलेखों में प्रयुक्त आडम्बरयुक्त उपाधियाँ राजाओं की उपलब्धियों और प्रताप की द्योतक नहीं हैं उसी प्रकार जिन शब्दों का प्रयोग दान शासनों में किया गया है वे उनके सही रूप को प्रकट नहीं करते। अक्सर ये शब्द यथार्थ को प्रकट करने के बजाय नियम निर्वाह के लिए ही प्रयोग किये गये हैं।

ग्रामदान का आदेश ग्रहीता ब्राह्मणों को सूचित करने के साथ साथ उस गाँव के निवासियों को भी सूचित किया गया है।[2] इससे प्रकट होता है कि अनुदान देने से पूर्व भी लोग वहाँ रहते थे। अधिकांश भूमि अनुदानों में विशेषकर कलचुरि चेदि युग की पहली चार सदियों के अनुदानों में ग्रहीता ब्राह्मण के

---

१ कॉ० इ० इ०, १२०, पंक्तियाँ १८-२०।

२ कॉ० इ० इ० ३, २१, पंक्ति ७।

मूल निवासस्थानों की चर्चा नहीं है यद्यपि उनका गोत्र प्राय भारद्वाज बताया गया है। लेकिन जहाँ कहीं उनके निवास स्थान का उल्लेख हुआ है वहाँ वह दान की गई भूमि से दूर नहीं प्रतीत होता। इस प्रकार हमारे सामने ऐसे कई उदाहरण आते हैं जिनमें आबाद जमीन दान की गई है और इनकी तुलना मध्ययुगीन यूरोप की सामंतवादी प्रथाओं से की जा सकती है। अन्तर सिर्फ इतना है कि गुप्तकालीन और गुप्तोत्तर कालीन भारत में प्रतिष्ठित लोग मुख्यतः पुरोहित वर्ग के थे और उनकी संख्या कम थी।

ऐसा अनुमान है कि बंगाल में भूमि अनुदान की प्रथा के परिणामस्वरूप अधिक जमीन जोत में आई और अधिक गाँव बसे।[1] कोसम्बी ने भारत के अन्य प्रदेशों के सम्बन्ध में भी इस अनुमान को लागू करते हुए इस पर विचार किया है।[2] गुप्त काल और गुप्तोत्तर काल में उत्तर भारत के कुछ इलाकों और पूर्वी बंगाल में ऐसी बात हुई होगी लेकिन मध्य प्रदेश, गुजरात और महाराष्ट्र में सामान्यतया बसे बसाए गाँव और आबाद जमीन ही दान की जाती थी। वीरान इलाकों में गाँव बसाने अथवा बंजर जमीन को आबाद कराने के उद्देश्य से ब्राह्मणों को भूमि अनुदान देने का प्रचलन शायद प्राक् मौर्य काल में प्रारम्भ हुआ जब [illegible] मगध और कोसल में राजकीय भूमि के कुछ हिस्से ब्राह्मणों को दिए जाते थे।[3] यह प्रथा मौर्य काल में प्रचलित रही। इस काल में कर और दण्ड के अधिकारों से मुक्त कुछ भूक्षेत्र कतिपय ब्राह्मणों के लिए अलग रख दिए जाते थे।[4] इसका उद्देश्य अधिक भूमि को जोत में लाना था, क्योंकि अर्थशास्त्र की यह व्यवस्था नई बस्तियाँ बसाने की योजना 'जनपद निवेश' का एक अंग है।[5] यह प्रक्रिया आगे भी जारी रही।

गुप्त काल और गुप्तोत्तर काल में नये क्षेत्रों में बस्तियाँ बसाने में भूमि अनुदानों का बहुत बड़ा योग रहा। अभिलेखों से इस प्रक्रिया पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ऐसा अनुभव किया गया कि वीरान भूमि को जब तक जोत के लायक नहीं बनाया जाता तब तक वह मालिक के किसी काम नहीं आ सकती और

---

१ पी० सी० चक्रवर्ती, हिस्ट्री ऑफ बंगाल १, ६४८-९।

२ एन इंट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, पृष्ठ २९१-६।

३ दीघ निकाय १, ८७, १११, ११४, १२७, १३१ और २२४।

४ अर्थशास्त्र, १२ १।

५ वही।

इसलिए ऐसी भूमि को जोत में लाने के लिए पुजारियों और मंदिरों को भूमि अनुदान दिये गये। बंगाल में समाचारदेव का एक अभिलेख जो छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उत्कीर्ण हुआ था इसका प्रमाण है।[1] इसके अनुसार जब एक ब्राह्मण ने एक जिले के महत्तरों से कुछ जमीन मांगी, तो उन्होंने इस कारण उस जमीन को देने का निर्णय किया कि वह जमीन झाड़ी-झंखाड़ और जंगली जानवरों से भरी पड़ी थी और इसलिए न धर्म की दृष्टि से और न अर्थ की दृष्टि से ही राजा के किसी काम की थी, इसलिए उन्होंने सोचा कि अगर इसे अनुदानभोगी आबाद करेगा तो इससे राजा को धर्म और अर्थ, दोनों ही दृष्टियों से लाभ हो सकता है।[2] दूसरे दानपत्रों में ऐसा कुछ स्पष्ट रूप से तो नहीं कहा गया है लेकिन ग्रहीताओं को बंजर भूमि देने के परिणामों की कल्पना सहज ही की जा सकती है।

लोकनाथ के टिपेरा ताम्रशासन से पता चलता है कि उसने पूर्वी बंगाल के वन प्रदेशों को कृषि के योग्य बनाने की नीति अपनाई। उसने एक सौ से अधिक ब्राह्मणों को वन प्रदेश में जमीन और उन्हें उसमें अलग अलग और संयुक्त हिस्से दिये।[3] इस अनुदान में सिर्फ सुव्वारिग जिले की सीमाएँ ही बताई गई हैं जिसमें वह वन प्रदेश स्थित था[4] किन्तु दान की गई भूमि की सीमाएँ निर्धारित नहीं की गई हैं। स्पष्ट ही इसका कारण यह था कि यह क्षेत्र आबाद नहीं था। जिस वन प्रदेश में दान की गई भूमि स्थित थी उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है : जिसमें प्राकृतिक अप्राकृतिक का कोई भेद नहीं है जहाँ झाड़ियों और बेलों का जाल सा बिछा हुआ है जहाँ हिरण, भैंसे, भालू, बाघ, साँप आदि अपनी इच्छानुसार घरेलू जीवन के समस्त आनंदों का उपभोग करते हैं।[5] स्पष्ट है कि ब्राह्मण समाज को वहाँ महासामन्त प्रदोषशर्मन

---

१ ए० इ० १८, ७६।

२ वही नं० ११, पंक्तियाँ १ १४। इस अभिलेख में जिस शब्द को एन० के० भट्टशालि ने सावगा पढ़ा है उसे अगर सुधार कर 'सवृक्ष' पढ़ा जा सके तो उसका मतलब होगा — वृक्षों से भरी भूमि, और संदर्भ को देखते हुए यही ठीक भी लगता है।

३ ए० इ०, १५ नं० १९ पंक्तियाँ ३० ५०।

४ वही, ४।

५ वही, पृष्ठ ३१० १२।

द्वारा निर्मित मन्दिर में प्रतिष्ठित भगवान अनन्त नारायण की पूजा के लिए लाया गया।[1] यह प्रदोषगमन कोई उच्चवर्गीय ब्राह्मण सामन्त था, और ऐसा प्रतीत होता है कि उसी की कोशिशों से यह अनुष्ठान किया गया था। लेकिन, इस क्षेत्र में ब्राह्मणों के आगमन का महत्त्व इस बात में निहित है कि उन्होंने इस वन प्रदेश को निवास और कृषि के योग्य बनाया। पश्चिमी भारत के कुछ हिस्सों में भी ऐसी ही प्रक्रिया देखी जा सकती है। त्रैकूटकों व कैरालकों के शासनपत्रों में, जो मध्य छठी शताब्दी के बाद किसी समय तैयार किए गए, एक गाँव में ६० ब्राह्मणों को दिए गए हिस्सों का हवाला मिलता है।[2] स्वभावतः इससे वहाँ ब्राह्मणों को सामूहिक रूप में बसने की सुविधा मिली। इन प्रमाणों की संख्या कुछ ज्यादा नहीं है लेकिन इन शासनपत्रों से साफ तौर पर यह संकेत मिलता है कि परती ऊसर और जंगली इलाकों को मन्दिरों और ब्राह्मणों को दान देकर आबाद कराया जाता था।

आबाद इलाकों में जहाँ ब्राह्मणों को अग्रहारों के रूप में बहुत से गाँव दान किये जाते थे खेती का तरीका जंगली इलाकों में प्रचलित खेती के तरीके से निश्चय ही बहुत विकसित था। उन आबाद इलाकों में भी खेती के तरीके सर्वत्र एक समान नहीं रहे होंगे लेकिन इसका बुनियादी ज्ञान शायद सबको रहा होगा। श्रीकण्ठ जनपद का वर्णन करते हुए बाण हल की जोताई, खलिहानों में कृत्रिम पहाड़ों की तरह स्थित धान्य के ढेरों और घटि[3] द्वारा भूमि की सिंचाई का उल्लेख करता है। मुख्य उपज मूंग और गेहूँ बताई गई है।[4] स्पष्ट है अग्रहारों के स्वामियों को कृषि के ऐसे तरीकों की जानकारी थी, और उनकी प्रवृत्ति पूजा पाठ और अध्ययन अध्यापन तक ही सीमित नहीं थी। हर्ष के अभियान के दौरान उन्होंने दही, गुड़ और पटिकाओं में बन्द शक्कर लेकर उसका स्वागत किया।[5] ये सब चीजें विन्ध्य क्षेत्र के जंगली गाँवों में पैदा नहीं की जा सकती थीं क्योंकि वहाँ लोग खेती के बहुत ही अपरिष्कृत और

१ ए० इ०, १५ पंक्तियाँ १६ ३२।

२ का० इ० इ० ४, न० ३८।

३ पृष्ठ ८४। कहीं यह आह्माल अभिलेखों में उल्लिखित अरहट्ट ही तो नहीं है?

४ वही।

५ पृष्ठ २१२।

प्रारम्भिक तरीकों से काम लेते थे।

हर्षचरित के अनुसार काली मिट्टी वाले इलाकों के लोग हल और बैल का उपयोग नहीं जानते थे।[1] किसान लोग अपने अपने परिवारों की आजीविका की व्यवस्था करने के लिए फावड़ा पर पूरा जोर आजमाते थे और छोटे छोटे खेत तैयार कर लेते थे।[2] कृषि योग्य खेत छोटे छोटे और कम ही थे।[3] लोग किसी प्रकार की खाद का उपयोग नहीं करते थे। शायद वे खेती की आधुनिक 'झूम' प्रणाली से काम लेते थे। ऐसी खेती आदिवासी लोग करते हैं। वे जंगलों को जला देते हैं और इस तरह उस साफ किये गये क्षेत्र में वर्षा शुरू होने पर बीज डाल देते हैं। जलाये हुए पेड़ पौधों का क्षार एक प्रकार की खाद का काम करता है। फसल काट कर वे फिर दूसरे स्थान की ओर चल देते थे और वहां फिर उसी रीति से खेती करते थे। हो सकता है, हर्षचरित में जो विन्ध्य क्षेत्र में जंगल काटने का उल्लेख हुआ है, उसका सम्बन्ध खेती के इसी तरीके से हो। टिपड़ा के वन प्रदेश में भी, जिसके एक हिस्से में सौ से अधिक ब्राह्मण जाकर बस गये शायद खेती का यही तरीका प्रचलित था। किन्तु इन नये बाशिन्दों ने अवश्य ही पुराने लोगों की कृषि प्रणाली के स्थान पर नई पद्धति चलाई होगी। हर्ष के समय में भूमि अनुदानों से विन्ध्य क्षेत्र में खेती के नये और अच्छे तरीके दाखिल करने में कोई सहायता मिली या नहीं, यह बात तो स्पष्ट नहीं है। लेकिन अगर वन प्रदेशों के धार्मिक प्रतिष्ठानों का खर्च चलाने के लिए कुछ अग्रहार दान किये जाते थे तो उनसे उन प्रदेशों में खेती के बेहतर तरीके दाखिल करने में सहायता मिली हो, ऐसा सम्भव है।

भूमि अनुदानों के पुरालेखीय विवरण से यद्यपि भावनाओं को दी गई राजस्व और प्रशासन सम्बन्धी रियायतों की हमें पर्याप्त जानकारी मिल जाती है, किन्तु दान किये गये क्षेत्रों की ठीक ठीक सीमा और रकबे आदि की जानकारी के लिए उन पर पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता। हम जिस काल पर विचार कर रहे हैं, उस काल में यूरोप के सम्बन्ध में भी ऐसे आंकड़ों का अभाव ही है, और तत्कालीन भारत के विषय में तो स्थिति और भी असन्तोष-जनक है। प्रकृति के प्रकोपों और मनुष्य की कारगुजारियों से उत्तर भारत में

---

[1] वही, पृष्ठ २२७।

[2] वही।

[3] वही।

ये पुरालेख बहुत अर्सों तक ध्वस्त हो गये होंगे। यदि हम इस तथ्य का ध्यान रखें तो मानना होगा कि आज हमें जो पुरालेखीय विवरण उपलब्ध हैं वे मूल पुरालेखों के अंश मात्र हैं। फिर भी सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में धार्मिक अनुदान प्राप्त करनेवाले व्यक्तियों एवं संस्थाओं के अधीनस्थ क्षेत्रों का एक मोटा और सामान्य अन्दाजा हम लगा सकते हैं। उदाहरण के लिए नालन्दा विहार २०० गाँवों के राजस्व का उपभोग करता था, और शायद वलभी शिक्षा-केन्द्र को भी इतने ही गाँव मिले हुए थे। हर्ष के जो ताम्रपट अभिलेख उपलब्ध हैं उनमें केवल दो गाँवों के दान किये जाने का हवाला मिलता है लेकिन इसी काल के वलभी के मैत्रक अभिलेखों में कम से कम १० गाँव दान किये जाने का उल्लेख मिलता है, और लोकनाथ के टिप्पेरा अभिलेख में १०० ब्राह्मणों के जीवन निर्वाह के लायक जंगली इलाका दान किये जाने का प्रमाण मिलता है। बाण भी इस विषय पर कुछ प्रकाश डालता है। हर्षचरित से ज्ञात होता है कि हर्ष ने एक सैनिक अभियान पर निकलने से पहले मध्यदेश में १००० हलों के साथ १०० गाँव ब्राह्मणों को दान किये।[1] १००० हल—अर्थात् १००० हलों से जोती जा सकने लायक—अर्थात् लगभग १०,००० एकड़ जमीन दान की गई। कादम्बरी में तारापीड के प्रासाद में सहस्रों शासनों के मसविदे तैयार करने में रत लिपिकों का उल्लेख है।[2] अगर हम शासनों का अर्थ यहाँ दान पत्र लगायें तो इसका अर्थ यही होगा कि ब्राह्मणों को बहुत बार भूमि अनुदान दिये जाते थे। इसके अतिरिक्त 'हर्षचरित' में असली और नकली दोनों तरह के आग्रहारिकों का उल्लेख मिलता है[3] यद्यपि इन आग्रहारिकों के अधीनस्थ गाँवों की संख्या नहीं बताई गई है। अगर हम यह मान भी लें कि बाण ने अपने संरक्षक का अतिरंजित वर्णन किया है और तारापीड के प्रासाद का चित्र बहुत बढ़ा चढ़ा कर प्रस्तुत किया है तो भी उसकी दुनिया से सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध की वस्तु स्थिति का मोटा अन्दाजा तो मिलता ही है। कुल मिलाकर यही लगता है कि हर्ष के समय तक ब्राह्मणों के हाथ में काफी जमीन आ गई थी।

१ हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृष्ठ ७० ।
२ अधिकरण लेखक प्रारभ्यमाणशासनसहस्रम्, अग्रवाल, कादम्बरी पृष्ठ ८६ पा० टि० १ में उद्धृत।
३ मातामनिगनराग्रहारिकजालम्, वही पृष्ठ २१२।

के लिए विहार और घर बनवाते थे तथा उन्हें खेत और बगीचे के साथ ही जोताई बोवाई के लिए कृषक मजदूर और मवेशी भी देते थे।"[1] इस चीनी यात्री के अनुसार लोहे पर खुदे स्वामित्वाधिकार पत्र एक के बाद दूसरे राजा के हाथों से गुजरते हुए वैध बने हुए थे। लेकिन स्मरण शक्ति के दोष के कारण यहाँ वह शायद गलत बात लिख गया क्योंकि अब तक तो कोई भी लौहपट प्राप्त नहीं हुआ है। स्पष्ट ही फाहियान का मतलब ताम्रपट से था।

भूमिधर मन्दिरों और विहारों के उदय और विकास में एक बात बहुत सहायक सिद्ध हुई। वह थी धार्मिक तथा शैक्षणिक प्रयोजनों के लिए राजाओं द्वारा अग्रहारों का दान किया जाना। इसी शताब्दी के एक परवर्ती गुप्त राजा दामोदर गुप्त को एक सौ अग्रहार स्थापित करने का श्रेय दिया जाता है।[2] इसका मतलब यह हुआ कि धार्मिक तथा शैक्षणिक केन्द्र चलाने के लिए ब्राह्मणों को १०० गाँव दान किये गये। इस अनुसार गुप्त सम्राटों ने भी किये होंगे यद्यपि स्वयं गुप्तकाल के विहार शिलाभिलेखों में इसे साफ साफ नहीं जा सकता और भितरी स्तम्भ अभिलेखों के रूप में इसके कुछ उदाहरण मिलते हैं।[3] सातवीं आठवीं शताब्दियों में भी ब्राह्मणों के मन में गुप्त शासन अग्रहार बनवाने की स्मृति बनी हुई थी और उन्होंने समुद्रगुप्त का नाम जोड़कर कम से कम दो जाली अनुदान पत्र तैयार कर लिये थे।[4] बाणभट्ट ने भी सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हर्षचरित में ऐसे बहुत सी आग्रहारिकों का उल्लेख किया है जिनका कथित अनुदानों पर कोई वैध अधिकार नहीं था।[5] ह्वेनसांग कहता है कि नालन्दा विहार को गाँव उसको दान किये गये लगभग सौ गाँवों के राजस्व से चलता था[6] और ऐसा प्रतीत होता है कि इत्सिंग के समय तक अनुदान में दिये गाँवों की संख्या लगभग २०० तक पहुँच गई थी।[7] भूमि अनुदान की प्रथा के परिणामस्वरूप ये मन्दिर और विहार धनवान हुए और

1 भारतीय [illegible] १६५९ सं० ३ १५३।
2 का० इ० इ०, ३ सं० ४२ पंक्ति १०।
वही सं० १ [illegible] सं० १३ पंक्ति १८।
3 वही, सं० ६० [illegible] सं० ६।
5 पृष्ठ ३१३।
6 [illegible] पृष्ठ [illegible])
7 [illegible] (सं०) [illegible] पृष्ठ ६५।

जानकारी न । है, लेकिन ऊपर की तीना प्रणिया क अस्तित्व म सम्बन्ध म कोई नज़ा नहीं है। किन्तु बृहस्पति की स्मृति म भग स्वामी नाम के स्थान पर स्वामी न " का प्रयोग हुआ है साथ ही उसम यह बात भी स्पष्ट कर दी गई है कि स्वामी राजा और जमीन के असली जोतदार के बीच की श्रेणी म आता था।[1] इस श्रेणी क लोग दूसरा को पट्टे पर भूमि देते थे और कृषि की उपेक्षा करने पर कृषक लोग जुमाने के भागी होते थ।[2] इस प्रकार ये कृषककृषि दास नहीं, बल्कि अस्थायी पट्टेदार हो थ।

गनी बारी म काम क सगठन की इन विशेषताओं की पुष्टि पुरातत्त्वीय प्रमाणा से भी होती है। महाराष्ट्र और गुजरात के चौथी स लकर छठी शताब्दी तक के भूमि अनुदानों से साफ जाहिर होता है कि ग्रहीता को भूमि के भोग का पूरा अधिकार दिया जाता था वह अपनी इच्छा और सुविधानुसार उसम स्वय भी खेती कर सकता था और किसी अन्य से भी करवा सकता था।[3] खुद खेती करनेवाले ब्राह्मणों का अनुपात जानने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है यद्यपि सम्भव है कि ऐसे ब्राह्मणों की सख्या अच्छी खासी रही हो क्योंकि उस काल की स्मृतियों म ऐसी व्यवस्था है कि अगर वे चाहे तो खेती बारी कर सकते है।[4] लेकिन जहाँ पूरा का पूरा गाँव कुछ थोड से ब्राह्मणों को दे दिया जाता था वहाँ स्पष्ट है व सारी जमीन पर खुद ही खेती नहीं कर सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मणों के बहुत से गाँवो या अग्रहारो का स्वरूप अब साम तवादी हो गया।

यह सोचना ठीक नहीं है कि दान किय गय गावा के किसानों का अपने प्रभुओं स वैसा ही सम्बन्ध था जैसा कि इगलैंड के कम्मी गाँवों के किसानो का अपने प्रभुओं स था लेकिन कुछ बातो म किसान पूरी तरह से सम्बन्धित गावो के भोक्ताओं के आधीन थे। बहुत से स्थानो पर ग्रहीता लोग अपनी अपनी जमीन म दूसरो से खेती करवाने के अधिकार के बल पर पुराने किसानों

---

१ १६ ५८ ८।

२ याज्ञवल्क्य २ १५७ ८ बृहस्पति १६ १६ ५३ ५५।

३ भुज्जत कृषत प्रदिशत कर्षयत। का० इ० इ० ४ न० २ पंक्ति ६ न० ११ पक्ति १३, मिलाइए न० २१ पंक्ति ३२ स सि० इ० पृष्ठ ४०५ पक्तियां ६ ७ पा० टि० २ ३ सहित।

४ मनु स्मृति १० ८१ ८२ याज्ञवल्क्य ३ ३५ नारद १ ८६ ६०।

को हटा कर नये किसानों को काम पर लगा सकते थे, इस प्रकार वे अपनी इच्छानुसार पट्टेदारों को हटा सकते थे।[1]

मध्य भारत के गुप्त कालीन अनुदानों से प्रकट होता है कि किसानों को राजा का बेगार करना पड़ता था।[2] वाकाटक शासकों के अनुदानों और गुप्त राजाओं के सामन्तों द्वारा मध्य भारत में दिये गये कुछ अन्य अनुदानों से ज्ञात होता है कि धार्मिक ग्रहीताओं को दान किये गये गांवों में राजा को बाधित श्रम लेने का अधिकार नहीं था।[3] महाराष्ट्र में प्राप्त पाँचवीं शताब्दी के एक ताम्र-पत्र में सभी तरह के दिस्र और विष्टि से मुक्त एक अग्रहार के अनुदान का उल्लेख है।[4] ऐसे ही अनुदान पश्चिमी भारत में भी दिये गये थे। इनमें से सबसे पहले के अनुदानों में से एक है ४८७ ईस्वी का अनुदान।[5] इसका मतलब शायद यह है कि ग्रहीता लोग राजा को कोई भी कर देने और उसके लिए विष्टि की व्यवस्था करने के दायित्व से मुक्त थे जब कि स्पष्ट है वे अपने अधीनस्थ गांवों से कर भी ले सकते थे और बेगार भी। मध्य भारत और पश्चिमी भारत के कतिपय अनुदानों में संबंधित क्षेत्रों के निवासियों को ग्रहीताओं की आज्ञा का पालन करने का आदेश दिया गया है जिसका मतलब यह लगाया गया है कि ग्रहीता बाधित श्रम ले सकते थे।[6] लेकिन जनसाधारण से जो चीजें लेने का चलन परम्परा से नहीं चला आ रहा था, उनकी भी माँग वे कर सकते थे या नहीं यह स्पष्ट नहीं है। जो भी हो इसमें सन्देह नहीं कि गुप्त काल में मध्य भारत और पश्चिमी भारत में शासक लोग अपने शासितों से बेगार लिया करते थे।

गुप्त कालीन अनुदानों से जिस बात का सिर्फ आभास मिलता है वही बात छठीं शताब्दी के अन्तिम चरण में वलभी नरेशों के अनुदानों में बिलकुल स्पष्ट रूप से कही गई है। प्रथम धरसेन के (लगभग ५७१ ईस्वी के) एक

---

१ कॉ० इ० इ०, ४ भूमिका का पृष्ठ १८१।

२ इन अनुदानों का वर्णन मैती की कृति इकनॉमिक लाइफ ऑफ नादर्न इंडिया इन गुप्त पीरियड, पृष्ठ १५२ ३ में किया गया है। द्वितीय प्रवरसेन के अनुदान में 'सर्वविष्टि' शब्द का प्रयोग हुआ है।

३ वही।

४ एम० जी० दीक्षित द्वारा सम्पादित सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स फ्रॉम महाराष्ट्र पृ० ८।

५ कॉ० इ० इ०, ४, न० ८ पंक्ति ६।

६ मैती की ग० प्र० पु० पृष्ठ १५१ ५३।

अनुदान म धार्मिक ग्रहीता को आवश्यकतानुसार बेगार लने का अधिकार दिया गया है।[1] प्रथम शिलादित्य ने भी अपने ६०५ ईस्वी के दानपत्र म[2] और फिर ६१० ११ इस्वी के दानपत्रों म[3] ग्रहीताओं को ठीक एसी ही रियायत दी है। सातवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध म वलभी अनुदानों म[4] बल्कि गुजरात के सामन्त सरदार अल्लशक्ति के समान छोटे छोटे सरदारों द्वारा दिये अनुदानों म[5] भी उस पारिभाषिक शब्द का प्रयोग बार बार हुआ है जिससे प्रकट होता है कि ग्रहीता को बेगार लेने का अधिकार था। वाल्मीकी के चालुक्यों के भूमि दानपत्रों मे भी हम यह शब्द देखने को मिलता है। स्पष्ट है कि जब ग्रहीताओं को बेगार लेने का अधिकार प्राप्त था तब अपनी बेगार लेने की आवश्यकता का निर्णय तो व इच्छानुसार जब चाहते तभी कर सकते थे।

बेगार शिल्पियो म भी लिया जाता था। पूर्ववर्ती स्मृतियो म एसा विधान है कि शिल्पी लोग राजा या कर देने के बदले महीने म एक दिन उसका काम कर द। कर के बदले इस तरह काम कर देना बेगार नहीं माना जा सकता लेकिन कौटिल्य के अनुसार कमकरा तथा बेगार करने वाले मजदूरों म कोई अंतर नहीं था और यह सम्भव है कि कमकरों म शिल्पी लोग भी शामिल रहे हों। ५६२ इस्वी म पश्चिमी भारत म वणिकों के एक समूह (वणिग्ग्राम) को दिये गये एक अनुदान से प्रकट होता है कि शिल्पियो को केवल राजा का ही नहीं बल्कि जिन वणिकों को राज्य की ओर से छूट की सनद दी जाती थी उन वणिकों का भी बेगार करना पडता था। इस प्रकार वणिकों का काम करने वाले वणिक बुनकरों कारीगरों नाइयों कुम्हारों आदि से बेगार लिया करते थे।[6] स्पष्ट ही जहाँ तक राजा का सम्बन्ध था चरखा और नील तैयार करने वाले श्रमिक बेगार से

---

१ ए० इ० ११ ८०।

२ इ० ए० ६ पृष्ठ १२ पंक्ति ६। प्रयुक्त शब्द यह है 'सोत्पद्यमानविष्टि' जिसका अनुवाद मीराशि ने इस प्रकार किया है उससे उत्पन्न होने वाले बाधित श्रम का लाभ उठाने के अधिकार के साथ साथ।

३ ए० इ० ११ नं० १७ पंक्ति २६।

४ वही २१ नं० १८ पंक्ति २५।

५ का० इ० इ० ४ नं २१ पंक्ति २७ इ० ए० ६, १२।

६ ए० इ० ३० नं० ३० पंक्ति २८ का अनुवाद करते हुए (जनल ऑफ इकनॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री ऑफ द ओरिएण्ट लायडन २, २८, म)

मुक्त थे,[1] क्योंकि उनके रोजगार पर महसूल लगा हुआ था।[2] फिर, मिस्तिया और ग्वाला स, जो स्पष्टत वणिको का काम करते थे, राजा की बेगार के लिए नही कहा जा सकता था।[3] स्पष्ट है कि वणिग्ग्राम को दी गई इन रियायतो का उद्देश्य शिल्पियो और साधारण श्रमिको की सेवाओ को वणिको के लिए सुरक्षित रखना था। यह मध्य काल की उस अर्थ-व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता थी जो स्थानीय उत्पादन और स्थानीय उपभोग पर आधारित थी।

गुप्त काल म बेगार का स्वरूप कुल मिलाकर बहुत बदल गया। मौर्य काल म बेगार दास और कमकर किया करते थे, और श्रमिक वग म इनके अलावा वे लोग शामिल थे जो भण्डार गहो म सफाई, नाप तौल, चौकीदारी और पिसाई की देख रेख का काम किया करते थे।[4] श्रमिको की भरती विष्टिबन्धक करता था, और इन्हे मजदूरी दी जाती थी।[5] यह सही ह कि राज्य की आय का साधन विष्टि भी थी लेकिन इस विषय म निश्चयपूवक कुछ नही कहा जा सकता कि गाँवो म रहनेवाले स्वतन्त्र किसानो से भी बेगार लिया जाना था या नही। किन्तु दूसरी शताब्दी म पश्चिमी भारत के राजा रुद्रदामन की समस्त प्रजा बेगार करने के लिए बाध्य थी। चौथी से सातवी शताब्दी के बीच इस प्रथा म और भी जबरदस्त परिवतन हुए। वाकाटको राष्ट्रकूटो और चालुक्यो के अभिलेखों से प्रकट होता है कि यह प्रथा मध्य भारत के पश्चिमी क्षेत्र, महाराष्ट्र और कर्नाटक के कुछ हिस्सो मे फल गई। मध्य भारत म इसका बड़ा व्यापक प्रसार हुआ और इसके लिए सर्वविष्टि शब्द प्रचलित हो गया।[6] पश्चिमी भारत क चौथी और पाचवी शताब्दियो के कतिपय कलचुरि चेदि

कोसम्बी कहते हैं कि इन शिल्पियो को करो के बदले मे बेगार करना पड़ता था, लेकिन यह स्थापना तभी स्वीकार की जा सकती है जब हम करिको को राज्याधिकारी मान लें, किन्तु उन्हे राज्यधिकारी मानना गलत होगा।

१ ए० इ० ३०, न० ३०, पंक्ति ८।

२ ज० इ० सो० हि० ग्रा०, २, २८७।

३ ए० इ० ३०, न० ३०, पंक्ति ८।

४ अर्थशास्त्र,२, १५।

५ वही ५ ३।

६ ए० इ०, २८, न० १० पंक्ति २३। द्वितीय प्रवरसेन के अनुदानो म इसका प्रयोग बार बार हुआ है।

युगीन अनुदानों में सर्वविष्टि[1] शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका मतलब है—सभी तरह के शुल्क और बेगार। फिर जहाँ पहले बेगार लेने का अधिकार केवल राजा का ही था वहाँ अब धार्मिक ब्राह्मणों और उनके वंशजों को भी यह अधिकार प्राप्त हो गया, क्योंकि इस काल में हम देखते हैं कि जो गाँव उन्हें दान में दे दिये जाते थे, उन गाँवों को राजा के लिए बेगार नहीं करना पड़ता था। साथ ही आम सब और अधिक कामों के लिए बेगार लिया जाने लगा। कौटिल्य ने बेगार के रूप में लिये जानेवाले तरह-तरह के कामों का हवाला दिया है जैसे कि जोतना, नापना, विवाह के काम की देख-रेख करना आदि। लेकिन उसने कहीं खेती बाड़ी या विशुद्ध रूप से खेती बाड़ी से सम्बन्धित किसी काम का उल्लेख नहीं किया है। कृषि के लिए बेगार का स्पष्ट संकेत वात्स्यायन के कामसूत्र में मिलता है। उसके अनुसार इस श्रम का प्रयोग राजा के लिए नहीं बल्कि ग्राम प्रधान के लिए किया जाता था। 'कामसूत्र' के सम्बन्धित अंश से जान पड़ता है कि गुप्त काल और गुप्तोत्तर काल में ग्राम प्रधान अपनी सुख सुविधा के लिए ही बेगार लिया करता था। इसके अनुसार बिना कोई पारिश्रमिक दिये कृषक स्त्रियों से तरह-तरह के काम लिये जाते थे—जैसे उन्हें गाँव के प्रधान के धान्यागार में अन्न रखना पड़ता था, उसके घर में सामान लाना और जरूरत पड़ने पर वहाँ से ले जाना पड़ता था, उसके घर की सफाई और सजावट करनी पड़ती थी, उसके खेतों में काम करना पड़ता और रुई, ऊन, पटुए या सन से उसके कपड़े के लिए सूत कातना पड़ता था।[2] वात्स्यायन की कृति में जो भौगोलिक वर्णन किया गया है[3] और जिन पदार्थों का उल्लेख हुआ है उनका सम्बन्ध मध्य और पश्चिमी भारत से जान पड़ता है। इसलिए ऐसा मानना अनुचित नहीं होगा कि ये बाधित शारीरिक सेवाएँ ग्राम प्रधान ही लिया करते थे, जो उन क्षेत्रों के गाँवों में राज्य-सत्ता के प्रतिनिधि रूप थे।[4] इस प्रकार श्रमिकों को जो काम करने पड़ते थे उनमें अब ग्राम प्रधानों

१ ए० इ० २८ नं० १० पंक्ति २३।

२ ५ ४ ५।

३ एच० सी० चकलादार के अनुसार वात्स्यायन दक्षिण पश्चिमी भारत का रहनेवाला था।

४ विष्णुषेण द्वारा एक वणिग्ग्राम को ५९२ ई० में दिये गये अधिकारपत्र (एपिग्राफिया इंडिका ३० नं० ३० १) में कहा गया है कि वर्षा ऋतु के आरम्भ में बीज खरीदने के लिए अपने इलाके से बाजारों में आये

के खेतों में श्रम करना भी शामिल हो गया था। हमारे विचार से यह एक महत्वपूर्ण सामन्तवादी प्रथा के सूत्रपात का द्योतक है। स्वाभाविक है कि ग्रहीताओं को श्रम सेवा के अधिकार के साथ दान किये गांवों में इसका बहुत व्यापक प्रचार हुआ होगा। वे इस प्रथा का अधिक से अधिक उपयोग करते होंगे—विशेषकर *परती जमीन को आबाद करने के लिए।* कारण, हम देख चुके हैं कि उन्हें दान में मिली जमीन पर खुद खेती करने या दूसरों से करवाने का अधिकार प्राप्त था। लेकिन किसानों की स्थिति तो इससे शायद बिगड़ी ही होगी।

एक ओर तो ग्रहीताओं और क्षेत्रस्वामियों के अधीनस्थ किसानों की स्थिति दासवत हो गई और दूसरी ओर तरह-तरह के नये-नये कर लगा दिये जाने के कारण स्वतन्त्र किसानों की स्थिति भी काफी बिगड़ गई। उन पर लगाये गये दन करों की तुलना यूरोप के सामन्तवादी महसूलों से की जा सकती है। ऐसा प्रतीत होता है जब राजकीय सेना और अधिकारी किसी गांव में पड़ाव डालते थे या वहां से गुजरते थे तब वे अपने खर्च के लिए उस गांव से जबरदस्ती पैसा या रसद वगैरह वसूल किया करते थे।[1] इस महसूल की तुलना हम कौटिल्य के अर्थशास्त्र के सेनाभक्त से कर सकते हैं।[2] इसके अतिरिक्त एक के बाद एक गांव को उनके परिवहन के लिए पशुओं की भी व्यवस्था करनी पड़ती थी।[3] उन्हें और पर निकले राज्याधिकारियों को फूल और दूध भी भेंट करना पड़ता था।[4] ये बाधित शुल्क सेना और राज्य की जरूरतें पूरी करने के लिए वसूल किए जाते थे। इस प्रकार इन शुल्कों से जो-कुछ प्राप्त होता था वह *राज्य कोष में नहीं भेजा जाता था बल्कि वहीं का वहीं राजकीय सेना और* अधिकारियों के काम आ जाता था। यह प्रथा एक ओर मध्यवर्ती वर्ग खड़ा करने में सहायक हुई और इस तरह इसका स्वतन्त्र किसानों की स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

हुए किसानों को स्वामी लोग अपने यहां रोक न रखें। इससे यह ध्वनि निकलती है कि स्वामी लोग किसानों को अपने यहां बेगार करने के लिए चाहे जहां कहीं और जब कभी रोक रखते थे। वे इनसे शायद अपने खेतों में काम करवाते थे।

१ "अमटच्छात्र प्रावेश्य" का० इ० इ० ३, पृष्ठ ९८ पा० टि० २।
२ अर्थशास्त्र, २ १५।
३ अपारम्पर गोबलिवर्द, ए० इ० २७, न० १६ पंक्ति २९।
४ वही।

ऊपर जिन राजकीय सचिवों और अधिकारियों का उल्लेख हुआ है, वे किसी एक स्थान पर जमकर नहीं रहते थे और उनके पद वंशानुगत नहीं हुआ करते थे। इसलिए इन राजकीय प्रतिनिधियों के प्रत्यक्ष अधिकार क्षेत्र में तो बेगार और बाधित शुल्कों का बोझ लोगों के लिए उतना भारी नहीं होता होगा किन्तु ग्रहीता लोग इस बोझ को असह्य बना सकते थे क्योंकि उन्हें तो बराबर उसी गाँव में रहना था और उसके साधनों से पुश्त दर पुश्त अधिक से अधिक लाभ उठाना था। श्रम के रूप में की जाने वाली यह सेवा हमें यूरोप की उस सामन्तवादी प्रथा की याद दिलाती है जिसके अनुसार रैयत को दो तरह के दायित्व निभाने पड़ते थे एक तो कर देना और दूसरे, जिस जमीन पर उसके प्रभु का खेती होती थी उस जमीन पर काम करना।[१] गुप्त-काल और गुप्तोत्तर काल में अनुदत्त गाँवों के किसानों के ग्रहीताओं के प्रति ये दोहरे दायित्व सिर्फ मध्य भारत और पश्चिमी भारत में निभाने पड़ते थे और यहाँ यह प्रथा यूरोप से किसी भी बात में भिन्न नहीं थी।

ग्रहीताओं को न्याय और प्रशासन सम्बन्धी जो अधिकार प्राप्त थे उनके द्वारा वे अधीनस्थ गाँवों के निवासियों पर अपना आर्थिक आधिपत्य आसानी से बढ़ा सकते थे। इस प्रकार कुछ बातों में इन ग्रहीताओं की तुलना यूरोप के सामन्तवादी जागीरदारों से की जा सकती है। लेकिन दूसरी बातों में स्थिति भिन्न थी। जिन लोगों से बेगार लिया जाता था उन्हें ग्रहीताओं के खेतों में शायद उतना काम नहीं करना पड़ता था जितना कि मध्यकालीन यूरोप की जागीरों में किसानों को करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त ग्रहीता के अधीन इलाका भी अपेक्षाकृत बहुत छोटा होता था क्योंकि प्रारम्भ में ब्राह्मणों को दानस्वरूप एक बार में एक से अधिक गाँव देने के उदाहरण शायद ही कहीं मिलते हैं।[२] फलतः उनके खेतों में काम करने का मौका कम आता था और उसकी सम्भावना बहुत सीमित थी।

किसानों की स्थिति बिगड़ने का मुख्य कारण यह था कि जब कोई इलाका एक भोक्ता के हाथ से दूसरे भोक्ता के हाथ में जाता था तो साथ ही उस इलाके के किसानों पर भी उस नये भोक्ता का आधिपत्य हो जाता था।

---

१ मार्क ब्लाक, फ्यूडेल सासाइटी, पृष्ठ १७३।

२ किन्तु ५३३ ई० के एक अनुदान में एक राजपुरोहित राजा ने मन्दिर के लिए एक साथ ८ गाँव दान किये (का० इ० इ० ३, नं० ३१, पंक्ति ७)।

धीरे धीरे यह बंधुआ प्रथा किसानों पर भी लागू हो गई। बनारस में जमीन के नए स्वामी को किसानों के सौंप दिये जाने के प्रमाण मिले हैं। बीजापुर जिले में प्राप्त दानपत्रों में एक पूर्ववर्ती चालुक्य राजा के छठी शताब्दी के अनुदानपत्र में[1] खेत निवर्तन भूमि दान की गई है और उस जमीन को सारी उपज, वाटिका, आवास और निवेश भी ग्रहीता को दे दिया गया है।[2] स्पष्ट ही यहाँ निवेश शब्द का मतलब कुटीर है जिसमें किसान लोग रहते थे। सतारा जिले में प्राप्त इसी शताब्दी के एक अन्य अनुदानपत्र में इस बात की पुष्टि होती है।[3] इसमें कहा गया है कि चार कुटीरों के साथ साथ छः हल जमीन (अनुनिवर्तनसहिता) प्रहार के रूप में नारायण देवता को मंदिर के निमित्त दान कर दी गई और वह कर मुक्त भी कर दी गई।[4] इन सभी अनुदानपत्रों में निवेश या निवसन शब्द का प्रयोग मात्र गृह या गृह-स्थान के रूप में ही नहीं हुआ है। दरअसल इसका प्रयोग ऐसे आवास के रूप में किया गया है जहाँ किसान लोग रहते हों और हम आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में आम लोगों की बोली में इसका प्रयोग इसी अर्थ में होते देखते हैं। भूमि के साथ किसानों के भी हस्तान्तरित कर दिये जाने की प्रथा दक्षिण भारत से शुरू होकर शायद मध्य भारत में भी फैल गई। पाँचवीं शताब्दी के एक वाकाटक अनुदानपत्र में चार कर्षक किसानों के दान कर दिये जाने का उल्लेख है।[5] इससे यही अर्थ निकलता है कि चार घरों में रहनेवाले किसान ग्रहीता को सौंप दिये गये।

अनुदत्त गाँव के सभी किसान ग्रहीता को सौंप देने की प्रथा उड़ीसा और मध्य भारत के आस पास के क्षेत्रों में आरम्भ हो गई थी। कोरापुट जिले में

---

१ ए० इ०, २८, ५९।

२ वही न० १०।

३ वही २९ ६२ ३।

४ वही न० १० पंक्तियाँ १० १७। यहाँ हल शब्द शायद उतनी जमीन का संकेत देता है जितनी एक जोड़ा बैल रखनेवाला एक किसान जोत सकता है। इस दृष्टि से एक हल जमीन १० १२ एकड़ होगी। यह बात ६ हल जमीन के साथ चार घरों के हस्तान्तरण से भी संगत लगती है क्योंकि चार किसान परिवार ६० ७० एकड़ जमीन की देखभाल मजे में कर सकते हैं।

५ वा० वी० मीराशि, वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख न० ८, पंक्तियाँ १४ १६।

एक अभिलेख से जिसका काल छठी [illegible] पर प्रकाश पडता है ।[1] उसम ब्राह्मणों को [illegible] को, जो वहा की जमीन जोतत हैं और [illegible] दिया गया है यह सलाह दी गई है कि [illegible] यही हुआ कि किसानो को ग्रहीता के नाम [illegible] सलाह दी गई है, यद्यपि यह बात [illegible] वहा के निवासिया के साथ साथ हस्तान्तरि[illegible] के पूर्वी हिस्स के अनुदानपत्रा म दान [illegible] ग्रहीताओ को कर देने, उनके आदेशा का [illegible] कहा गया है ।[2] भोक्ताओ को [illegible] अधिकारो को देखते हुए 'सुख स', यह [illegible] है लेकिन इस पूरे निर्देश का मतलब [illegible] मे पूववत बने रहन का कहा गया । किन्तु [illegible] होती थी और इसलिए उन क्षेत्रा म [illegible] करते रहने के लिए कुछ [illegible] ।

मत्रका और गुजरात के चालुक्या क [illegible] कि जमीन के साथ किसान भी हस्तान्तरि[illegible] । [illegible] पहला उदाहरण हम छठी शताब्दी क [illegible] । वलभी राज द्वितीय धरसेन क इसी काल के एक [illegible] ऐसे भूमिखण्डो के दान किय जाने का [illegible] में थे, इन पाच लोगा म स एक को [illegible] कहा गया

---

१ एइ० इ०, २८ १२ ।

२ ए० इ० २८, न० ३, पक्तियाँ ६ ७ [illegible] (दष) [illegible] रम्भ सुनिव तविश्वस्त वस्तव्य (म्) । डा० डी० सरकार (वही ५) के अनुसार इसम कृषको से उनके नाम [illegible] की गई जमीन म खेती करन और हर प्रकार के दुर्व्यवहार की आशका से मुक्त होकर रहने को कहा गया है । लेकिन यह अर्थ समीचान प्रतीत नहीं होता ।

३ का० इ० इ० ३ न० ४० पक्तियाँ ११ १३, न० ४१, पक्तियाँ १३ १५ ।

है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त भूमि खण्डों के स्वामियों ने भूमि खण्डों की अदला बदली के साथ साथ उनमें खेती करनेवालों की भी अदला बदली कर ली अन्यथा उनके नामों का उल्लेख करने की कोई जरूरत ही नहीं थी। फिर, वलभी राज तृतीय धरसेन के ६२३ ४ ई० के एक दानपत्र में विभिन्न क्षेत्रफलों के चार आयताकार भूमि खण्ड दान किये गये हैं। ये भूमि खंड चार अलग अलग किसानों की जोत में थे और इन किसानों या कुटुम्बियों के नाम भी दिये गये है। ये भूमि खंड भली भांति सीमाङ्कित थे और दूसरे किसानों द्वारा जोते जाने वाले खेतों के बीच में पड़ते थे।[2] दान की गई भूमि से सम्बद्ध किसान भी ग्रहीता को सौंप दिये जाते थे यह बात गुजरात के एक प्रारम्भिक गुर्जर राजा तृतीय जयभट (७०६ ई०) के नवसारि अभिलेख पत्रों से भी सिद्ध होती है। उसने एक ब्राह्मण को घर तथा चल और अचल सम्पत्ति (गृहस्थावर चलक) के साथ साथ ६४ निवर्तन भूमि दान दी।[3] उपयुक्त तीनों उदाहरणों में गांव नहीं सिर्फ खेत भी दान किये गये। जिस अनुदान में हमें ग्रामवासियों के हस्तांतरण का सबसे पहला स्पष्ट उदाहरण मिलता है वह है महाराज समुद्रसेन नामक एक सामन्त राजा का अनुदान जिसे मानवी शताब्दी का माना जा सकता है।[4] इस अनुदानपत्र के अनुसार कांगड़ा क्षेत्र में एक भोक्ता को निवासियों के साथ साथ (सप्रतिवासिजनसमेत) एक गांव दान किया गया है।[5] इस प्रकार कांगड़ा और गुजरात के कुछ हिस्सों में छठी और सातवीं शताब्दियों में कृषि दासत्व की प्रथा चल चुकी थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि जमीन के साथ साथ कम्मियों की तरह कृषकों के हस्तांतरित कर दिये जाने के प्रमाण मुख्य रूप से उन भूमि खण्डों के सम्बन्ध में आते हैं जो सगठित गांवों के हिस्से नहीं थे और उन किसानों की जोत में थे जो गांवों में न रहकर उन्हीं भूमि खण्डों पर छिटपुट बने घरों में रहते थे। इसमें होता यह था कि किसान जो भी जमीन जोतता था सब उसके घर के

---

१ का० इ० इ० नं० ३८ पंक्तियाँ २१ ८।

२ वही।

३ वही ४ नं० २१ पंक्तियाँ १३ २८।

४ वही २८७।

५ वही नं० ८० पंक्ति १०।

इर्द-गिर्द ही हुआ करती थी। जब वह जमीन दान की जाती थी तो इस पर काम करनेवाले किसानों को उसमें कायम रखा जाता था, अन्यथा ग्रहीता को बड़ी कठिनाई होती। इनमें से कुछ किसान तो 'नायक' हलवाहे होते थे जो दाता के लाभ के लिए जमीन जोतते थे। इसलिए ऐसा माना जा सकता है कि कृषिदास दो तरह के होते होंगे—एक तो वे जो हलवाहों की तरह काम करते थे और दूसरे वे जो गांवों में रहनेवाले रैयत काश्तकार थे। ये रैयत काश्तकार अपने स्वामी को लगान के तौर पर उपज का एक हिस्सा दिया करते थे और शासनपत्र में निर्धारित उनकी अन्य सेवाएँ भी किया करते थे। भारत के सन्दर्भ में भूमि से बंधे हलवाहों को पूर्ण अर्थों में कृषिदास मानना चाहिए और गांवों के साथ विशेष रूप से हस्तान्तरित काश्तकारों को अर्ध कृषिदास माना जा सकता है। काश्तकारों को ग्रहीताओं के निजी खेतों पर काम नहीं करना पड़ता था, यद्यपि उस समय की कठिन आर्थिक परिस्थितियों में वे जीवन निर्वाह का साधन ढूँढ़ने के लिए गांव छोड़कर और कहीं जा भी नहीं सकते थे।

पुरालेखीय प्रमाणों से प्रकट होता है कि कृषिदासत्व की प्रथा पहले तो उपान्त क्षेत्रों में प्रारम्भ हुई और बाद में धीरे धीरे देश के केन्द्रस्थ हिस्से और उत्तर भारत में भी फैल गई। इसका सूत्रपात पर्वतीय या पिछड़े इलाकों में हुआ, जहाँ स्थानीय आर्थिक जीवन को चलाने के लिए पर्याप्त किसान नहीं थे, किन्तु इससे ग्रहीताओं को किसानों पर जो विस्तृत अधिकार प्राप्त हो जाते थे उनके कारण यह प्रथा विकसित क्षेत्रों में भी फैल गई। इसकी शुरुआत धर्मादायों से हुई और बाद में सभी किसान इसकी लपेट में आ गये। आरम्भ में यह प्रथा भूमि खण्डों के दान पर लागू हुई और फिर धीरे धीरे गांवों के अनुदानों पर भी लागू हो गई। आठवीं शताब्दी के मध्य तक इस प्रथा का काफी प्रचलन हो गया। एक चीनी यात्री के ७२२ में लिखे विवरण के निम्नलिखित अंश इस बात की साक्षी भरते हैं।

> पंचभारत में यह नियम है कि राजा रानी और नरेशों से लेकर सरदार और उनकी पत्नियाँ तक सभी अपनी अपनी क्षमता और सामर्थ्य के अनुसार अलग अलग विहार बनवाते हैं। हरएक अपना अलग मन्दिर बनवाता है किन्तु मिलजुलकर कोई नहीं बनवाता। उनका कहना है कि जब हर व्यक्ति

१ जान युन हुआ, 'हुयी चाउज रेकड ऑन कश्मीर' कश्मीर रिसर्च बाइ-एनुअल नं० २ (१९६२), पृष्ठ ११९-२०।

में धार्मिक प्रवृत्तियाँ होती हैं तो फिर मिलजुलकर इसके लिए प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता है।

जब कभी कोई विहार बनाया जाता है, गाँव और उसके निवासी तत्काल धर्म संघ और बुद्ध की सेवा करने के लिए समर्पित कर दिये जाते हैं। ऐसा नहीं होता कि सिर्फ विहार बनवा दिया जाये और कोई गाँव और उसके निवासी उसे दान में न दिये जायें। बाहरी देश इसे एक आदर्श मानकर इसका अनुकरण करते हैं। राजा, राजमहिषी और अन्य रानियों के निजी स्वामित्व में अलग अलग गाँव और ग्रामवासी लोग होते हैं। नरेशों और सरदारों के निजी स्वामित्व में भी गाँव और ग्रामनिवासी होते हैं। इसलिए ये दान स्वतन्त्र रूप से दिये जाते हैं और इनके लिए राजा की अनुमति नहीं ली जाती। मन्दिर निर्माण के सम्बन्ध में भी यही स्थिति थी। जब कभी मन्दिर बनवाने की आवश्यकता होती है वे बनवा लेते हैं और इसके लिए राजा की अनुमति नहीं लेते। राजा इसमें कोई बाधा डालने का साहस नहीं करता। उसे भय रहता है कि ऐसा करके वह पाप का भागी न बन जाय।

जहाँतक राजपुरुषेतर समृद्ध लोगों का सम्बन्ध है, यद्यपि उनके निजी स्वामित्व में कोई गाँव नहीं होता, फिर भी वे मन्दिर बनवाते और खुद ही उसका सब सामान की अलग [illegible] करते हैं। जब भी उन्हें कोई बढ़िया वस्तु उपलब्ध होती है वे उसे धर्म संघ और भगवान बुद्ध को समर्पित कर देते हैं और चूँकि पंचभारत में किसी भी मनुष्य का वध नहीं हो सकता, इसलिए यहाँ स्त्रियाँ भी गुलाम नहीं हैं। इच्छा और आवश्यकता होने पर गाँव और उसके निवासी दान किये जा सकते हैं।

इस विवरण से प्रकट होता है कि राजाओं, रानियों, नरेशों और सरदारों द्वारा मन्दिरों और विहारों का [illegible] सहित गाँव दान करने की प्रथा उतनी ही प्रचलित थी जितना कि मन्दिर और विहार बनवाना था। इस अनुमान का आधार यह था कि राजाओं और रानियों के साथ साथ नरेशों और सरदारों के भी अधिकार में गाँव और ग्रामवासी लोग हुआ करते थे जिन्हें वे दान में दे सकते थे। नरेशों और छोटे छोटे सरदारों का [illegible] के लिए [illegible] अनुमान लिया करते थे [illegible] स्पष्ट है [illegible] कि वे [illegible] और उन पर [illegible] है। [illegible] है कि इस जमीन पर

रहनेवाले लोगों के लिए जबतक वे दाता के अधीन रहें तबतक उसकी सेवा करना और जब ग्रहीता को हस्तान्तरित कर दिए जायें तो उसकी सेवा करना अनिवार्य था।

यह चीनी विवरण दास प्रथा के विलय और कृषिदास प्रथा के उद्भव के बीच महत्वपूर्ण कड़ी का काम करता है। बौद्ध विहारों को दिये अनुदानों की चर्चा करते हुए इसमें कहा गया है कि पश्चिमी भारत में मनुष्य का बेचा नहीं जाता और यहाँ दास स्त्रियाँ नहीं हैं। यह कथन हमें मेगास्थनीज की इस उक्ति का स्मरण दिलाता है कि भारत में कोई भी दास नहीं है किन्तु प्रकारान्तर से इससे यह अर्थ भी निकलता है कि सातवीं सदी में कुछ दास पुरुष थे। लेकिन आम तौर पर दान नहीं हुआ करते थे और इसमें कोई कठिनाई भी नहीं होती थी क्योंकि 'इच्छा और आवश्यकता होने पर गाँव और उनके निवासी दान किये जा सकते थे।' चूंकि गाँव के साथ साथ वहां के निवासी भी खेती-बाड़ी का काम करने के लिए विहारों को सौंप दिये जाते थे, इसलिए ग्रहीताओं को श्रमिकों की कोई कमी नहीं होती थी।

ऐसे संकेत मिलते हैं कि गुप्त काल में उत्पादन-कार्य में लगाये जानेवाले दासों की संख्या कम होती गई और शूद्र लोग दासों की तरह काम करने के बंधन से उत्तरोत्तर छुटकारा पाते गये। दासों को मुक्त करने से सम्बन्धित कौटिल्य के नियम आम तौर पर उन दासों पर लागू होते हैं जो आर्य माता या पिता से उत्पन्न हैं या स्वयं ही आर्य हैं।[1] लेकिन याज्ञवल्क्य ने तो एक क्रांतिकारी सिद्धान्त का ही सूत्रपात कर दिया। उसकी व्यवस्था है कि किसी भी व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध दास नहीं बनाया जा सकता।[2] बाद के एक भाष्य के अनुसार इसका मतलब यह है कि अपनी इच्छा के विरुद्ध दास्य वृत्ति में लगाया गया शूद्र क्षत्रिय अथवा वैश्य राजा द्वारा मुक्त कर दिया जायेगा।[3] इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने मनु के इस आदेश को कि शूद्रों को उनकी इच्छा के विरुद्ध दास बनाया जा सकता है, बिलकुल उलट दिया है।[4] फिर नारद और बृहस्पति ने उन अधम लोगों की वृत्ति की तीव्र भर्त्सना की है जो स्वतन्त्र

---

१ अर्थशास्त्र ३ १३।

२ २ १८२।

३ कोलब्रुक मिसेलेनियस एसेज २, २३।

४ किन्तु नारद, श्लोक ७२२ में मनु की व्यवस्था को दुहराता है।

होकर भी सदा गुलाम बने रहते हैं।[1] इसके अतिरिक्त हम भारत के इतिहास में नारद को पहली बार दास मुक्ति के विधि विधानों को विशद रूप में निर्धारित करते देखते हैं।[2] कात्यायन स्मृति में एक स्थल पर दासों के नेताओं का वर्णन किया गया है।[3] इससे प्रकट होता है कि दासों का एक प्रकार का संगठन भी होता था। इन तमाम कारणों से दास प्रथा की जड़ शायद हिल गई होगी।

इस नई स्थिति के पीछे जो एक महत्त्वपूर्ण कारण काम कर रहा था वह यह था कि विभाजन और अनुदानों के परिणामस्वरूप भूमि टुकड़ों में बँटती चली गई। उत्तराधिकार के पूर्ववर्ती नियमों में भू-सम्पत्ति के विभाजन का कोई उल्लेख नहीं है। मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियों का भी यही हाल है। इसकी चर्चा हम पहले पहल नारद और बृहस्पति की स्मृतियों में देखते हैं। इससे तथा शिलालेखों से जाना जा सकता है कि गुप्त काल के मध्य अथवा अंतिम चरण में [illegible] संयुक्त परिवार [illegible] अपार विस्तृत भूमि-खण्ड [illegible] छोटी इकाइयों में विभाजित होते चले गए थे। एक बार जब विभाजन का सिद्धान्त स्वीकृत हो गया तो उत्तर भारत में कृषि योग्य भूमि के विखण्डन में तेजी आ जाना अनिवार्य हो गया क्योंकि घाटियों या नदियों के किनारों की जमीन काफी उपजाऊ थी और आरम्भ में ज्यों-ज्यों यह क्षेत्र आबाद होता गया त्यों-त्यों वहाँ की आबादी उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। भूमि पर दबाव कितना बढ़ गया था यह बात [illegible] के एक पुरालेख से सिद्ध हो जाती है। इस पुरालेख के अनुसार बंगाल में मात्र ढाई कुल्यवाप जमीन चार अलग अलग जगहों में खरीदनी पड़ी थी।[6] और यह जमीन दान में देने के लिए खरीदी गई थी जिससे

---

१ नारद स्मृति ५.३७; बृहस्पति स्मृति १५.२०; मिलाइए काणे हि० ध० शा० २. १८२।

२ ५.४२-४३। मिलाइए कात्यायन के दास मुक्ति सम्बन्धी नियमों (श्लोक ७५) से। लेकिन नारद-स्मृति में यह भी कहा गया है कि कुछ विशेष वर्गों के दासों को उनके स्वामियों की इच्छा के बिना मुक्त नहीं किया जा सकता। (श्लोक २९)

३ कात्या., श्लोक ३५०।

४ १३, ३८।

५ २६ १० २८ ४३, ५३ और ६४।

६ ए० इ०, २० नं० ५, पंक्तियाँ ५ ११।

विखण्डन की प्रक्रिया म और भी तेजी आई।

सामान्य लोगो द्वारा दान देन पर कुछ प्रतिबन्ध भी थे। बगाल क अभिलेखा से प्रकट होता है कि राजा के स्थानीय प्रतिनिधियो और जिला परिषद की सहमति के बिना दान दने के उद्देश्य से जमीन नही खरीदी जा सकती थी। महाराष्ट्र के अभिलेखा से भी मालूम होता है कि राज्य की सहमति के बिना सामान्य जन भूमिदान नही कर सकत थ। किन्तु दानो ही स्थाना पर सहमति देने स ग्राम तौर पर इनकार नही किया जाता था, और परिणामत न केवल राजा और उसके सामन्त बल्कि सामान्य जन भी गाव और भूमि खण्ड दान किया करते थ।

इस काल म हम न कही पाँच पाच सौ करीम क्षेत्रफल क खेतो की चचा सुनते हैं और न मौर्य काल क जसे राजकीय कृषि क्षेत्रा की। पुरालेखा म कहीं एक कुल्यवाप क्षेत्रफल क खेत का उल्लेख मिलता है ता कही चार ढाई या डेढ द्रोणवाप क्षेत्रफल के खेता का।[1] इन सबमे किसी बडे कृषि क्षेत्र का सकेत नही मिलता। पार्जीटर क अनुसार कुल्यवाप एकड से कुछ बडा होता था।[2] लेकिन अगर विचाराधीन काल का कुल्यवाप असम के कछार जिल मे प्रचलित कुल्यवाप क ही बराबर था[3] तो उस कुल्यवाप म तरह एकड भूमि आती हागी। चूँकि एक कुल्य आठ द्रोण के बराबर है इसलिए इसके अनुसार एक द्रोणवाप दो एकड स भी कम हा होगा। इसी काल मे गुजरात स्थित वलभी क मत्रक राजाग्रा द्वारा दिय गय भूमि अनुदानो पर विचार करने से ज्ञात होता है कि जमीन क य टुकडे औसतन दो तीन एकड से बड नही हात थे।[4] खता के छोट हो जाने से सम्भवत उन पर काम करन के लिए बहुत सारे दास और श्रमिक रखना आर्थिक दृष्टि म लाभकर नही रह गया। निदान इन खेता पर काम करन के लिए जहा दो दा, चार चार लोग रख लिय गय हाग वहा दूसरा का अपना भाग्य कही और आजमाने के लिए छुट्टी द दी गई होगी।

---

१ ए० इ० २० न० ५, पक्ति ५ ११।

२ इ० ए०, ३६, २१५ १६।

३ हिस्ट्री आफ बगाल १ ६५२। एस० के० मती का विचार है कि एक कुल्यवाप मे १४४ एकड से लेकर १७६ एकड तक जमीन होती थी। ज० इ० सो० हि० ओ०, १, ६८ १०७।

४ के० जे० वीरजी, एनिएट हिस्ट्री ऑफ सौराष्ट्र, पष्ठ २४६ ४७, २६७।

यह परम्परागत विचार कि वैश्य लोग कृषक हैं मौर्योत्तर-काल और गुप्त-काल के साहित्य में भी बार-बार देखने को मिलता है।[1] 'अमरकोश' में कृषकों के पर्यायवाची शब्द वैश्य वर्ग में रखे गये हैं।[2] लेकिन शूद्र लोग भी बड़ी संख्या में कृषक बनते जा रहे थे। कई स्मृतियों से ज्ञात होता है कि अर्धबटाई पर खेती करने के लिए शूद्रों को जमीन दी जाती थी।[3] इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि शूद्र बटाईदारों को पट्टे पर जमीन देने का प्रचलन बढ़ता जा रहा था। २५०-३५० ईस्वी के आसपास के एक पल्लव भूमि-दान-पत्र से ज्ञात होता है कि जब एक भूमि-खण्ड ब्राह्मणों को दान कर दिया गया तब भी चार आर्धिक (बटाईदार) पहले की ही तरह उस पर बने रहे।[4] सम्भव है ये लोग शूद्र रहे हों।

साक्षी देने के लिए अनुपयुक्त व्यक्तियों की सूची में नारद ने कीनाश (किसान) को भी शामिल किया है।[5] सातवीं शताब्दी का एक भाष्यकार कीनाश[6] शब्द का अर्थ शूद्र बताता है।[7] इससे प्रकट होता है कि किसानों को शूद्र माना जाता था। बृहस्पति ने खेतों की सीमा से सम्बन्धित झगड़ों में अगुआ की तरह काम करनेवाले शूद्रों को बहुत कठोर शारीरिक दण्ड देने का विधान किया है।[8] इससे भी यह निष्कर्ष निकलता है कि शूद्रों के पास खेत थे। और फिर अंत में ह्वेनसांग ने भी शूद्रों को कृषक कहा है।[9] इस बात की पुष्टि दसवीं शताब्दी से पूर्व संकलित नरसिंह पुराण से भी होती है।[10] इस प्रकार शूद्रों के काश्तकारी का धंधा अपनाने की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति गुप्त काल में प्रारम्भ हुई और सातवीं शताब्दी के मध्य तक पूरी तरह सम्पन्न हो गई।

---

१ शान्तिपर्व ६० २४ २६ ६२ २।
२ २ ९ ६।
३ मनुस्मृति ४ २५३ विष्णु पुराण ५७ १६ याज्ञवल्क्य, १ १६६।
४ ए० इ० १ न० १ पंक्ति ३९।
५ १ १८१।
६ हि० क० इ० पी० २ २९९।
७ नारद स्मृति (१ १८१) पर असहाय का भाष्य।
८ १९ ६।
९ वाटर्स, ऑन युआन च्वांग्स ट्रैवेल्स इन इण्डिया १ १६८।
१० ५८ १० १५।

यह मत कि कृषक-वर्ग में अधिकांशतः शूद्र लोग ही थे,[1] गुप्त काल और गुप्तोत्तर काल पर अधिक घटता है और उससे पहले के काल पर कम। इस तरह शूद्रों का दासों और श्रमिकों की स्थिति से निकल कर कृषकों की स्थिति में आना सामन्तवाद के उदय की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण कारक तत्व माना जाना चाहिए।

जान पड़ता है शूद्र काश्तकारों को ब्राह्मणों को भूमि-दान दिया जाना अच्छा नहीं लगता था। गया जिले में प्राप्त मध्य छठी शताब्दी के एक दानपत्र में कहा गया है कि इसे शूद्रों से बचाना चाहिए। उसमें प्रयुक्त 'शूद्रकरेदरगुण' शब्द से ऐसा ही प्रकट होता है।[2] यहां रूढ़ि के अनुसार दाता अपने वंशजों तथा अन्य लोगों को भी यह निर्देश तो देता है कि वे ग्रहीता द्वारा दान में प्राप्त सम्पत्ति के उपभोग में कोई बाधा नहीं पहुंचायें साथ ही वह उसे शूद्रों से भी बचाने की आवश्यकता बताता है। यहां दान में दी गई सम्पत्ति को ऊपर के वर्ग की ओर से तो खतरा बताया ही गया है, निचले वर्ग की ओर से भी उसे खतरा बनाया गया है। किन्तु बाद के किसी भी दानपत्र में उक्त शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। इससे लगता है कि किसानों ने बीच धार्मिक दानों के आध्यात्मिक महत्त्व का धीरे धीरे प्रचार किया गया जिसमें ऐसे दानों के प्रति उनका विरोध बहुत कुछ कम हो गया।

मध्यकालीन यूरोप में सामन्तवाद स्वतन्त्र आत्मनिर्भर आर्थिक इकाइयों के उदय के कारण पनपा। भूमि अनुदानों और कुछ अन्य कारणों से भारत में भी ऐसी इकाइयों का उदय हुआ। ग्रहीताओं को तरह-तरह के आर्थिक अधिकार होते थे जिनके परिणामस्वरूप दान किये गये क्षेत्रों और केन्द्रीय सत्ता के बीच के तमाम आर्थिक बंधन खण्डित हो गये। अपनी अर्थ-व्यवस्था को कायम रखने और विकसित करने के लिए वे केन्द्रीय सरकार के अमलों की अपेक्षा स्थानीय कारीगरों और काश्तकारों पर अधिक निर्भर रहते थे।

---

१ कैं० हि० इ० १ २६८।

२ ज० ए० सो० बं०, यू० सि० ५ (१९०९) १६४। महाराज नन्दन के अमौना-ताम्रशासन (ए० इ०, १०, न० १०) का सम्पादन करते हुए टी० ब्लॉच ने कहा है कि इस शब्द समुच्चय का 'शूद्र केनोत्कीर्णम' पढ़ना चाहिए। लेकिन ऐसा मानने का कोई कारण नहीं दिखायी देता। स्पष्ट ही उसे "शूद्रकरेद्रगुण" ही पढ़ा जा सकता है, यद्यपि यह अशुद्ध सम्भृत है।

ग्रहीता लोग तमाम स्थानीय करों के हकदार थे, और इन करों से प्राप्त राशि का कुछ अंश वे अवश्य ही स्थानीय कार्यों में लगाते होंगे। किसानों को, जो खेत जोतते थे, उनसे बाँध कर रखने का मुख्य उद्देश्य यही था कि गाँव की आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था अक्षुण्ण रहे। दक्षिण बिहार में इस उद्देश्य को ध्यान में रख कर एक और भी सावधानी बरती जाती थी। समुद्र गुप्त के नाम से जाली तौर पर जारी किये गये दो ताम्रपत्रों में, जिन्हें सातवीं या आठवीं सदी का माना जा सकता है, अग्रहारिक से कहा गया है कि वह किसी दूसरे गाँव से ऐसे किसानों और कमकरों को दान में मिले गाँव में नहीं आने दे जो उस गाँव में कर अदा कर रहे हों।[1] अग्रहार में प्राप्त गाँव राजकीय करों और शुल्कों से मुक्त हुआ करते थे, इसलिए आस पास के गाँवों में रहनेवाले लोग स्वभावतः अपने गाँव छोड़ कर इन गाँवों में जा बसने के लिए बड़े उत्सुक रहते थे। लेकिन अगर उन्हें इस तरह अपने पुराने गाँव छोड़ कर आने दिया जाता, तो राज्य राजस्व से तो वंचित रह ही जाता, साथ ही जिन गाँवों को छोड़ कर वे अग्रहारों में बसते उन गाँवों की अर्थव्यवस्था भी अस्त व्यस्त हो जाती। अतएव गाँवों की आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था को कायम रखने में इस प्रकार का प्रतिबन्ध सहायक सिद्ध होता था।

और जो गाँव दान नहीं किये गये थे और इसलिए ऐसे किसी अग्रहारी के अधीन नहीं, बल्कि ग्राम प्रधान के अधीन थे, उनकी स्थिति भी इससे कुछ भिन्न नहीं थी। हम देख चुके हैं कि वात्स्यायन के कामसूत्र के अनुसार ग्राम प्रधान कृषक स्त्रियों को केवल अपने खेतों में काम करने के लिए ही नहीं बल्कि सूत कातने के लिए भी बाध्य कर सकता था जिससे उसे अपनी जरूरत के कपड़े बाहर से न खरीदने पड़ें।[2] इस प्रकार जो चीजें तैयार की जाती थीं उनमें से कुछ बेची भी जाती थीं, किन्तु उनकी बिक्री भी सम्बन्धित गाँव के निवासियों की मोटी मोटी जरूरतें पूरी करने के लिए ही होती थी।[3] मौर्य काल में जहाँ व्यापार और उद्योग का नियमन राज्य करता था, अब उनकी व्यवस्था केन्द्रीय नियन्त्रण से मुक्त स्थानीय आर्थिक इकाइयों के प्रधान करने लगे थे।

---

१ का० इ० इ०, ३, नं० ६०, पंक्तियाँ १०-१३।

२ ५.५.५।

३ वही।

ऐसी आत्म निर्भर आर्थिक इकाइयाँ बनती जा रही थी, इसका एक प्रमाण यह है कि गुप्त काल से आम चलन की मुद्राएँ बहुत कम संख्या में मिलती हैं। आम चलन की मुद्राओं की कमी से पता चलता है कि आन्तरिक व्यापार घट रहा था और स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्थानीय तौर पर सामान तैयार करने की आवश्यकता बढ रही थी।[1] इससे यह भी मालूम पड़ता है कि केन्द्र की सत्ता कमजोर होती जा रही थी और वह धीरे धीरे अपने कर्मचारियों को नकद वेतन न देकर जिन्स के रूप में वेतन देने अथवा राजस्व का कुछ हिस्सा उनको सौंप देने का तरीका अपना रहा था। भारतीय-बैक्ट्रियाई शासकों, और विशेषकर कुषाण राजाओं ने ताँबे के सिक्के प्रचुर मात्रा में जारी किये। पंजाब में स्पष्टतः इन सिक्कों का आम चलन था और यदा कदा तो ये बहुत पूर्व में, बिहार के बक्सर सब डिवीजन तक में मिलते हैं। किन्तु कुमार गुप्त के अलावा अन्य गुप्त सम्राटों ने ताँबे के बहुत कम सिक्के जारी किये। इस प्रकार फाहियान का यह कथन सत्य ही जान पड़ता है कि कौड़ियाँ विनिमय के आम साधन थी। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए भी कि ताँबा कीमती धातुओं की अपेक्षा अधिक क्षरणशील होता है, गुप्त काल में ताँबे के सिक्कों का अपेक्षाकृत अभाव होने से प्रकट होता है कि इस काल में मुद्रा पर आधारित अर्थव्यवस्था की जड़ें उखड़ती जा रही थी।

ईस्वी सन की प्रथम दो शताब्दियों में राजा महाराजा और सामान्य जन भी मंदिरों, ब्राह्मणों आदि को नकद दान दिया करते थे, किन्तु गुप्तोत्तर काल में वे अन्ततः भूमि अनुदान का सहारा लेने लगे थे। इससे भी इस बात का संकेत मिलता है कि इस काल में मुद्राओं के चलन में उत्तरोत्तर अधिकाधिक कमी आती जा रही थी। पूर्ववर्ती काल में सातवाहन राजाओं ने भूमि अनुदान बहुत कम दिये और कुषाण राजाओं ने तो ऐसा कोई अनुदान दिया ही नहीं। कुषाणों और सातवाहनों के राज्य में भी शिल्पियों और वणिकों के मंचों को धार्मिक कार्यों में लगाने के लिए नकद अनुदान दिये जाते थे। फिर, हर्षोत्तर काल का तो ऐसा कोई भी सिक्का नहीं मिलता जिसके विषय में निश्चयपूर्वक

---

१ ऐसा जान पड़ता है कि मध्य काल के प्रारम्भ में जो देश के बाहर उपनिवेश बसाने और विदेशी व्यापार के उपक्रम हुए व तटवर्ती क्षेत्रों के साहसी लोगों तक ही सीमित थे और उनसे आन्तरिक अर्थव्यवस्था में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा।

कहा जा सके कि यह अमुक राजवंश ने जारी किया था। इस बात मात्र वलभी के मैत्रक राजवंश का ही कुछ सिक्के जारी करने का श्रेय दिया गया है। लेकिन, ठीक से देखा परखा जाय तो उन्हें भी वलभी मुद्रा मानना शायद कठिन ही होगा, क्योंकि वे वास्तव में गुप्त-काल के हैं और गुप्तों की मुद्राओं से बहुत मिलती जुलती हैं।[1] अगर स्मृतियों में मुद्रा के चलन का उल्लेख मिलता है, भूमि दानपत्रों में भी हिरण्य के रूप में कर लगाने और वसूल करने की चर्चा है और कुछ अभिलेखों में भी निर्माण व्यय और कुछ चीजों की कीमतें सिक्कों में बताई गई हैं, किन्तु वास्तव में ऐसे सिक्के बहुत कम मिले हैं जिन्हें इस काल का माना जा सकता हो। दरअसल ६०० ईस्वी से लेकर ६०० ईस्वी तक के काल में मुद्रा के अभाव की ओर बहुत-से विद्वानों का ध्यान गया है।[2] साहित्यिक सूत्रों में सिक्कों के जो उल्लेख हुए हैं[3] उन्हें अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता क्योंकि इनमें से अधिकांश कृतियाँ दसवीं शताब्दी के बाद की हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि हर्षवर्धन के समय से सिक्कों का चलन आम तौर पर बहुत कम हो गया। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि व्यापार में बहुत कमी आ गयी और शहरी जीवन समाप्त होने लगा। ईरान में भी कुछ ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो गई थी और इस बात में भारत और ईरान में बहुत कुछ साम्य देखा जा सकता है।

गुप्त काल की आर्थिक स्थिति पर हाल ही में प्रकाशित एक कृति में दिखाया गया है कि रोम साम्राज्य के पतन और बैजन्तिया साम्राज्य के साथ फारसी साम्राज्य की प्रतिद्वंद्विता के कारण भारत का अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत कम हो गया और अब उसकी वह स्थिति नहीं रह गई जो पहली शताब्दी में थी, जब प्लीनी ने क्षोभ के साथ कहा था कि भारतीय सामान के पीछे रोम का पैसा बह कर विदेशों में जाता है।[4] इस व्यापार की दो सबसे महत्त्वपूर्ण सामग्री में से

---

१ डा० पी० एल० गुप्त ने अपना विचार बताते हुए मुझे ऐसा ही सूचित किया है।

२ सी० जे० ब्राउन द क्वाइन्स ऑफ इंडिया पृष्ठ ५०, मिलाइए पृष्ठ ५५ से।

३ एल० गोपाल ने ज० न्यु० सो० इ०, २५, भाग १ में लिखे अपने एक लेख में महत्त्वपूर्ण साहित्यिक सूत्रों का उल्लेख किया है।

४ एस० के० मैती, द इकनोमिक लाइफ ऑफ नॉर्दन इंडिया इन गुप्त पीरियड, पृष्ठ १०६।

एक थी फारसी सौदागरो के जरिये भारत से बाहर भेजा जाने वाला रेशमी कपडा और दूसरी थी मसाला।[1] बजंतिया साम्राज्य म रेशमी कपडे के व्यापार का स्थान इतना महत्त्वपूण था कि सारे देश मे उसकी कोमता का नियमन करने के लिए जस्टीनियन (५२७ ६५) ने ऐसा कानून बना दिया था कि एक पौंड रेशमी कपडे की कीमत सोने के आठ सिक्को से ज्यादा नही ली जाय, और जो कोई इस नियम का उल्लघन करेगा उसकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली जायगी।[2] फारसी व्यापारी उसके साम्राज्य म रेशमी वस्त्रो को मनमानी कीमतो पर बेचते थे, जिससे देश का बहुत सारा धन बह कर फारसियो के हाथो मे चला जाता था। इस रोकने के लिए उसने यूथोपियावालो के सामने यह प्रस्ताव रखा कि वे भारत से रेशमी वस्त्र खरीद कर रोमवालो के बीच बचें, क्योकि इससे उन्ह भी काफी लाभ होगा और रोमवाले भी अपना पैसा एक शत्रु देश के लोगो के हाथो म दने से बच जायेंगे।[3] लेकिन यूथोपियावालो को भारत से रेशमी वस्त्र खरीद पाना असम्भव जान पडा क्योकि फारसवाले पूव के बन्दरगाहो पर, जहा भारतीय जहाज पहले पहल आकर रुकते थे सारा माल खरीद लेते थे और इस तरह उन वस्तुओ की माग की पूर्ति पर पूरी तरह एकाधिकार स्थापित कर लेते थे।[4] इससे स्पष्ट है कि पहली शताब्दी म भारत जिस तरह मसालो से विदेशी द्रव्य अर्जित किया करता था उसी तरह छठी शताब्दी के पूर्वाध म वह रेशमी वस्त्रो से विदेशी धन प्राप्त करता था। प्रथम शताब्दी मे रोम साम्राज्य से जो सोना विदेशो को जाता था, उसे तो कानून बनाकर रोक दिया गया, किन्तु बजंतिया शासन काल म कूटनीति का सहारा लेने पर भी सोने के इस बहाव को रोका नहीं जा सका। इसका समाधान ५५१ ईस्वी म मिल पाया जब रेशम पैदा करनेवाले कीडे थल माग से छिपे तौर पर चीन से बजंतिया साम्राज्य म लाये गये।[5] वहा के लोगों के बीच रेशम के कीडो को पालने की कला फैलने म शायद पचास वष और लगे होगे, और छठी शताब्दी के अन्त तक उन्होने पूव से रेशमी वस्त्र प्राप्त करने की समस्या

१ एस० के० मैती द इकनॉमिक लाइफ ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया इन गुप्त पीरियड, पृष्ठ १३६ ८।
२ वही पृष्ठ १३७।
३ रिचड पकहर्स्ट, इट्रोडक्शन टु इकॉनमिक हिस्ट्री ऑफ इडिया, पृष्ठ ४६।
४ वही, पृष्ठ ४६ ४७।
५ वही पृष्ठ ४७।

पूरी तरह हल कर ली होगी। इससे भारत के विदेशी व्यापार को, और विशेष कर उत्तर भारत के विदेशी व्यापार को बहुत धक्का लगा क्योंकि उत्तर भारत में तो विदेशी व्यापार रेशमी वस्त्रों तक ही सीमित था। एक तो गुप्त काल तक पश्चिमोत्तर भारत का विदेशी व्यापार यों ही बहुत कम हो गया था। उस पर जब बजन्तिया साम्राज्य ने इसके रेशमी वस्त्रों का आयात बन्द कर दिया तब इसकी स्थिति और भी खराब हो गई। जब तक कोई और चीज रेशमी वस्त्रों का स्थान नहीं लेती तब तक विदेशी व्यापार को पुनः प्रतिष्ठित करने का कोई उपाय नहीं था, और उसमें मन्दी अनिवार्य थी।

इस्लाम के झण्डे के नीचे अरबों के प्रसार के कारण भी भारत के विदेशी व्यापार में कमी आई होगी। पश्चिमी एशिया, मिस्र और पूर्वी यूरोप के राज्यों में अरबों के विजय-अभियानों के कारण बहुत उथल-पुथल मचा हुई थी। पश्चिम के देशों के साथ भारत के व्यापार पर इस स्थिति का प्रतिकूल प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। जैसा कि आगे चल कर देखेंगे, जब अरब लोग इन देशों में और सिन्ध में शासकों के रूप में जम गये तब जाकर अर्थात हिजरी सन की तीसरी शताब्दी से विदेशी व्यापार में फिर तेजी आने लगी। लेकिन इस बीच इसके ह्रास को रोकने वाली कोई चीज नहीं थी। इस प्रकार इस बात के स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि गुप्त काल की समाप्ति के समय से और विशेष कर सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध से पश्चिमोत्तर भारत का विदेशी व्यापार ह्रासोन्मुख हो चला था।

गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद की सदी में चीन के साथ भारत का व्यापार बढ़ने पर उससे बजन्तिया साम्राज्य के साथ व्यापार बन्द हो जाने के कारण होनेवाली क्षति कहाँ तक पूरी हो पाई, यह कहना कठिन है। नौवीं या दसवीं शताब्दी के एक चीनी विवरण से ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी में चीन में भारतीय व्यापारी और भारत में चीनी व्यापारी मौजूद थे।[1] लेकिन इन दोनों देशों का पारस्परिक व्यापार विलासिता की वस्तुओं तक ही सीमित जान पड़ता है और आन्तरिक लेन-देन में चीनी विवरण में जो कौड़िया के चलन

---

१ एन० सी० सेन-कृत एकाउन्टस ऑफ इण्डिया एण्ड काश्मीर इन द डाइनेस्टिक हिस्ट्रीज ऑफ द ताग पीरियड, जो विश्व भारती विश्वविद्यालय, शान्ति-निकेतन की ओर से प्रकाशित होने वाला है।

का उल्लेख मिलता है, उससे विदेशी व्यापार को निश्चय ही कोई उत्तेजन नहीं मिला होगा।

आन्तरिक वाणिज्य-व्यापार के नाम पर जो कुछ शेष रह गया था, वह भी सामन्तवादी ढाँचे में ढल गया। शिल्पियों और वणिकों के संघों के कार्य-कलापों के सम्बन्ध में स्मृतियों में विस्तारपूर्वक जो नियम निर्धारित किये गये हैं, उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। राजा से न केवल इन संघों के नियमों के पालन की, बल्कि दूसरों से उनका पालन करवाने की भी अपेक्षा की गई है। यह बतलाता है कि केन्द्रीय सत्ता कमजोर हो रही थी। बृहस्पति का तो कहना है कि संघों के प्रधान दूसरे लोगों के साथ सख्त या नरम जो भी कारवाई करें उसका अनुमोदन करना राजा का कर्त्तव्य है।[1]

वास्तव में स्थिति क्या थी, इसका अनुमान पश्चिमी भारत के तटवर्ती क्षेत्रों के राजाओं द्वारा व्यापारियों के संघों को दी गई सनदों से लगाया जा सकता है। ये सनदें छठी शताब्दी के अंतिम वर्षों और आठवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों के बीच जारी की गई थीं। इनमें से पहली सनद का अनुवाद पहले तो मिराची ने सरकार ने किया[2] और बाद में अपनी टिप्पणियों के साथ साथ दामोदर कोसम्बी ने।[3] इस सनद से मालूम होता है कि ये व्यापारी किस प्रकार की वस्तुओं का व्यापार करते थे। इनमें मद्य, शक्कर, नील, अदरक, तेल, कपड़े, लकड़ी, लोह और चमड़े आदि के सामान के व्यापार का उल्लेख है।[4] इसमें राज्य मूल्यों और नाप-तौल का नियमन तो करता है[5] किन्तु उसका नियन्त्रण उतना कड़ा नहीं है जितने कड़े नियन्त्रण का विधान कौटिल्य ने किया है। कुल मिलाकर व्यापारियों के निकाय को काफी स्वतन्त्रता दी गई है। उन्हें कई तरह के शुल्कों से माफी दे दी गई है और वे अपने श्रमिकों, चरवाहों आदि के साथ इच्छानुसार व्यवहार करने को स्वतन्त्र हैं।[6] उन्हें लोहारों, बुनकरों, नाइयों, कुम्हारों तथा अन्य शिल्पियों से बेगार लेने का भी अधिकार

---

१ बृहस्पति-स्मृति १७ १८।

२ ए० इ० ३०, १६३ ८१।

३ ज० इ० सो० हि० ग्रा० २ २८१ ६३।

४ वही, २८५।

५ ए०इ०, ३०, न० ३०, पंक्ति १०।

६ वही पंक्ति ८।

दिया गया है।[1] किन्तु व्यापारियों के अलग अलग संघों के लिए एक-दूसरे के साथ स्पर्धा करने की गुंजाइश नहीं छोड़ी गई है, क्योंकि वे एक ही बाजार में व्यापार नहीं कर सकते।[2] अलबत्ता कुछ शिल्पी व्यापारियों से यह अपेक्षा जरूर रखी गई है कि वे अपने सामान साधारण ग्राहकों के हाथों जिस मूल्य पर बेचते हैं, उससे आधे मूल्य पर राज्य को दें[3] तथा कुछ दूसरे लोगों से करों के बदले अपना श्रम देने को कहा गया है। इनके अतिरिक्त व्यापारियों के लिए कई तरह के सीमा-कर चुंगी और विक्रय-कर देना आवश्यक है किन्तु बदले में उन्हें भी यह सुविधा दी गई है कि उनके क्षेत्र में राज्याधिकारीगण प्रवेश नहीं कर सकते और उनके खर्च के लिए उन्हें कोई शुल्क और खुराक नहीं देनी पड़ेगी।[4] पुत्र हीन व्यापारी की सम्पत्ति अपने हाथ में ले लेने का अधिकार भी राज्य छोड़ देता है जब कि बृहस्पति स्मृति में उसे यह अधिकार दिया गया है और दाक्षु तलम में इसके प्रयोग का भी प्रमाण मिलता है। वणिग्ग्राम को दी गई ये सुविधाएँ कुछ उसी प्रकार की हैं जिस प्रकार की सुविधाएँ ईस्वी सन् की प्रारम्भिक सदियों से ही मंदिरों और ब्राह्मणों को दी जा रही थीं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि तटवर्ती क्षेत्रों में स्वतन्त्र आर्थिक इकाइयाँ उभर रही थीं।

सातवीं शताब्दी में ऐसी कोई सनद नहीं मिलती किन्तु कोंकण क्षेत्र के चालुक्य नृपति द्वारा आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जारी की गई दो सनदों से स्पष्ट हो जाता है कि व्यापारियों की श्रेणियों का महत्त्व बढ़ गया था। उन्हें अपने कारोबार की व्यवस्था आप ही करने की पूरी छूट थी। एक सनद में एक मंदिर को आठ गाँव और बहुत सा धन दिया गया। इनकी व्यवस्था का अधिकार स्थानीय व्यापारियों के पाँच पाँच या दस दस के समूहों को प्रदान किया गया, तथा इन व्यापारियों को वार्षिक धार्मिक शोभायात्राओं का प्रबन्ध करने

---

१ ए० इ० ३० न० ३० पंक्ति २८।

२ काम्सबी ने सर्वश्रेणिनाञ्चवकापणान्‌ न देय (ए० इ० ३०, न० ३०, पंक्ति ६) का अर्थ यह लगाया है कि सभी श्रेणियों को एक ही तरह का व्यापारिक शुल्क नहीं देना है (ज० इ० सो०हि० आ० २ २८६) लेकिन इससे आगे के अंश अर्थात सन्त्र श्रेणिभि स्त्रोवा (?) दानम न दात व्यम को देखते हुए ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं लगता।

३ ए० इ० ३० न० ३० पंक्ति २८।

४ वही पंक्ति ६६।

का निर्देश दिया गया और उन्हें चुगी तथा राज्याधिकारियो के लिए रसद जुटाने के दायित्व से मुक्त कर दिया गया।[1] दूसरे मामले मे एक उजडा शहर बसा कर पडोस के तीन गावो के साथ दो व्यापारियो को दे दिया गया, और उन्हें *एक प्रकार की म्युनिसिपल सनद प्रदान की गई।* इन व्यापारियो को मोगशक्ति के राज्य म सदा के लिए सभी प्रकार की चुगियो से छूट दे दी गई और यदि वे दुनिया से पुत्र हीन ही चल बसते तो भी राजा को उनकी सम्पत्ति स्वायत्त करने का अधिकार नही था और न राज्याधिकारी लोग उनके घरो म प्रवेश करके उनसे अपने लिए खच खुराक ही माग सकते थे।[2] इतना जरूर है कि व्यभिचार करने अथवा किसी को चोट पहुचाने के अपराध म व्यापारियो पर जुर्माना किया जा सकता था किन्तु ऐसे मामलो के निणय का अधिकार भी शहर के आठ या सोलह श्रेष्ठ जनो के हाथो म ही था।[3]

इन सनदो के सम्बन्ध मे तीन बातें बहुत महत्वपूर्ण हैं। पहली बात तो यह कि ये अनुदान शिल्पियो को नही, बल्कि व्यापारियो को दिये गये और दान मे दी गई सम्पत्ति अथवा शहर की व्यवस्था का अधिकार उन्ही म से कुछ व्यापारियो का दे *दिया गया।* ऐसे *व्यवस्थापको की सख्या बृहस्पति की स्मृति* म विहित सख्या से मिलती जुलती है। बृहस्पति के अनुसार दो, तीन या पाच *व्यक्तियों को श्रेणि का परामर्शदाता नियुक्त करना चाहिए।*[4] दूसरी बात यह है कि इन सनदो ने व्यापारियो के सिर गाँवो के प्रबन्ध का बोझ डाल दिया। इन व्यापारियो को सनद से प्राप्त गाँवो म लगभग वही रियायतें और सुविधाएँ प्राप्त थी जिनका उपभोग पुरोहित और शायद सामन्त सरदार भी उन गावो मे करते थे जो उन्हे अनुदान म मिले हुए थ। परन्तु चूकि व गाँवो के प्रबन्ध म व्यस्त थे, इसलिए व अपना पूरा ध्यान अपने व्यापार की ओर नहीं दे पाते थे। इन सनदों से प्रकट होता है कि ये व्यापारी भी सामन्त वादी साँचे मे ढल रह थे क्योकि इन सनदो के कारण एक प्रकार से वे भी भूमिधर मध्यवर्ती लोग बनते जा रहे थे। तीसरी बात यह थी कि प्रत्येक श्रेणि की गतिविधियाँ उसके अपने क्षत्र तक ही सीमित रहती थी, जिससे एक

१ का० इ० इ० ८ न ३१, पंक्तियाँ २५ ४६, ५६ ६२।
२ वही, ३२, पंक्तियाँ २७ ३८।
३ वही।
४ १७१०।

श्रेणि के लिए दूसरे से होड करने की गुंजाइश नही रह गई थी। यह मध्य काल की गतिहीन अर्थव्यवस्था की खास विशेषता थी।

कुछ कुछ इसी प्रकार की एक चौथी सनद मैसूर के धारवार जिले में मिली है। यह लगभग ७२५ में जारी की गई थी। दाता है बादामी का चालुक्य युवराज विक्रमादित्य और ग्रहीता पोरिगिरि के अर्थात वर्तमान लक्ष्मेश्वर शहर के, महाजन (प्रमुख ब्राह्मण नागरिक ?)। इसमें राजकर्मचारियों और उस शहर के निवासियों के पारस्परिक दायित्वों का निर्देश किया गया है।[1] राज्याधिकारियों से कहा गया है कि वे राजकीय दानों की रक्षा करें, राजघोषणाओं का पालन कराएं, खाली घरों की देखभाल करें, (सम्पत्ति के) उपभोग में किसी प्रकार का विघ्न नहीं पड़ने दें आदि।[2] दूसरी ओर नगर के हर परिवार को जिले के शासकों को कर देने की हिदायत दी गई है।[3] ऐसा जान पडता है कि (महाजनों की) श्रेणि से मात्र इस दायित्व के निर्वाह की अपेक्षा रखते हुए उसे यह अधिकार दे दिया गया है कि वह गृहस्थों की आर्थिक स्थिति के अनुसार उन पर कर लगा सकती है, चोरी, छोटे मोटे दुराचारों और दस अपराधों के लिए लोगों पर जुर्माना कर सकती है और निस्संतान व्यक्तियों की सम्पत्ति को स्वायत्त कर सकती है।[4] शहर में कई और भी श्रेणियां हैं क्योंकि हर परिवार से अपनी अपनी हैसियत के मुताबिक ठठेरों की श्रेणियों को कर देने को कहा गया है। यह सनद श्रेणियों की बढती हुई शक्ति और आत्मनिर्भरता का स्पष्ट संकेत देती है। उन्हें शहर के लोगों से केवल धार्मिक कर ही नहीं, धर्मेतर कर वसूल करने का भी अधिकार दिया गया है।

गुप्त-काल में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता जब चुंगी और महसूल से होनेवाली आय मन्दिरों को अनुदान में दे दी गई हो। राजा और सरदार लोग धार्मिक प्रयोजनों के लिए कुछ नकद देकर संतोष कर लेते थे।[5] ऐसा लगता है कि एक प्रसंग पर यह राशि पांच व्यक्तियों की एक समिति को सौंप दी गई।[6] इससे प्रकट होता है इस सम्बन्ध में कुषाण कालीन

---

१ ए० इ०, १८ नं० १४।
२ वही, १८६।
३ वही १६०।
४ वही।
५ का० इ० इ० ३ नं० ५७८६।
६ वही नं० ५ मिलाइए ज० इ० सो० हि० ऑ० २ ७८३ से।

रीति अब भी जारी थी। उन दिनों मध्य भारत और दक्षिण भारत के पश्चिमी हिस्से में बहुत सी श्रेणियां धार्मिक प्रयोजनों से दी गई राशियों के थातीदारों का काम करती थीं और उन राशियों पर ब्याज भी दिया करती थीं।

पश्चिमी भारत में गुप्त काल से पूर्व शिल्पियों की संख्या अधिक थी, मगर ऐसा नहीं है कि गुप्त काल में या उसके बाद वे बिलकुल समाप्त हो गईं। किन्तु उस क्षेत्र में उन्हें कभी भी कोई सनद नहीं दी गई और जितनी भी सनदें दी गईं, सब व्यापारियों की श्रेणियों को ही दी गई। ऐसी सनद सबसे पहले गुप्त काल के अन्तिम दिनों में जारी की गई। इस सनद से प्रकट होता है कि जिस प्रकार पुरोहितों और मन्दिरों को कृषकों पर सत्ता दे दी जाती थी, उसी प्रकार व्यापारियों को भी शिल्पियों पर सत्ता चलाने का अधिकार दे दिया जाता था। मन्दिरों और पुरोहितों को दिये गये दानपत्रों का मतलब होता था ग्रामीण क्षेत्र में राजकीय सत्ता का त्याग और व्यापारियों को दी गयी सनदों का मतलब होता था शहरी इलाके में उसका त्याग। पहले मामले में ग्रहीताओं की जरूरतों को पूरा करने के लिए दान की गई भूमि के साथ किसान लोग भी उन्हें सौंप दिये जाते थे और दूसरे मामले में व्यापारी ग्रहीताओं की आवश्यकताओं का ध्यान में रखते हुए उन्हें श्रमिक और शिल्पियों पर पूरा अधिकार दे दिया जाता था। पहले मामले में जहां पुरोहितों को ग्रामीण आबादी पर कर लगाने का अधिकार होता था वहां दूसरे मामले में कालक्रम से महाजनों को भी शहरी लोगों पर कर लगाने का अधिकार दिया जाने लगा। जो भी हो पश्चिमी भारत और कर्नाटक के राजाओं द्वारा जारी की गई सनदों की तुलना मध्ययुगीन यूरोप में ऐसे ही संघों को दी गई सामन्तवादी सनदों से की जा सकती है। और इन सनदों तथा धर्मशास्त्रों में विहित नियमों से इस बात का संकेत मिलता है कि व्यापारियों की श्रेणियां राजकीय नियन्त्रण से अधिकाधिक स्वतन्त्र होती जा रही थीं और वे उत्तरोत्तर आत्मनिर्भर भी बनती जा रही थीं।

मौर्योत्तर काल और गुप्त काल में निगम अपने सिक्के जारी किया करते थे। यह बात भी स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर आर्थिक इकाइयों के उदय का प्रमाण प्रस्तुत करती है। इससे देश के राजनीतिक दृष्टि से छोटे छोटे टुकड़ों में बंट जाने की प्रवृत्ति को और उत्तेजन मिला क्योंकि सिक्के जारी करना प्रभुसत्ताधारी का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण काम था। इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि नालन्दा के गांवों ने अपनी मुहरें जारी की थीं और गुप्त-काल में भी

थे परन्तु ग्रामों को आय का बड़ा भाग देते थे।[1] इससे इस बात का पता चलता है कि ये गाँव न केवल राजनीतिक शक्ति में स्वतन्त्र, वरन् आर्थिक शक्ति में स्वयं निर्भर इकाइयों के रूप में उभर रहे थे। और इससे आगे का एक कदम अन्ततः चार ऐसी मुहरों को तो पहचाना जा सकता है। पर ये सिक्के और मुहरें निगम ही जारी करते थे किन्तु कुषाणकाल के बाद भी इनका चलन कम हो गया।

गुप्त काल में सिंचाई का काम भी स्थानीय व्यवस्था पर छोड़ दिया गया था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विभिन्न प्रकार की सिंचाई के लिए किसानों द्वारा राज्य को दिए जाने वाले शुल्क निर्धारित किये गए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि सिंचाई की व्यवस्था मुख्यतः राज्य करता था। रुद्रदामन के विवरण से भी ज्ञात होता है कि राज्य सिंचाई की निगरानी रखा करता था। शक राजा रुद्रदामन (लगभग १५० ईस्वी) दावा करता है कि उसने प्रजा पर कोई अतिरिक्त कर लगाए और उनसे बेगार लिए बिना सौराष्ट्र के प्रसिद्ध सुदर्शन सरोवर का जीर्णोद्धार करवाया। गुप्त काल में यह जिम्मेदारी सम्भवतः ग्रामों के लोगों की थी। लेकिन ईस्वी सन् के प्रारम्भिक वर्षों से ही लोगों ने अपना ध्यान इलाकों में सिंचाई के सम्बन्ध में अपनी ओर से प्रयत्न करना शुरू कर दिया था। डायन क्राइसोस्टम (लगभग ४० — ११७ ईस्वी) कहता है कि भारत में बड़ी और छोटी नदियों से पानी लाने के लिए लोग कुएँ भी बहुत से बनाते रहे हैं।[2] आगे चलकर बृहस्पति की स्मृति में कहा गया है कि सिंचाई के बाँधों[3] की देखरेख ग्रामवासियों को करनी चाहिए। सामग्री के अभाव में हम इस प्रक्रिया का इतिहास तो नहीं जान सकते लेकिन जब एक बार यह प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई तो निश्चित था कि इससे केन्द्रीय सत्ता की जड़ें कमजोर होंगी और स्वतन्त्र आर्थिक इकाइयों के उदय में सहायता मिलेगी।

ऊपर के विश्लेषण के आधार पर हम कुछ मोटे निष्कर्ष निकाल सकते हैं। भारत में राजनीतिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण का कारण वह नहीं था जो यूरोप

---

१ मजुमदार और अलतेकर : द वाकाटक गुप्त एज, पृष्ठ २६०।

२ ओरेशियो ३५ ४३४, मैक्रिंडल : एंशियंट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर, पृष्ठ १७५।

३ वीरमित्रोदय (पृष्ठ ४२६ में) मित्र मिश्र इसे 'कुल्यायन निरोध' पढ़ते हैं, किन्तु बृहस्पति स्मृति (१७ ११ १२) में यहाँ 'कुल्यानाम् निरोध' है।

मे था । यहाँ यह परिवतन सनिक सेवा प्रदान करनेवालो को दी गई जागीरो का परिणाम नही था । यहा तो विकेन्द्रीकरण की प्रवति का सबसे बडा कारण ब्राह्मणो और मदिरो को भूमि अनुदान देना था । यह तो स्पष्ट ही है कि यूरोप की तरह यहा सामन्तीकरण म विदेशी आक्रमणो का कोई विशेष हाथ नही था ।

ब्राह्मणो को दान किय गय अग्रहार यूरोपीय जागीरो स कुछ कुछ मिलते जुलते है क्योकि कही कही ग्रहीताओ को अपनी रयत से हर तरह का बगार लने का अधिकार दिया गया था । बेगारी प्रथा की व्याप्ति बहुत अधिक जान पडती है और ऐसा लगता है कि ग्राम प्रधान जो किसान स्त्रियो से अपने खेत और घरो म जबरन काम लेता था, यूरोपीय ढग का जागीरदार बनता जा रहा था । लेकिन, जहा यूरोप मे कुल मिलाकर किसानो को अपना बहुत सारा समय और शक्ति अपने प्रभु के खेतो म काम करने म लगानी पडती थी, वहा भारत के किसान अपना अधिकाश समय अपने ही खेतो पर काम करने म लगाते थे और उनकी उपज का एक बहुत बडा हिस्सा ग्रहीताओ और दूसरे मध्यवर्ती लोगो के हाथो म चला जाता था । लेकिन, एसा कोई प्रमाण नही मिलता जिसके आधार पर कहा जा सके कि अधिकाश किसानो का सावका ऐसे मध्यवर्ती लोगो से पडता था । इसके विपरीत, स्वतन्त्र किसानो की सख्या बहुत अधिक जान पडती है । फिर, उपसामन्तीकरण का सिलसिला भारत म उतना अधिक नही था जितना यूरोप म था । इसलिए भूमि के असली जोतदारो का केन्द्रीय सरकार से कुछ अप्रत्यक्ष सम्बन्ध बना हुआ था ।

वशानुगत प्रशासको के लिए पुरालेखो म जिन शब्दो का प्रयोग हुआ है उन्हें ठीक-ठीक समझ पाना बहुत कठिन है । फिर भारत जस विशाल देश मे, इस सन्दभ मे अलग अलग स्थानो पर अलग अलग शब्दो का प्रयोग हुआ है । इसलिए सामन्ती सगठन की विभिन्न श्रेणियो के बारे मे ठीक ठीक कुछ नही कहा जा सकता और न यही बताया जा सकता है कि सामन्त, उपरिक, भोगिक प्रतीहार दण्डनायक आदि क एक दूसरे से क्या सम्बन्ध थे । लेकिन इतना तो अवश्य है कि गुप्त काल के अन्तिम दिनो म, अर्थात ५०० ईस्वी के आस पास तक वशानुगत मध्यवर्ती लोग अच्छी खासी सख्या म तयार हो गये थे और उनके कारण बहुत स स्वतन्त्र किसानो की स्थिति अध-दासो के समान हो गई थी । लेकिन यहाँ का सामन्ती ढाँचा इग्लड जितना जटिल नही था और न इसम उतनी श्रेणियाँ ही थी, जितनी हम इग्लैंड के सामन्ती ढाँचे

में देता है। यद्यपि छठी शताब्दी से बड़ी मात्रा में लोग मध्ययुगीन सामन्तवादी व्यवस्था के स्तर में ही शासन करते हैं किन्तु उनके अधिकारों और कर्तव्यों का हमें कोई ठीक ठीक ज्ञान नहीं है। जो कुछ निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है वह इतना ही कि उन्हें अपने प्रभुओं के लिए सेना जुटानी पड़ती थी।

मध्य युगीन यूरोप में राज्य की सेवा करने के पुरस्कार स्वरूप ग्राम या भूमि दी जाती थी, लेकिन ऐसा लगता है कि भारत में इस प्रथा का चलन सीमित थी। मनु के अनुसार दस गाँवों की नाईं अनुगत व्यवस्था के लिए जिम्मेदार अधिकारी को वेतन बतौर जमीन जोतने लायक अर्थात् तनख्वाह की तरह जमीन दी जाती थी। इस काल में शायद यह धारणा जड़ पकड़ती जा रही थी कि राष्ट्रीय तथा स्थानीय शासकों और अधिकारियों के उपभोग के निमित्त है लेकिन प्रारम्भ में भूमि का नियन्त्रण इतना कड़ा अवश्य था कि यह व्यवहार में इस प्रवृत्ति पर अंकुश रख गया। फाहियान के विवरण में कही गई एक बात का मतलब यह लगाया जाता है कि राजा के अनुचरों और अमरकों को भूमि अनुदान मिले हुए थे किन्तु यह मुद्दा काफी विवादास्पद है और वास्तविकता क्या है इसे ठीक ठीक बता सकने की स्थिति में मैं भी नहीं हूँ। लेकिन फिर ह्वेनसांग ने जो अपने विवरण में आगे चलकर कुछ ऐसी ही बात लिखी है उसकी सचाई में सन्देह नहीं किया जा सकता। ह्वेनसांग के अनुसार कुल राजस्व का एक चौथाई भाग तो सीधे राज्य के पास चला जाता था लेकिन तीन चौथाई हिस्सों में से एक एक हिस्सा श्रमणों, पुरोहितों, विद्वानों और राज्याधिकारियों के लिए सुरक्षित रख लिया जाता था। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सम्पूर्ण राज्य की शासन-व्यवस्था चलाने वाले तमाम अधिकारियों के उपभोग के निमित्त राजस्व का केवल एक चौथाई हिस्सा था। यह स्थिति मध्य युगीन यूरोप की स्थिति से बिलकुल भिन्न है। वहाँ तो किसी भी सामन्त की प्रशासनिक देख रेख में जितना क्षेत्र होता था, उसका पूरा राजस्व उसी को प्राप्त रहता था। शर्त सिर्फ इतनी रहती थी कि वह अपने अधीनस्थ लोगों से प्राप्त कर में से अपने प्रभु को नियमित रूप से कुछ नजर भेजता रहता।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सामन्तवाद की कुछ मोटी मोटी विशेषताएं गुप्त काल और विशेषकर गुप्तोत्तर काल से दिखाई देने लगी थीं। वे विशेषताएं इस प्रकार थीं—परती और आबाद दोनों तरह की जमीनें अनुदान में देना, अनुदान में दी गई भूमि के साथ साथ किसानों का हस्तान्तरण, बेगारी प्रथा

का प्रसार, किसानों, शिल्पियों और व्यापारियों के अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे वहाँ जाकर बसने पर रोक लगाना, मुद्रा का अभाव, व्यापार का ह्रास, राजस्व-व्यवस्था तथा दण्ड प्रशासन का धार्मिक अनुदान भोगियों के हाथों सौंप दिया जाना, अधिकारियों को वेतन स्वरूप अलग अलग क्षेत्रों का राजस्व सौंप देने की प्रवृत्ति का प्रारम्भ, और सामन्ती दायित्वों का विकास। परवर्ती काल में ये प्रवृत्तियाँ कहाँ तक कायम रहीं और इनमें कहाँ तक परिवर्तन आये, इसका विचार हम अगले अध्याय में करेंगे।

परिच्छेद २

तीन राज्यों मे सामन्ती राज्य-व्यवस्था

(लगभग ७५० १००० ई०)

गुप्त राजाओ और हर्ष के समय म भूमि अनुदानो के ग्रहीताओ को प्रशासनिक और राजस्व विषयक अधिकार देने की जो प्रक्रिया शुरू हुई, वह बाद के राजाओ के समय म भी चलती रही। गुप्त राजाओ ने खुद बहुत कम अनुदान दिये पर मध्य भारत के उनके सामन्तो या अधीनस्थ सरदारो ने बहुत से गाव दान किये। लेकिन, पाल शासन काल म साधारणतया राजा स्वय ही अनुदान दिया करता था। इसका सबसे पहला उदाहरण धर्मपाल है। उसने उत्तर बगाल म अपने सामन्त नारायणवर्मन द्वारा शुभस्थली म संस्थापित नन्न नारायण मन्दिर को चार गाव दिये।[1] इस अनुदान के असली भोक्ता वे लाट ब्राह्मण, पुरोहित और मन्दिर क अन्य सेवक थ जिनका उल्लेख अनुदानभोगियो के रूप मे किया गया है।[2] तलपाटक (खाई खड्डा म पड़न वाली जमीन) और हट्टिकाओ (पैठो) के साथ साथ य गाँव सदा के लिए दान कर दिय गये, ग्रहीताओ को यह अधिकार दिया गया कि वे गाँव के निवासियो को दशापराध के लिए दण्ड दें और इन गाँवो को राजाओ और राजकर्मचारियो के हस्तक्षेप से मुक्त कर दिया गया।[3] धर्मपाल ने शासद नालन्दा क्षेत्र म बौद्धो क प्रमुखो को एक गाँव प्रदान किया। उस गाँव म कोई राज्याधिकारी प्रवेश नही कर सकता था और ग्रहीता को चोरो को सजा देने का भी अधिकार दिया गया

---

१ ए० इ०,४ न० ३८ पंक्तियाँ ३० ८२।

२ वही, पंक्तियाँ ५० १।

३ वही पंक्तियाँ ५२ ३।

चोरों को सजा देने का भी अधिकार दिया गया है जब कि मध्य भारत के गुप्त कालीन भूमि दानपत्रों में यह अधिकार दाता सामान्यतः अपने हाथों में ही रख लेता था। इसके अलावा ग्रहीताओं को दस अपराधों के लिए भी दण्ड देने का अधिकार दिया गया है। ये दस अपराध इस प्रकार बताये गये हैं जो वस्तु दी नहीं गई हो उसे जबरदस्ती प्राप्त करना, विधि विरुद्ध हत्या करना, दूसरों की पत्नियों के साथ व्यभिचार करना, किसी से दुर्वचन कहना, असत्य का आचरण करना, किसी भी प्रकार की मिथ्या निन्दा करना, असंगत बात करना, दूसरों की सम्पत्ति पर आँख गड़ाना, गलत चीजों के बारे में सोचना और जो सत्य नहीं है उस पर दुराग्रहपूर्वक आरूढ़ रहना।[1] इस सूची में परिवार, सम्पत्ति या व्यक्ति के सम्बन्ध में किये जानेवाले प्रायः सभी अपराध आ जाते हैं। हो सकता है अन्तिम चार अपराधों की ओर कोई ध्यान न दिया जाता हो लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि जब गाँव के अन्दर ग्रहीता की जानकारी में दूसरे अपराध किये जाते होंगे तो उनके लिए अपराधी को अवश्य ही दण्डित किया जाता होगा। दशापराधदण्ड का मतलब यह लगाया जाता है कि ऐसे अपराधों के लिए जुर्माने वसूल किये जाते थे[2] लेकिन यहाँ दण्ड शब्द को जुर्माने के अर्थ में न लेकर सजा के अर्थ में ही लेना चाहिए। इसलिए यही मानना ठीक होगा कि भोक्ताओं को इन अपराधों के लिए दोषी लोगों को दण्ड देने का अधिकार प्राप्त था और दण्ड जुर्माना और शारीरिक कष्ट में से कुछ भी हो सकता था। इस प्रकार ग्रहीताओं को दण्डविधान और ग्राम के प्रशासन का अधिकार देने का चलन ८वीं सदी के मध्य में शुरू होकर पाल साम्राज्य की एक सामान्य विशेषता बन गया। अब मन्दिरों और ब्राह्मणों तथा पुजारियों आदि धर्म कार्य से सम्बद्ध लोगों के हाथों में राजस्व और प्रशासन सम्बन्धी ऐसे अधिकार आ गये जिनका उपभोग उन्होंने बिहार और बंगाल में इससे पूर्व कभी नहीं किया था।

इस काल में प्रतीहार राजाओं ने उत्तरी भारत में ब्राह्मणों को बहुत से गाँव दिये जिससे उनकी शक्ति बढ़ी। ८३६ में प्रथम भोजदेव ने कान्यकुब्ज भुक्ति के कालंजर मण्डल में एक पुराना अग्रहार फिर से दान किया। मूलतः यह अनुदान एक सामन्त राजा ने द्वितीय नागभट की अनुमति से दिया था, लेकिन रामभद्र के राज्य काल में स्थानीय अधिकारी की अक्षमता के कारण वह

१ का० इ० इ०, ३ १८६, पा० टि० ४।
२ वही १८६।

अग्रहार समाप्त हो गया था। इसलिए भोज ने पुराने ब्राह्मण परिवार को वह गाव पुन प्रदान किया उस पर केवल इतना प्रतिबन्ध लगाया कि जो-कुछ पहले ही देवताओं और ब्राह्मणों को दान दिया जा चुका है उसका उपभोग वह नहीं कर सकता है।[1] भोजदेव ने ही गुज्जरत्तराभूमि म इसी प्रकार एक और पुराने अग्रहार के अनुदान को फिर से चालू किया। यह अनुदान उसके प्रपितामह के समय म निष्प्रभाव हो गया था, किन्तु भोज ने ग्रहीता के पौत्र को उसे पुन दान किया।[2] इन दोनों उदाहरणों से प्रकट होता है कि एक बार जब अनुदान दे दिए जाते थे तो उन पर सिद्धान्तत और व्यवहारत ग्रहीताओं का वंशानुगत अधिकार कायम हो जाता था और मूलत दान देनेवाले राजा के उत्तराधिकारियों के लिए उन अनुदानों को बनाये रखना आवश्यक होता था—तब भी जब कि ऐसे अनुदान सामन्त राजाओं द्वारा दिये जाते थे। भोज के पुत्र और उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल ने छपरा जिले म जो उन दिनों श्रावस्ती भुक्ति म पड़ता था, एक ब्राह्मण को पूरी आय के साथ एक गाव दान किया।[3] ९३१ म महीपाल ने भी बनारस म एक गाव एक ब्राह्मण को इन्हीं शर्तों के साथ दान किया।[4] द्वितीय महीपाल ने ग्वालियर म एक मन्दिर को एक गाव लगभग इन्हीं शर्तों पर दान किया अन्तर केवल इतना था कि यह गोचर भूमि के साथ-साथ दान किया गया।[5]

प्रतीहार राजाओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से दान किये गये गावों के सन्दर्भ म कृषि और प्रशासन सम्बन्धी उन विभिन्न अधिकारों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता जो पाल अनुदान पत्रों म ग्रहीताओं को हस्तान्तरित कर दिये गये हैं। प्रतीहार अनुदानपत्रों म केवल सम्बन्धित गावों से होनेवाली आय ही ग्रहीताओं को सौंपी गई है और पालों के अनुदान पत्रों की तरह इनमें भी ग्रामवासियों को ग्रहीताओं की आज्ञा मानने और उन्हें सभी कर व शुल्क देने का आदेश दिया गया है। प्रतीहार राजाओं ने उपयुक्त अनुदान धार्मिक कारणों से दिये,

---

१ कॉ० इ० इ० १६, न० २ पंक्तियाँ १-१६।
२ वही, ५ न० २८ पंक्तियाँ ५-९।
३ इ० ए०, १५, पृष्ठ ११२ १३, पंक्तियाँ १ १०।
४ वही पृष्ठ १३८ पंक्तियाँ ६ १७।
५ ए० इ०, १४ न० १२ पंक्तियाँ ६ १३।

किन्तु उनका मन्शा चाहे जो रहा हो इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके परिणाम-स्वरूप राजा और काश्तकारों के बीच एक भूमिधर वर्ग का उदय हुआ।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतीहारों के सामंतों के राज्यों में यह प्रक्रिया और भी प्रबल रूप में विद्यमान थी। काठियावाड़ के चालुक्य सामंत प्रथम अवनिवर्मन के बेटे बलवर्मन ने ८९३ में तरणादित्यदेव के मंदिर को एक गांव दान किया। उसने भोक्ता को दस अपराधों के लिए दोषी लोगों को दण्ड देने, लोगों से कर लेने, वर्षा से होनेवाली आय का उपभोग करने तथा कुछ अन्य अधिकार भी जो स्पष्ट नहीं हैं प्रदान करते हुए सरकारी अधिकारियों और प्रतिनिधियों को निर्देश दिया है कि वे उसमें प्रवेश न करें।[1] उसी वंश के एक दूसरे चालुक्य सामंत द्वितीय अवनिवर्मन ने राज्याधिकारी धिइक की अनुमति से उसी देवता के नाम उन्हीं शर्तों पर एक अन्य गांव दान किया।[2] ९१४ में पूर्वी काठियावाड़ के एक चाप सामंत धरणीवराह ने एक शिक्षक को जिन शर्तों पर उक्त चालुक्य सामंत ने ग्राम अनुदान दिया था उन्हीं शर्तों पर पुरस्कार स्वरूप एक गांव दान किया।[3] ९४६ में एक चाहमान सामंत के अनुरोध पर उज्जैन के शासक माधव ने सूर्य मंदिर को एक गांव दिया।[4] इस अनुदान की शर्तें उपर्युक्त अनुदानों की शर्तों से कुछ भिन्न थीं क्योंकि इसमें ग्रहीता को अनुदत्त क्षेत्र की लकड़ी और जलाशयों से होनेवाली आय के उपभोग तथा दण्डपाशक मार्गणक आदि नये कर वसूल करने के अधिकार प्रदान किये गये हैं,[5] वैसे ये कर किस प्रकार के थे यह बात स्पष्ट नहीं है। और अंत में हम ९५९ ईस्वी में अलवर में प्रतीहारों के एक गुर्जर सामंत द्वारा दिये गये अनुदान का उल्लेख कर सकते हैं। उसने एक मठ के गुरु और एक के बाद एक जो लोग उसके शिष्य होते उनके नाम एक गांव दान किया।[6] उपर्युक्त उदाहरणों से प्रकट होता है कि धार्मिक अनुदान देने की प्रथा प्रतीहार राजाओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से शासित क्षेत्रों में उतनी मजबूत नहीं थी जितनी उनके अधीनस्थ सामंत

---

१ ए० इ० ९, नं० १ ए, पंक्तियां १-२०।

२ वही, बी पंक्तियां ७-५८।

३ इ० ए० १२, १९५, प्लेट २ पंक्तियां १-२४।

४ ए० इ० १४, नं १, पंक्तियां १९-२१।

५ वही पंक्तियां ७४-७५।

६ वही ३, नं० ३६, पंक्तियां ८-११।

राजाओं के इलाकों में थी। प्रहीताओं को न केवल गाँवों में कानून और व्यवस्था बनाये रखने का दायित्व सौंपा जाता था बल्कि विभिन्न कर वसूल करने का अधिकार भी दिया जाता था। इस सबके लिए ग्रहीताओं को अपने अधीन कुछ कर्मचारी भी रखने ही पड़ते होंगे। इस प्रकार गुजरात और राजस्थान के कुछ हिस्सों में अग्रिधर धार्मिक अनुदानभोगियों का एक ऐसा मध्यस्थ वर्ग खड़ा हो गया जिसे आन्तरिक शान्ति सुव्यवस्था बनाये रखने और राजस्व वसूल करने का व्यापक अधिकार प्राप्त था।

ऐसा लगता है कि पालों और प्रतीहारों की तुलना में राष्ट्रकूट राजाओं ने ब्राह्मणों और मन्दिरों को अधिक गाँव दान किये। इसके प्रमाण हमें उनके शासन काल के आरम्भ से ही मिलते हैं। ७५३ ४ में दन्तिदुर्ग ने कोल्हापुर के इलाके में एक ब्राह्मण को एक बसा बसाया गाँव दान किया। उसने उस भूमि-कर अधिकारियों को यदा-कदा किये जानेवाले शुल्क आदि तमाम प्रचलित कर वसूल करने और दशापराधदण्ड के अधिकार प्रदान किये थे।[1] ८०६ ७ में तृतीय गोविन्द ने नासिक के इलाके में एक ब्राह्मण को उपयुक्त अधिकारों के साथ एक गाँव दान में देते हुए उनमें चाटों और भटों का प्रवेश भी वर्जित कर दिया।[2] ७९४ के पठन प्लेटों में भी इन सभी अधिकारों का उल्लेख है[3] और नासिक जिले में ताम्रपट पर जो अनुदान किया गया है उसमें भी इन्हें दुहराया गया है।[4] ८७१ में अमोघवर्ष ने कुछ ब्राह्मणों को एक गाँव इन्हीं अधिकारों के साथ दान किया।[5] इस प्रकार तृतीय गोविन्द के समय से धार्मिक ग्रहीताओं को पहले से भी अधिक अधिकारों के साथ अनुदान देने का जो सिलसिला शुरू हुआ वह लगभग एक सदी तक चलता रहा। किन्तु पंचम गोविन्द के ९३३ ४ के एक अनुदान पत्र में ग्रहीता को बेगार का अधिकार नहीं दिया गया है और न दान किये गये गाँवों में सरकारी अमलों का प्रवेश ही वर्जित किया गया है।[6] ९७२ ३ में तृतीय अमोघवर्ष ने इन्हीं शर्तों पर खानदेश के इलाके में एक गाँव

---

१ इ० ए०, ११, ११२ ३ पंक्तियाँ २९-४४।
२ वही, १५६ ६ पंक्तियाँ ४४ ५०।
३ ए० इ० ३ न० १७, पंक्तियाँ ५७ ५८।
४ इ० ए० ६, ६७ ६८, प्लेट २ 'बी', पंक्तियाँ १२ १३।
५ ए० इ० १८ न० २६ पंक्तियाँ ६६ ७।
६ इ० ए० १२, २५१, पंक्तियाँ ५० ५३।

दान किया,[1] किन्तु उस गाँव में नियमित एवं अस्थायी सैनिकों का प्रवेश निषिद्ध नहीं किया गया। यद्यपि अनुदान पत्रों की शर्तों में अन्तर होते रहे किन्तु राष्ट्रकूट राज्य में ब्राह्मणों और पुरोहितों को अनुदान में गाँव देने की प्रथा दो सदियों से अधिक काल तक चलती रही। राष्ट्रकूटों के सभी ताम्रपत्र नहीं मिले हैं लेकिन जितने मिले हैं वे कम नहीं हैं। तृतीय इन्द्र ने अपने राज्यारोहण के अवसर पर ४०० गाँव जिन्हें उसके पूर्ववर्ती शासकों ने ग्रही तासों से वापस ले लिया था फिर से दान किये।[2] चतुर्थ गोविन्द के कडबे प्लेटों से ज्ञात होता है कि अपने सिंहासनारोहण के समय उसने ६०० गाँव ब्राह्मणों को धार्मिक एवं दार्शनिक प्रयोजनों से दान किये और ८०० गाँव मन्दिरों को दान किये।[3] इस प्रकार सिर्फ इन्हीं दो राजाओं ने कुल १८०० गाँव धार्मिक ग्रहीताओं को दिये। इन अंकों की प्रामाणिकता में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है क्योंकि भूमि अनुदान देने का चलन बहुत जोरों पर था। आश्चर्य नहीं कि अनुदान में दिये गाँवों की संख्या जितनी हम मालूम है उससे बहुत ज्यादा ही रही हो।

राष्ट्रकूट राजाओं के मण्डलेश्वरों और सामन्तों ने भी धार्मिक अनुदान दिये। ८२१ में राष्ट्रकूटों की ही गुजरात शाखा के कक्कराज सुवर्णवर्ष ने धार्मिक शिक्षकों का एक क्षेत्र सदा के लिए दान कर दिया। उसमें नियमित और अनियमित सिपाहियों तथा राजकर्मचारियों का प्रवेश वर्जित था।[4] ८३५ में उसी घराने के तृतीय ध्रुव ने एक ब्राह्मण को ऐसी ही शर्तों के साथ एक गाँव दान किया। भोक्ता को दसापराध के लिए दोषी लोगों को दण्डित करने तथा बेगार लेने का भी अधिकार दिया गया था।[5] इन सामन्त राजाओं ने अपने प्रभु की अनुमति के बिना ही अनुदान दिये लेकिन अमोघवर्ष के शासन काल में बनवासी के शासक बंकेय ने अपने प्रभु अमोघवर्ष को इस बात के लिए राजी किया कि वह एक जैन मन्दिर को एक गाँव और कई क्षेत्र दान में दे।[6] कुल मिला कर राष्ट्रकूटों और उनके सामन्तों ने विद्वान ब्राह्मणों को

१ इ० ए० २६६ पंक्तियां ४३-५७।
२ अ० स० अलतेकर द राष्ट्रकूटाज एंड देयर टाइम्स पृष्ठ १०० ।
३ ए० इ० ७ नं० ६ पंक्तियाँ ४६-६१।
४ वही २१ नं० ३२ पंक्तियाँ ४८-५१।
५ इ० ए० १२ १८४ ५ प्लेट २ बी, पंक्तियाँ १-१६।
६ ए० इ० ६ नं० ४ पंक्तियां ३५-४६।

काफी गाँव देकर[1] ग्रामीण क्षेत्रों में उनकी सत्ता को मजबूत किया।

गाँव सदा के लिए दान किए जाते थे और उन अनुदानों को कायम रखना दाताओं के उत्तराधिकारियों का कर्तव्य होता था। कुछ अनुदान तो दाता-परिवारों के पतन के बाद भी कायम रहे। उदाहरण के लिए, द्वितीय इन्द्र ने गुजरात प्रान्त के प्रथम और द्वितीय ध्रुव के द्वारा दान किया गया श्रेणा नामक गांव ग्रहीताओं के उत्तराधिकारियों को पुनः दान किया। ग्रहीताओं के उत्तराधिकारियों को यह गाँव फिर से प्राप्त करने की चिन्ता इसलिए थी कि अब दक्षिण गुजरात में दाता के परिवार की सत्ता समाप्त हो गई थी।[2] फिर, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं तृतीय इन्द्र ने पहले के राजाओं द्वारा जब्त किये गये ४०० गाँव सम्बन्धित ग्रहीताओं को पुनः वापस कर दिये।

प्रतीहारों ने तो नहीं लेकिन पालों और राष्ट्रकूटों ने ग्रहीताओं को प्रशासनिक अधिकार भी बहुत स्पष्ट शब्दों में प्रदान किये और विशेषकर राष्ट्रकूटों ने उन्हें दण्ड और प्रशासन के अधिक अधिकार दिए। कुछ पाल अनुदानों में दान किये गावों में राज्याधिकारियों का प्रवेश वर्जित कर दिया गया है, कुछ में स्थायी और अस्थायी सैनिकों का प्रवेश निषिद्ध है और कुछ में तो राज कर्मचारियों और सैनिकों दोनों के प्रवेश की मनाही कर दी गई है। उनमें ग्रहीताओं को दसों अपराधों के लिए दोषी लोगों को दण्ड देने का अधिकार भी दिया गया है। लेकिन राष्ट्रकूटों के बहुत से अनुदानों में ये सभी अधिकार और सत्ता एक ही साथ दे दी गई है यद्यपि उनमें चोरों को दण्डित करने का अधिकार साफ-साफ नहीं दिया गया है। मगर जाहिर है कि दसों अपराधों के लिए दण्ड देने के अधिकार में यह अधिकार भी आ जाता है। कुल मिला कर ऐसा प्रतीत होता है कि पाल और प्रतीहार राज्यों की तुलना में राष्ट्रकूटों के राज्य में धार्मिक अनुदान भोगियों की संख्या ज्यादा थी और उन्हें अधिक प्रशासनिक अधिकार प्राप्त थे।

पुरोहितों को दान देने के इस प्रचलन की तुलना मध्ययुगीन यूरोप में ईसाई संगठनों को दान देने की प्रथा से की जा सकती है। अन्तर सिर्फ इतना ही था कि गिरजाघरों की तरह भारत में ब्राह्मण और मन्दिर संस्था के रूप में संगठित नहीं थे। किन्तु पूर्व मध्यकाल में भारत में धर्मेतर अनुदान उतने

१ अलतेकर रा० प्र० पु० पृष्ठ १८६।
२ वही पृष्ठ ६८।

अधिक नहीं दिये गये जितने कि यूरोप में दिये गये। भूमि अनुदानों के रूप में वेतन पानेवाले राज्याधिकारियों और सामन्तों के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। प्रथम पाल अनुदान (८०२) से ज्ञात होता है कि उत्तर बंगाल में दशग्रामिक नाम से अभिहित कोई राज्याधिकारी होता था।[1] मनु के अनुसार दशग्रामिक को एक कुल भूमि दी जाती थी।[2] किन्तु परवर्ती पाल अभिलेखों में इस प्रथा का कोई उल्लेख नहीं मिलता। ९९३ में महीपाल ने ऐसी भूमि जो किसी समय कैवर्तों को उनकी कतिपय सेवाओं के एवज में उनके निर्वाह के लिए दी गई थी वापस ले ली।[3] यह धर्मेतर अनुदान जान पड़ता है। पालों के भूमि अनुदान पत्रों में उल्लिखित राजपुत्र राणक राजराजनक महासामन्त महासामन्ताधिपति आदि शायद ऐसे सामन्त थे जिनमें से अधिकांश का सम्बन्ध भूमि से ही था। इनमें से कुछ को पराजित कर के अपने अपने क्षेत्रों में पुनः प्रतिष्ठित कर दिया गया था और कुछ को शायद सैनिक सेवा के बदले भूमि अनुदान दिये गये थे। वैसे, अपने प्रभु की सैनिक सेवा दोनों तरह के सामन्तों को करनी पड़ती थी।

प्रतीहारों के अभिलेखों में धर्मेतर अनुदानों के कोई अधिक उदाहरण नहीं मिलते। ८९० में प्रथम भोज ने गोरखपुर में गुणाम्भोधि या प्रथम गुणसागर नामक कलचुरि सरदार को अनुदान स्वरूप भूमि दी क्योंकि उसने गौड की श्री का अपहरण करके अपने प्रभु की बहुमूल्य सेवा की थी।[4] द्वितीय महेन्द्रपाल के शासन काल में एक उच्च राज्याधिकारी ने दो भूमि अनुदान पत्रों पर हस्ताक्षर किये हैं।[5] ऐसा लगता है कि उसे अनुदान स्वरूप एक गाँव मिला हुआ था[6] और दाता शायद प्रतीहार राजा था। प्रतीहारों के एक गुर्जर सामन्त द्वारा दिये गये अनुदान से पता चलता है कि उसे धर्मेतर अनुदान मिला हुआ था, क्योंकि उसने अपने अधीनस्थ क्षेत्र का स्वसमासादित बराबर

---

१ ए० इ० ६ न० ३४ पंक्ति ४७।

२ ७ ११८ ९।

३ ए० इ०, २९ न० १ बी २८ ९।

४ भाज्दवाप्तभूमि श्रीगुणाम्भोधिदेव येन आहृता गौडलक्ष्मी का० इ० इ० ४ न० ७४, श्लोक।

५ ए० इ० १६ न० १३ पंक्ति १४ २७।

६ श्रीविन्ध्यभागावाये धारापद्रकग्रामे। वही पंक्ति २१।

भोग कहा है।[1] इससे प्रकट होता है कि शासक-कुटुम्ब का सदस्य होने के नाते[2] उसके प्रतीहार प्रभु ने उसे व्यक्तिगत उपभोग के लिए वनपातक क्षेत्र दे रखा था। उसके अनुदान-पत्र से स्पष्ट है कि ग्रहीता को गुज्जरत्तराभूमि में पन्नवाल उस क्षेत्र के प्रशासन का भी दायित्व दिया गया था।[3]

राष्ट्रकूटों के अनुदान पत्रों में राज्याधिकारियों और सामन्तों को गाँव देने का स्पष्ट प्रमाण कहीं नहीं मिलता लेकिन उनकी राज्य-व्यवस्था का विशद अध्ययन करने के बाद अलतेकर ऐसा मानते हैं कि बहुत-से राज्याधिकारियों को वेतन के रूप में 'लगान मुक्त भूमि मिली हुई थी।[4] यहां हम लगान मुक्त के बजाय राजस्व मुक्त' कहें तो अच्छा रहेगा क्योंकि लगान तो रैयत द्वारा अपने भूस्वामियों को दिया जाता है। अलतेकर यह भी बताते हैं कि कभी-कभी राज्याधिकारियों को नकद और जिन्स दोनों रूपों में वेतन दिया जाता था।[5] जो भी हो जहां तक राजस्व व्यवस्था का सम्बन्ध है राष्ट्रकूट साम्राज्य मुख्यतः दस दस अथवा दस के बहुगुण-सम्पन्न गांवों में जैसे बीस बीस तीस तीस या चालीस चालीस गावों के समूहों में विभक्त था।[6] धर्मशास्त्र के अनुसार ऐसे एकाशों के प्रधान अधिकारियों को भूमि अनुदानों के रूप में वेतन दिया जाना चाहिए।[7] ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रकूट राजा इस प्रणाली का अनुसरण विशेषतया जिला और गावों के प्रधानों को वेतन देने में करते थे। इस प्रकार एक पाली गद्य अभिलेख में दस ग्रामकूट क्षेत्र अथवा जिला प्रधान के राजस्व मुक्त खेत का उल्लेख दो बार आया है।[8] स्पष्ट है कि ग्राम प्रधान को भी जिसे राष्ट्रकूट साम्राज्य में ग्रामकूट कहा जाता था, इसी रूप में वेतन दिया

१ ए० इ० ३ न० ३६ पंक्ति ८।
२ वही।
३ वही, पृष्ठ २६६ ६७।
४ वही, पृष्ठ १४५।
५ वही पृष्ठ १८६।
६ इ० ए० ११ ११२ ३, पंक्ति ३२ में राष्ट्रकूटों के साम्राज्य में ५०० गांवों की एक भुक्ति का उल्लेख है। १२०००, ५००, ३०० और ७० गांवों के एकाशों का भी उल्लेख है (अलतेकर, स० प्र०, पु०, पृष्ठ ७७)।
७ मनु ७ ११६।
८ अलतेकर स० प्र० पु० पृष्ठ १७६।

जाता था। यह बात निश्चित है कि दक्षिणी महाराष्ट्र में ग्राम प्रधान को राजस्व मुक्त भूमि मिलती थी। मौर्गल्लि के रट्टों के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि यड्डाल के गवुण्ड (ग्राम प्रधान) ने उस इलाके के प्रधानों के राजस्व मुक्त क्षेत्रों के बीच स्थित अपनी २०० मत्तर राजस्व मुक्त कृषि भूमि (किसी को) दी।[1] पर यदि राजस्व अधिकारी अपने अधिकार क्षेत्र में स्थित भूमि के उस हिस्से को छोड़कर जो उसे वेतन में मिला हो अथवा जिसका राजस्व उसे वेतनस्वरूप सौंप दिया गया हो, शेष कोई भी हिस्सा किसी को देना चाहता, तो उसे अपने स्वामी से पूछना पड़ता था।

गुजरात के राष्ट्रकूटों के राज्य में राजस्व एकांश दशग्रामिक और द्वादशग्रामिक प्रणालियों के अनुसार संगठित थे। राजपूत इलाके में १२ गांवों के अनुमान की चर्चा है[2] और ८४ गांव के एकांश का भी अस्तित्व मिलता है। यह एकांश ७५० गांवों के एक समूह का हिस्सा था और विचित्र बात यह है कि ये गांव दस दस गांवों के एकांशों में विभक्त थे।[3] गुजरात के राष्ट्रकूटों के साम्राज्य में दिये गये एक अनुदान में ८४ गांवों के एकांश का उल्लेख है।[4] राष्ट्रकूटों के साम्राज्य में गुजरात से बाहर भी १० या १२ के बहुगुण संख्यक गांवों के एकांश थे। प्रथम अमोघवर्ष के संजान अभिलेख पटों में २४ गांव के समूह का उल्लेख है[5] और तृतीय गोविन्द के शासन काल में प्रतिष्ठान भुक्ति में बारह बारह गांवों के कई समूह थे।[6] तृतीय अमोघवर्ष के शासन काल में भी १२ गांवों के एक एकांश का उल्लेख मिलता है।[7] स्पष्ट ही ये सब क्षेत्रीय इकाइयां राजस्व वसूल करने के लिए संगठित की गई थीं। चाहमानों की शासन व्यवस्था से हम अनुमान लगा सकते हैं कि राष्ट्रकूटों के अधीन ये एकांश सामंतों या राज्याधिकारियों को जागीर के तौर पर दिये जाते थे और वे इन एकांशों का प्रशासन चलाते थे।

---

१ अलतेकर स० प्र० पु० पृष्ठ १८२।

२ ए०इ० ३ न० ६ पंक्तियां १५ १६।

३ वही १ न० ८ पंक्तियां ३५ ३६।

४ इ० ए० १२ १६० पंक्तियां ४५ ६।

५ ए० इ० १८ २५,७।

६ अलतेकर, स० प्र० पु० पृष्ठ १३७।

७ इ० ए०, १२ २६६।

राष्ट्रकूटों के साम्राज्य में सैनिक सेवा के एवज में भूमि अनुदान देने के भी कुछ प्रमाण मिलते हैं। कभी-कभी पल्लव राजा अपने सेनानायक व विजय-अभियानों की स्मृति को स्थायी बनाने के लिए गाँवों के नाम उसके नाम पर रख देते थे और उन्हें अनुदान में ब्राह्मणों को दे देते थे।[1] लेकिन राष्ट्रकूट सेनापतियों की वीरता का नायक उपभोगार्थ गाँव देकर पुरस्कृत किया जाता था।[2] शिलाहारों की सेवा करनेवाले ग्रामभोक्तृ गाँवों का उपभोग करनेवाले ऐसे ही सैनिक अधिकारी जान पड़ते हैं। अलतेकर के अनुसार राष्ट्रकूट अभिलेख में उल्लिखित ग्रामपति पुरस्कार में प्राप्त गाँवों के स्वामी थे।[3] चूंकि महाराष्ट्र में ग्राम प्रधान को ग्रामकूट कहा जाता था और वह ग्रामपति से भिन्न व्यक्ति था[4] इसलिए सम्भव है कि ग्रामपति सैनिक अधिकारी ही रहा हो। अगर हम सौदागर सुलेमान के विवरण पर भरोसा करें तो मानना होगा कि उस समय के राजा अपने सैनिकों को नियमित वेतन नहीं देते थे। सुलेमान कहता है कि 'भारत के राजाओं के सैनिकों की संख्या बहुत बड़ी होती है लेकिन वे उन्हें वेतन नहीं देते। राजा धर्म-युद्ध की स्थिति उत्पन्न होने पर ही उन्हें एकत्र करता है। राजा के आह्वान पर वे अपने अपने स्थानों से आकर एक जगह एकत्र होते हैं और राजा से कुछ भी प्राप्त किये बिना अपना निर्वाह करते हैं।[5] सुलेमान का यह कथन सामन्तों द्वारा राजा के लिए जुटाई गई सेना पर ही लागू होता है। उसने यह भी लिखा है कि अरबों की तरह (लेकिन अधिकांश भारतीय राजाओं से भिन्न) राष्ट्रकूट राजा अपने सैनिकों को नियमित वेतन देता था।[6] लेकिन, यह बात स्पष्ट नहीं है कि इन सैनिकों को वेतन नकद दिया जाता था अथवा भूमि अनुदानों के रूप में। अलतेकर का कहना है कि सैनिकों के परिवारों के निर्वाह के लिए उन्हें जानने वाले के लिए जमीन दी जाती

१ इ० ए० ८ २७६-८०।

२ ए० इ० ३, न० ३७ पंक्ति ४७।

३ अलतेकर रा०प्र० पु० पृष्ठ १८९।

४ वही।

५ एच० एम० इलियट व डाउसन (स०), हिस्ट्री ऑफ इन्डिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स हिस्टोरियन्स १ ७।

६ वही ३।

थी।[1] जो भी हो सुलेमान के उक्त कथन का सम्बन्ध शायद राष्ट्रकूट राजाओं की नियमित सेना से ही है। लेकिन सामन्तों द्वारा जुटाये गये सनिकों की सख्या राजा के नियमित सनिकों से कदाचित अधिक थी।

कतिपय अधिकारियों का वेतन के बदले कुछ खास कर भी सौंप दिये जाते थे। राष्ट्रकूट काल में खाद्य पदार्थों साग-सब्जियों आदि पर जिस कर रूप में लगाये कर स्थानीय अधिकारियों के वेतन में शामिल होते थे।[2] अलतेकर का विचार है कि भोग कर से, जो उपरिकर के ढंग का ही था ऐसे सामान्य या अतिरिक्त करों का बोध होता था जो मुफस्सिल क्षेत्रों के राज कर्मचारियों के उपभोग के लिए थे।[3] भोग कर हमें ऐसी ही एक अन्य कर प्रणाली का स्मरण दिलाता है जो आगे चल कर चन्देलों और गाहड़वालों के शासन काल में प्रच लित हुई। यह राजनीतिक व्यवस्था के आर्थिक सामन्तीकरण का भी आभास देता है क्योंकि यूरोप की सामन्ती प्रणाली के अधीन प्रशासन चलानेवाले सामन्तकों (अरलों) को राज्य प्रत्यक्ष रूप से नकद या जिंस में वेतन न देकर उन्हें कुछ राजस्व ही सौंप दिया करता था।

सामन्तों को अपने राष्ट्रकूट प्रभुओं से बड़े बड़े इलाके मिलते थे। सनिक सेवा के लिए लोगों को पुरस्कृत करने के लिए नई नई जागीरें बनाई जाती थीं। शायद प्रथम अमोघवर्ष ने कक्क की निष्ठापूर्ण सेवाओं के पुरस्कारस्वरूप उसे नर्मदा और ताप्ती के बीच का क्षेत्र दे दिया[4] जो लगभग ८९२ ईस्वी तक गुजरात के राष्ट्रकूटों की शाखा में रहा,[5] और गुर्जर प्रतीहारों के खिलाफ सुरक्षा दुर्ग का काम करता रहा।[6] उधर इन सरदारों ने भी अपने सामन्तों को जागीरें दीं। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि द्वितीय कक्क के अधिकार में ७५० गाँवों का एक क्षेत्र था,[7] जिसमें चन्द्रगुप्त नामक व्यक्ति महासामन्त प्रचण्ड के दण्डनायक के रूप में काम करता था।[8] सम्भवतः यह ग्राम समूह प्रचण्ड को

१ अलतेकर रा० प्र० पु० पृष्ठ २६१।
२ वही पृष्ठ १८१।
३ वही पृष्ठ २१६ मिलाइए पृष्ठ १६४ ५ से।
४ वही पृष्ठ ८६ ७।
५ वही पृष्ठ ८६ ७।
६ इ० ए० १२ १५८ कक्क के प्रभु के लिए स्वामी शब्द का प्रयोग हुआ है।
७ अलतेकर रा० प्र० पु० पृष्ठ ८६ ८७।
८ ए० इ० १ न० ८ श्लोक २०।
९ वही पंक्तियाँ ३४ ५।

द्वितीय कक्क म जागीर क रूप म मिला था, और इसे शायद प्रचण्ड के पिता धवलप्प ने अपनी बहादुरी और निष्ठा क पुरस्कार क रुप म प्राप्त किया था।[1] प्रकारान्तर स यह भी प्रकट हाता है कि जागीर प्राप्त हो जाने पर सामन्त अपनी अपनी जागीरो का प्रशासन स्वय किया करते थ। राष्ट्रकूटा की गुजरात शाखा द्वारा जागीर दन का एक और उदाहरण तृतीय गोवि द क शासन काल म (८१३ म) मिलता है। महासाम त बुद्धवप का जा शायद परवर्ती चालुक्य घरान स सम्बद्ध था १२ गावा क एक समूह पर साम ती अधिकार प्रदान किया गया।[2] इसी प्रकार शायद दक्षिण महाराष्ट्र म सौंदत्ति क रट्टा न भी, जा पहले राष्ट्रकूटा के साम त थे और बाद म परवर्ती चालुक्या के सामन्त हा गय, अपन उपसाम त बनाये थे क्योंकि उन्ह दसवारा का प्रभु[3] कहा गया है। अत अनेक शक्तिशाली सामन्त अपन प्रभु के हस्तक्षेप स सवथा मुक्त रह कर अपन उपसामन्त बनाया करत थे। लेकिन क्षेत्रीय शासक या छोट छाट सामन्त या तो राजा स अनुरोध आग्रह करके अनुदान म गाव दिलात थ या उसस अनुमति लेकर स्वय ग्राम अनुदान देत थ। बनवासी के शासक बकय क निवदन पर प्रथम अमोघवप न एक जन मंदिर को एक गाव दान दिया।[4] इसी प्रकार तृतीय गोविन्द की अनुमति लेकर एक चालुक्य सामन्त ने एक जन मुनी को गाव दिया।[5] इसी तरह, ध्रुव के सामन्त दन्दरगण न एक गाव दान करने क लिए उसकी अनुमति ली।[6] किन्तु बडे और छाटे सामन्तो म अन्तर चाहे जो रहा हो, राष्ट्रकूटा के साम्राज्य म उपसामन्त बनाने की प्रवत्ति बहुत व्यापक थी।

प्रतीहार शासन प्रणाली एक बात म पाला की शासन प्रणाली से भिन्न थी। वह यह कि प्रतीहारा की प्रणाली उपसामन्तीकरण की सुविधा प्रदान करती थी। विचाराधीन काल म हम पाला क राज्य म उपसामन्तीकरण का कोई स्पष्ट उदाहरण नही मिलता। धमपाल के महासामन्ताधिपति नारायण

---

१ तुलना वही पृष्ठ ५३।

२ तद्दत्तसीहरक्कोद्वादशके प्रभुज्यमान। ए० इ०, ३, न० ६ पक्तियाँ १५-१६।

३ इ० ए० १९ २५, मिलाइए अलतेकर स० प्र० पु० पृष्ठ २६३।

४ ए० इ० ४, न० ४, पक्ति ३४।

५ इ० ए० १२ १८।

६ ए० इ० ६ न० २६ पक्तियाँ २७ ८।

वमन ने अपने प्रभु से एक मन्दिर को अनुदान म चार गाव दिला दिय,[1] परन्तु वह स्वय एसा अनुदान नही दे सकता था। यह सम्भव है कि पाल राजाओ से जिन ब्राह्मणो बौद्ध विहारो और मदिरो को अनुदान म गाँव मिले उन्होने इस प्रकार की सम्पत्ति की व्यवस्था के लिए अपने राजस्व या भूमि के कुछ अश अपने उपसामन्तो को प्रदान कर दिये हो। किन्तु इस अनुमान को सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नही है। परन्तु प्रतीहारो के साम्राज्य म उपसामन्तीकरण के कई उदाहरण मिलते हैं। वत्सराज के शासन-काल मे एक दाता ने गुज्जरत्राभूमि मे अनुदान म प्राप्त अपनी भूमि का छठा हिस्सा एक अनुदानपत्र के द्वारा भट्ट विष्णु को दान कर दिया।[2] इससे प्रकट होता है कि धार्मिक अनुदान पानेवाले लोग या सस्थाए अपने अधीनस्थ गाव धम काय के लिए बरोक टोक दान कर सकते थे। जहा तक सामन्त राजाओ का सम्बन्ध है कुछ राजा की अनुमति स अनुदान देते थ और कुछ स्वतन्त्र रूप से। चालुक्य साम त राजा बलवर्मा ने काठियावाड म तरुणादित्य के मन्दिर को बिना अपने प्रभु के पूछे एक गाव दान किया किन्तु उसी घरान के द्वितीय अवनिवमन (८९८) न उसी मन्दिर को एक गाव दान करने के लिए प्रतीहार राजा से अमल म अनुमति ली।[3] दाता ने ग्रहीता को अनुदत्त गावो का उपभोग स्वय करने अथवा दूसरे से कराने और उसकी भूमि को स्वय जोतने बोने या दूसरो से जुतवाने बुवाने के अधिकार प्रदान किय थे।[4] इसस उपसामन्तीकरण की गुजाइश और भी बढ़ गई। परिणामत अब उस सामन्ती भूखण्ड मे चार प्रकार के श्रेणीबद्ध सामन्त बन गय थ। उपसामन्तीकरण का दूसरा उदाहरण ९५९ म अलवर क्षेत्र म एक गुजर सामन्त राजा के अधीन मिलता है। शासक वश के एक निकट दायाद सामन्त मथनदेव न किसी की अनुमति लिये बिना अपनी जागीर से एक गाव मठ क गुरु और उसके शिष्यो को दिया।[5] इस अनुदान म ग्रहीता को कुवत कारयतोवा[6]

१ ए० इ० ४, न० ३४ पक्तिया ३० ३२।
२ वही ५ न० २४ पक्तिया ६ ६।
३ वही, ९ न० १ प्लेट ए और बी।
४ वही प्लेट ए' पक्ति १६।
५ वही न० ३६ पक्तिया ३ ६ १० १४ और २१ ३।
६ ए० इ० ३ न० १ १६ पक्ति १७ मिलाइए पष्ठ २६४, पा० टि० ६ से।

का अधिकार दिया गया था। इसका मतलब यह हुआ कि गाँव पर उसका निर्बाध अधिकार हो गया और वह राजस्व वसूल करने अथवा खेती कराने की जिम्मेवारी किसी को भी दे सकता था। इसी कोटि में पूर्वी काठियावाड़ के एक चाप सामन्त द्वारा ९१४ में दिया गया अनुदान आता है। उसने अपने प्रभु से अनुमति लिये बिना एक शिक्षक को एक गाँव अनुदान में दिया और साथ ही ग्रहीता को यह अधिकार भी दिया कि यदि वह चाहे तो सम्पत्ति को फिर से किसी को दान कर सकता है।[1] इस सामन्त का यह क्षेत्र प्रतीहार राज के चरणों की कृपा से प्राप्त हुई थी।[2] अब इससे भिन्न प्रकार के अनुदान का उदाहरण सामने आता है। प्रतीहार साम्राज्य के एक उच्चाधिकारी माधव ने जो उज्जैन का शासक था चाहमान सामन्त इन्द्रराज के कहने पर इन्द्रराज द्वारा निर्मित एक मन्दिर का अनुदान दिया।[3] भूमि अनुदान पत्र पर माधव ने विदग्ध नामक एक अन्य राज्याधिकारी के साथ हस्ताक्षर किया[4] जिससे प्रकट होता है कि प्रतीहार साम्राज्य में प्रान्तों के शासक भी राजकीय अनुमति के बिना अनुदान नहीं दे सकते थे। इसकी तुलना हम उत्तर बंगाल में महासामन्ताधिपति नारायण वर्मा के अनुरोध पर धर्मपाल द्वारा दिये गये अनुदान से कर सकते हैं। ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि उपसामन्तीकरण की प्रवृत्ति केवल सामन्त राजाओं के अधीनस्थ क्षेत्रों में ही नहीं बल्कि उन क्षेत्रों प्रतीहारों के प्रत्यक्ष शासन में थे उनमें भी मौजूद थी। हाँ यह अवश्य है कि सामन्तों में यह प्रवृत्ति ज्यादा जोर पर थी।

राष्ट्रकूट शासन प्रणाली में धार्मिक अनुदान प्राप्त करनेवाले ग्रहीता उपसामन्त बना सकते थे और अनुदत्त सम्पत्ति फिर से दूसरों को दे सकते थे। ग्रहीताओं को गाँव इस अधिकार के साथ दिये जाते थे कि वे चाहें तो उनका उपभोग स्वयं करें अथवा अन्य किसी को दे दें और भूमि की जुताई-बुआई खुद करें अथवा अन्य दूसरों को दे दें।[5] प्रतीहारों के बहुत थोड़े से अनुदानपत्रों में यह महत्त्वपूर्ण रियायत दी गई है

---

१ इं० ए० १२, पृष्ठ १९५, प्लेट २ पंक्तियाँ १-२४।
२ वही।
३ ए० इं० १४ नं० १३, पंक्तियाँ २० २६।
४ वही, पंक्ति २७।
५ इं० ए० ११, १५६, पंक्तियाँ ४९ ५०, १२, १८४ ५, प्लेट २ पंक्ति १६ प्लेट ३, पंक्ति १, ए० इं० २२ नं० १२ पंक्तियाँ ५४ ५५ आदि।

को हम पाल अनुदानपत्रों पर लागू करें तब तो यही निष्कर्ष निकालना पड़ेगा कि दो दर्जन अधिकारी भूमि अनुदानों से सम्बद्ध थे किन्तु यह बात बुद्धिसगत नहीं प्रतीत होती। वास्तव में राष्ट्रकूट शासन प्रणाली में भी बहुत अधिक अधिकारियों की व्यवस्था नहीं थी क्योंकि प्रतीहारों की तरह राष्ट्रकूट राजा भी अपने अधीनस्थ सामन्त राजाओं और सामन्तों के द्वारा ही प्रशासन चलाते थे। राष्ट्रकूट अभिलेखों में पुलिस अधिकारियों के पदनामों के उल्लेख के अभाव से भी यही निष्कर्ष निकलता है। केवल गुजरात के कक्कराज के अनोली चरोली ताम्रपट में चोरोधरणिकों का उल्लेख हुआ है।[1] यहां भी इस दलील में कोई बल नहीं दिखायी देता कि भूमि अनुदानों में उनके उल्लेख की आवश्यकता नहीं थी।[2] शायद महाराष्ट्र और गुजरात में शान्ति सुव्यवस्था की जिम्मेवारी स्थानीय सामन्तों पर थी, जिससे राज कर्मचारी रखने की जरूरत नहीं रह जाती थी।

पाल और प्रतीहार राजाओं के विरुदों से सामन्तवादी सम्बन्धों का आभास मिलता है। परवर्ती गुप्त राजाओं और पाल तथा प्रतीहार राजाओं ने परम भट्टारक परमेश्वर और महाराजाधिराज आदि विरुद धारण किये किन्तु ये उनकी सत्ता में किसी प्रकार की वास्तविक वृद्धि के द्योतक नहीं हैं। इससे यदि कुछ प्रकट होता है तो यही कि वे इन उपाधियों के द्वारा अपने को सर्वोच्च प्रभु जतलाना चाहते थे और भट्टारक 'ईश्वर तथा राजा' के रूप में छोटे छोटे नरेश और सामन्त उनकी अधीनता स्वीकार करते थे। महादौस्साधसाधनिक महाकार्ताकृतिक महासांधिविग्रहिक[3] आदि पाल राज्याधिकारियों के पदनामों से पूर्व महा शब्द जुड़े होने से प्रकट होता है कि वे भी धीरे धीरे महासामन्त और महाराज जैसे सामन्तों की श्रेणी में आ रहे थे।

प्रतीहारों के साम्राज्य में राज्याधिकारियों के सामन्तीकरण की प्रबल प्रवृत्ति पाई जाती है। द्वितीय महेन्द्रपाल का बलाधिकृत कोकट्ट परमेश्वर पादोपजीवी कहलाता था।[4] इसके दो समकालीन तन्त्रपाल तथा महादण्डनायक माधव

---

१ वही।
२ वही।
३ ए० इ० १७ न० १७ पंक्तियाँ २६ ३३, २९ न० १ बी पंक्तियाँ ३१ ३४।
४ ए० इ० १४ न० १३ पंक्तिया १६ २०।

महासामन्त[1] कहलाते थे। फिर एक नगर का शासक उण्डभट महाप्रतीहार के पद पर था, किन्तु वह महासामन्ताधिपति की उपाधि से विभूषित था।[2] स्पष्ट ही इन उपाधियों के साथ कुछ अधिकार और कर्त्तव्य जुड़े रहते होंगे, किन्तु हम उनकी कोई जानकारी नहीं है। फिर भी, इतना स्पष्ट है कि महा-सामन्त का स्थान काफी ऊँचा था और उसकी प्रजा जब धार्मिक प्रयोजनों के लिए स्तम्भ खड़े करती थी तो उसके और उसके प्रभु के शासन का उल्लेख करती थी।[3]

राष्ट्रकूटों के साम्राज्य में राज्याधिकारियों को सामन्तवादी नाम और रुतबा देने की प्रथा जोर से चल पड़ी थी। ध्रुव का महासान्धिविग्रहिक श्री मादल्ल पचवाद्यों के प्रयोग के अधिकार से सम्पन्न सामन्त था।[4] प्रान्तीय शासकों को महासामन्त या महामण्डलेश्वर का दर्जा दिया जाता था,[5] और वे अक्सर राजा या रासा (कन्नड) विरुद धारण किया करते थे।[6] कुछ विषय पति भी सामन्त राजाओं वाली स्थिति का उपभोग करते थे।[7] भुक्तियों या तालुकों के प्रधान अधिकारी भोगिक या भोगपति भी कभी-कभी सामन्त राजाओं वाली उपाधियाँ धारण करते थे।[8] और यही बात बड़े बड़े नगरों के शासकों के साथ भी थी। कर्नाटक स्थित सारतुर का शासक कुप्प प्रथम अमोघवर्ष का महा सामन्त था।[9] प्रतीहारों के साम्राज्य में सीयडोणि नगर का शासक भी सामन्त था। इसी तरह सैनिक अधिकारियों को भी बड़ी चमक दमकवाली पोशाकें दी जाती थीं और उन्हें कुछ ऐसी सुविधाएं और अधिकार भी मिले हुए थे जिनका उपभोग सामन्त सरदार करते थे। चतुर्थ गोविन्द के अधीन विसोत्तर नामक ब्राह्मण दण्डनायक को ९३० में राजसी वस्त्र और छत्र दिये गये और हाथियों

---

१ ए० इ० पंक्ति २०
२ वही १ पृष्ठ १७३, पंक्ति ५।
३ वही, ४ न० ४४, पंक्तियाँ १ १०।
४ ए० इ० १०, न० १६, पंक्तियाँ ६५ ६६।
५ वही १६ न० ४ ए पंक्ति ४।
६ अलतेकर, रा० प्र० पृ०, पृष्ठ १७३।
७ वही पृ० १७७।
८ वही पृ० १७८।
९ वही पृष्ठ १८२।

तथा रथा का उपयोग करने की अनुमति दी गई।[1] इसे हम सामान्य वस्तु-स्थिति का एक उदाहरण मान सकते हैं। युवराज को भी सामन्ती विरुद दिये जाते थे।[2]

उच्च राज कर्मचारियों के नाम के साथ सामन्ती उपाधियाँ क्यों मिलती हैं ? या तो सामन्तों अथवा महासामन्तों को विभिन्न राजपदों पर नियुक्त किया जाता था या राज्याधिकारियों को ही स्वीकृत सामन्ती ओहदे दिये जाते थे। पहली सम्भावना कई कारणों से ठीक नहीं प्रतीत होती। पद पुराने थे, जब कि सामन्ती उपाधियाँ नई थीं। दूसरे, प्रतीहारों के साम्राज्य में कुछ ऐसे राज-कर्मचारी थे जिन्हें प्रारम्भ में सामन्ती उपाधियाँ प्राप्त नहीं थीं। तीसरे यदि हम प्रथम सम्भावना को स्वीकार कर लेते हैं तो उसका मतलब यह होगा कि युवराज को भी पहले महासामन्त बनाया जाता था और तब उसे युवराज पद पर अभिषिक्त किया जाता था। यह असंगत निष्कर्ष होगा क्योंकि प्रायः ज्येष्ठ पुत्र ही जन्मतः युवराज माना जाता था। इसलिए दूसरी सम्भावना ज्यादा ठीक जान पड़ती है। सामन्तीकरण की इस प्रक्रिया ने पूरे समाज को प्रभावित किया और राष्ट्रकूटों के राज्य में सामन्त राजाओं के अतिरिक्त गैरसैनिक और सैनिक दोनों वर्गों के राज्याधिकारियों को कोई-न-कोई सामन्ती दर्जा प्रदान किया गया। ऐसा लगता है कि जब तक किसी पद को सामन्ती रुतबा नहीं दिया जाता था तब तक उसका अधिक महत्त्व नहीं होता था।

राज्याधिकारी उत्तरोत्तर सामन्ती ढाँचे में ढल रहे थे इसका संकेत इस बात से मिलता है कि राजा और सामन्तों तथा राजा और राज्याधिकारियों के सम्बन्धों का वर्णन करने के लिए एक ही तरह की शब्दावली चल पड़ी। यद्यपि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में एक स्थान पर राजोपजीवी शब्द का प्रयोग हुआ है[3] किन्तु इस बात के अभिलेखों में राज्याधिकारियों और सामन्तों के लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक होने लगा। गुप्त-काल के परिव्राजक अभिलेख में पादपिण्डोपजीवी[4] शब्द का प्रयोग हुआ है। अधिकांश पाल अभिलेखों तथा अन्य अभिलेखों में भी इस तरह के कई शब्दों का प्रयोग

१ ए० इ० ११ ३ ८ (न्याय १०)।
   इण्डियन ऐ० ३० पृ० पंक्ति १५३।
   अर्थशास्त्र २ ३।
४ का० इ० इ० ३ परिशिष्ट १० ११।

होते दखत हैं। उदाहरण के लिए "पादपद्मोपजीवी"[१] "राजपादोपजीवी"[२] "पादप्रसादोपजीवी"[३] "परमेश्वरपादोपजीवी"[४] आदि।

कभी कभी सामन्तों के लिए 'भत्य' और 'सम्बन्धी' शब्दों का भी प्रयोग होता था, जैसा कि हम हरिभद्र सूरि (७०० ७७०) की प्राकृत पुस्तक 'समरच्चकहा'[५] में देखते हैं। इस कृति से ज्ञात होता है कि पराजित सरदार विजेता प्रभु और उसके सामन्तों के 'कुटुम्बी' बन जाते थे।[६] इस प्रकार एक ही राजा से सम्बद्ध दो सामन्त जिनमें से एक नागर था और दूसरा वैश्य, एक-दूसरे के साथ "सम्बन्धिन" माने जाते थे। इस शब्द को डॉ० दशरथ शर्मा "कुटुम्बी" के अर्थ में लेते हैं।[७] लेकिन न तो वे एक ही परिवार के थे और न उनके परिवारों में कोई वैवाहिक सम्बन्ध ही था। फिर भी "सम्बन्धिन" शब्द का प्रयोग इसलिए करना पड़ता था कि प्रभु और उसके सामन्तों के सम्बन्धों का वर्णन और किसी शब्द से ठीक-ठीक नहीं होता था। एक ही प्रभु के दो सामन्तों को परस्पर सम्बन्धी ही बतलाया जाता था। उक्त कृति से ही हमें यह भी ज्ञात होता है कि जब सीमान्त क्षेत्र के एक सरदार ने अपने प्रभु के विरुद्ध विद्रोह किया तो उस प्रभु के पुत्र ने अपने लोगों को उसके विरुद्ध बहुत सख्त कारवाई न करने की सलाह देते हुए कहा "यह विग्रह तो बहुत मामूली सरदार है। लेकिन वह हमारे पिता को कर दिया करता था। इसलिए यह हमारा सम्बन्धी है और हम उसके खिलाफ कोई सख्त सैनिक कारवाई नहीं करनी चाहिए।"[८] राजकुमार अपने पिता के जत्थे विग्रह को अपना बड़ा भाई मानता था।[८] मतलब यह हुआ कि राजकुमार और वह सामन्त दोनों राजा अथवा उस एक ही प्रभु के आश्रित थे। तासकवन का एक राजकुमार (क्षत्रिय) अपने को शबर सरदार का छोटा भाई मानता है इससे प्रकट होता है कि सामाजिक

१ ए० इ० २२ न० ४७, पंक्तियां १५।
२ 'भागलपुर प्लेट ऑफ नारायणपाल' इ० ए० ४७ ३०८ प० ३७।
३ का० इ० इ० ३ न० ४६ पंक्तियां ११।
४ ए० इ० १८ न० १३ पंक्तियां १६ २०।
५ प्रोसिडिंग्स ऑफ द ट्वेंटीफोर्थ सेशन ऑफ द इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस (दिल्ली, १९६१) पृष्ठ ८० १।
६ वही।
७ वही पृष्ठ ८१।
८ वही।

सम्बन्ध बराबर वश-परम्परा से ही, जिस पर वण धम आश्रित था, निर्धारित नही होते थे कभी कभी इन सम्बन्धो के पीछे राजनीतिक तथा सनिक कारण भी रहा करते थे। धमशास्त्रो के अनुसार राजा के आश्रित इस आदिवासी सरदार को अनाथ कहना चाहिए लेकिन उसे राजा का पुत्र माना गया है।[1] किन्तु पुरालेखो मे सम्बन्धी और अन्य शब्दो का प्रयोग सामन्ती सम्बन्धो के सन्दभ मे नही हुआ है। सामन्त सरदारो और राज्याधिकारियो का वणन साधारणतया राजा के 'पादपद्मोपजीवी' के रूप मे ही किया गया है।

सामन्तो का मुख्य कत्तव्य अपने प्रभु के प्रति निष्ठा रखना और उसकी सनिक सहायता करना था। निष्ठा व्यक्त करने के लिए वे अपने अनुदानपत्रो मे प्रभु के नाम का उल्लेख करते थे जसा कि प्रतीहारो के सामन्त किया करते थे। चाहमान[2] चालुक्य[3] गुहिलोत[4] और कलचुरि सामन्त अपने प्रतीहार प्रभुओ को सनिक सहायता देते थे। देवपाल के समय से पाल राजाओ द्वारा जारी किये गये सभी अनुदानपत्रो मे ऐसा वणन मिलता है कि उनके जय-स्कन्धावारो मे उत्तरी भारत के बहुत से अधीनस्थ नरपति अपनी अपनी सेनाओ के साथ उनकी सेवा के लिए उपस्थित थे।[5] इसमे अतिरजना हो सकती है लेकिन इसमे सन्देह नही कि पाल प्रभुओ के जय स्कन्धावारो मे स्थानीय सरदारो को सेना के साथ हाजिर होना पडता था। यह तथ्य तो निर्विवाद है कि १०७० ईस्वी के आस-पास दवर्त्तों का विद्रोह दबाने के लिए पाल राजा ने अपने सामन्तो से बहुत बडे पमाने पर सनिक सहायता प्राप्त की थी।

---

१ अभिलेखो मे सम्बन्धी शब्द से सबसे ज्यादा मिलता जुलता अन्य दनवाले शब्द समुच्चय के रूप मे हम यथासम्बन्ध्यमानकान को ले सकते है। राष्ट्रकूटो के अनुदानपत्रो मे इस शब्द समुच्चय का प्रयोग राष्ट्रपति विषयपति ग्रामकूट युवक नियुक्तकाधिकारिक महत्तर आदि के विशेषण के रूप मे हुआ है। स्पष्ट है कि यहाँ इस शब्द समुच्चय से किसी प्रकार के सामन्ती सम्बन्ध का बोध नही होता। यह तो उन अधिकारियो के लिए प्रयुक्त एक विशेषण मात्र है जो भूमि अनुदान से सम्बद्ध थे।

२ इ० ऍ० इ० पी०, ४, पृष्ठ २२ २३ २७।

३ वही पृष्ठ २५।

४ वही।

५ उदीचीनानेक नरपति प्रभति परमेश्वरसेवासमायाताशेषजम्बूद्वीप भूपाल ।' ए० इ०, १७, न० १७, पक्तियाँ २२ २३।

राष्ट्रकूट अभिलेखा स हमे सामन्तों के अधिकारो और सुविधाग्रा तथा मनव्यो के बारे म कुछ जानकारी मिलती है। सामन्ता द्वारा 'पचमहाशब्द'' प्राप्त करना बहुत बड सम्मान का विषय माना जाता था। प्रतीहार[1] और राष्ट्रकूट[2] राजाग्रा ने ग्रपन कुछ सामन्ता को यह प्रतिष्ठा पद प्रदान किया था। निस्सन्देह, किसी भी सामन्त के लिए यह सबसे बडा सम्मान था, क्योंकि युवराज को भी इससे बडा कोई सामन्ती सम्मान प्राप्त नहीं था। कुछ सामन्त राजाग्रा ने तो परमभट्टारक महाराज परमेश्वर जसा गरिमापूर्ण विरुद धारण करने के बाद भी इस उपाधि को नही छोडा। बस, यह उपाधि असम और उडीसा म तो प्रचलित थी, किन्तु पाल साम्राज्य म नहीं। राष्ट्रकूटा के ग्रधीन सामन्ता को सामन्ती सिंहासन, चँवर पालकी और हाथी का उपयोग करने की भी अनुमति दी जाती थी।[3] लेकिन, पालो और प्रतीहारा के राज्या म हम इस प्रथा की कोई जानकारी नही मिलती। जसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, सामन्ता का एक महत्वपूर्ण अधिकार यह था कि व अपने उपसामन्त बना सकें। इन उपसामन्तो म स भी कुछ को 'पचमहाशब्द' का प्रयोग करने का अधिकार दिया जाता था। यहा हम कारण के शिलाहारा के सामन्त महासामन्त निम्वदेवरस[4] और गुजरात के राष्ट्रकूटा के सामन्त महासामन्त उद्धवरस[5] के उदाहरण ले सकते हैं। बड़े बड सामन्ता को, सिवाय इसके कि उन्हें अपने अपने प्रभुग्रा का ग्रधीनता की स्वीकृति-स्वरूप कर देने पडते थे, ग्रपन ग्रपन क्षेत्रा के राजस्व पर विशेष अधिकार प्राप्त था। वे चाहे जिसे कर सम्बन्धी अधिकार द सकते थे[1] अनुदान म गाँव भी दे सकते थे। इसके लिए [illegible] ह कभी अपने प्रभु की अनुमति लनी पडती थी और कभी नही भी लेनी पडती थी। पश्चिमी

---

१ ए० इ०, ४, न० ४८ पक्तियाँ ११० ८, न० १, पक्ति ३।

२ वही, २२ न० १२, पक्ति ३६ इ० ए०, १२, १८४, प्लेट २ 'वी, पक्ति १, इन अनुदानपत्रा म 'समाधिगता शेषमहाशब्द', शब्द समुच्चय का प्रयोग हुआ है लेकिन देखिए अलतेकर स० प्र० पु० के पृष्ठ ४२ म उद्धृत द्वितीय ककक का अजोली छरोली अभिलेख।

३ अलतेकर, स० प्र० पु०, पृष्ठ २६३।

४ ए० इ०, १६, न० ८ 'ए, पक्तियाँ ४५।

५ वही, ३, न० ६, पक्तियाँ १२ १६।

३ इ० ए०, १३ १३० १, पक्तिया ४५ ५८, १२, १३६।

चालुक्यों के राज्य में सामन्त राजकीय अनुमति के बिना गाँव बेच भी सकते थे।[1]

अपने प्रभु के प्रति सामन्तों के असैनिक और सैनिक दोनों तरह के कर्त्तव्य होते थे। उनका सबसे बड़ा असैनिक कर्त्तव्य प्रभु को नियमित रूप से कर देना था, जिसे प्रभु कभी कभी व्यक्तिशः आकर वसूल करता था। राष्ट्रकूट राजा तृतीय गोविन्द ने अपने सामन्त राजाओं से कर वसूल करने के लिए अपने साम्राज्य के दक्षिणी हिस्से का दौरा किया था।[2] बाद की एक कृति 'नीतिवाक्यामृत' से ज्ञात होता है कि प्रभु के घर पुत्र जन्म या विवाहोत्सव के अवसर पर सामन्त दरबार में विशेष उपहार भेंट करते थे।[3] असैनिक ढंग के अन्य कर्त्तव्यों में राजकीय आदेशों का पालन तथा उत्सवों के अवसर पर और समय समय पर राजदरबार में सामन्तों की उपस्थिति शामिल थी।[4] राजदरबार में उपस्थित होकर वे अपनी राजभक्ति का परिचय देते थे। स्पष्ट ही प्रभु को सलाह मशविरा देना या केन्द्र में उसकी कोई प्रशासनिक सहायता करना सामन्तों के कर्त्तव्यों का अंग नहीं था।

सामन्तों का सैनिक कर्त्तव्य अधिक महत्त्वपूर्ण था और उनकी यह जिम्मेवारी थी कि युद्ध के अवसर पर प्रभु की सैनिक सहायता करें। राष्ट्रकूटों के सामन्तों को एक खास संख्या में सैनिक दल भेजने पड़ते थे और अपने प्रभु की लड़ाइयों में उसके कंधे से कंधा मिला कर लड़ना पड़ता था। गंगों के विरुद्ध राष्ट्रकूटों की लड़ाई में वेंगी के चालुक्यों ने जो उनके सामन्त थे उन्हें सैनिक सहायता दी। सामन्त राजा नरसिंह चालुक्य जो तृतीय इन्द्र का सामन्त था गुर्जर प्रतीहार राजा महीपाल के विरुद्ध इन्द्र के युद्ध में उसके साथ होकर बड़ी बहादुरी से लड़ा था।[6] राष्ट्रकूटों ने गुजरात में अपना एक उपराज्य स्थापित किया था जो व्यवहारतः बहुत बड़ी जागीर ही था। इसकी स्थापना का उद्देश्य गुर्जर प्रतीहारों से मालवा की रक्षा करना था।[7] बाद में १० वीं सदी में इस प्रदेश का आधिपत्य प्राप्त करने के लिए [illegible] और राजकुल भी एक दूसरे से लोहा लेते रहे।

---

१ ए० इ० ६ २०७।

२ इ० ए० ११ १२७।

ई० ३२ अलतेकर, म० प्र० पु० के पृष्ठ २६५ में उद्धृत।

४ वही पृष्ठ २६६।

५ वही पृष्ठ ६१ ६६।

६ नाग वर्मा कृत कर्नाटक भाषाभूषण म० एम० राइस भूमिका पृष्ठ १४।

७ इ० ए० १२ १५८।

जिस प्रकार राष्ट्रकूट राजा अपने सामन्तो से सैनिक सेवा की अपेक्षा रखते थे, उसी प्रकार उनके सामन्त भी अपने उपसामन्तो से सैनिक सेवा की अपेक्षा रखते थे। इसका प्रमाण हम शिलाहार महामण्डलेश्वर गण्डरादित्यदेव के कोल्हापुर अभिलेख मे मिलता है। यद्यपि अभिलेख ११२५ ईस्वी का है किन्तु इसे उस समय की वस्तुस्थिति का द्योतक माना जा सकता है, जब शिलाहार राष्ट्रकूटो के सामन्त थे। इसमे विभिन्न सामन्तो के साथ महासामन्त निम्बदेवरस के सम्बन्धो का वर्णन हुआ है। इन सामन्तो मे से कुछ शत्रु भाव और कुछ मित्र भाव रखनेवाले थे। यहाँ मित्र भाव और शत्रु भाव से तात्पर्य, शायद निम्बदेवरस के प्रभु गण्डरादित्य के प्रति मित्र भाव और शत्रु भाव रखने वाले सामन्तो से है। महासामन्त के पराक्रम का वर्णन करते हुए उसे 'विजय-लक्ष्मी का स्वामी शत्रु सामन्तो की पत्नियो के भाल की शोभा का भञ्जक, वीरो की पत्नियो का प्रिय, वैरी सामन्त रूपी मेघो का विघटन करने वाला समीर नागलदेवी के लिए मदमस्त हाथी विद्वेषी सामन्तो के लिए प्रलय काल, योग्य सामन्तो के लिए गोपाल, तारासुर के विरोधी सामन्तो के लिए वीरकुमार, टोण्ड सामन्त रूपी कमलो को कुचलनेवाला प्रचण्ड हाथी सामन्त शिरोमणि गण्डरादित्यदेव की दक्षिण भुजा मे दण्ड रूप'[1] कहा गया है। महासामन्त के पराक्रमो की यह प्रशस्ति शब्दश सच्ची न हो तो भी इससे इतना तो प्रकट होता ही है कि शत्रु सामन्तो का दमन करना और मित्र सामन्तो की रक्षा करना महासामन्त का कर्त्तव्य था।

प्रभु अपने सामन्त राजाओ पर तरह-तरह से नियन्त्रण रखता था। राष्ट्रकूट साम्राज्य मे सामन्त राजाओ को अपने यहा प्रभु का एक दूत रखना पड़ता था। वह मोटे तौर पर राज काज की निगरानी करता था और उस पर नियन्त्रण रखता था। उसकी तुलना हम ब्रिटिश शासन काल मे भारत के देशी राज्यो मे नियुक्त रेजीडेण्टो से कर सकते हैं। सुलेमान कहता है कि सर्वोच्च सत्ताधारी के प्रतिनिधि का जैसा स्वागत सत्कार होना चाहिए वैसा ही उसका स्वागत

---

१ विजयलक्ष्मीकान्तम् रिपुसामन्तसीमन्तिनीसीमन्तभंगम् वीरवारांगणाप्रिय भुजंगम् वैरीसामन्त मेघविघटनसमीरणम् नागलदेवीय गन्धवारणम् विद्विष्टसामन्त विलयकालम्, सामन्तगण्डगोपालम्, दायादसामन्ततारासुर वीरकुमारम् सामन्तकेदारम्, टोण्डसामन्तपुण्डरीकपदप्रचण्डमदवेदण्डम् गण्डरादित्यदेवदक्षिणभुजादण्डम् सामन्तशिरोमणि। ए० इ०, १६ न० ८ ए पंक्तियाँ ५८।

किया गया। सम्राट सारी वस्तु स्थिति से अवगत रहने के लिए बहुत-से गुप्तचर रखता था। कहते हैं, प्रथम अमोघवर्ष विरोधी राजाओं के दरबारों में वारांगनाएं रखता था, जो शायद सम्राट के प्रतिनिधियों के अधीन काम करती थीं।[1] प्रभु अपने सामन्तों के राज्यों से जब-तब कुछ गांव अपने प्रियजनों को देकर उन्हें अपनी सत्ता का बोध कराता रहता था। उदाहरण के लिए, द्वितीय कृष्ण ने महासामन्त प्रचण्ड के राज्य में पड़नेवाला एक गांव किसी को दे दिया।[2] गैर वफादार सामन्त राजाओं को अपमान और प्रतिशोध का भय दिखाकर नियन्त्रण में रखा जाता था। विद्रोह विफल होने पर तरह-तरह से उनका अपमान किया जाता था। वेंगी के शासक को विजेता द्वितीय गोविन्द के अस्तबल की सफाई का काम करने पर मजबूर किया गया था।[3] विद्रोह के दण्ड स्वरूप सामन्त राजा कीमती हीरे जवाहरात, कोषों, नृत्यांगनाओं, घोड़ों और हाथियों से वंचित कर दिये जाते थे।[4] यहां तक कि उनकी पत्नियों को भी कारागार में डाल दिया जाता था।[5] कभी-कभी पराजित सामन्त राजाओं की सारी सम्पत्ति और राज्य छीन लिये जाते थे और उन्हें राजा अपने आश्रितों के निर्वाह के लिए उनके बीच बांट देता था। तृतीय कृष्ण ने दक्षिण आर्काट जिले में बाना का राज्य जीतने के बाद ऐसा ही किया था।[6]

सामन्तों के साथ व्यवहार करने के लिए राज्य ने क्या व्यवस्था कर रखी थी, इसकी हम कोई स्पष्ट जानकारी नहीं है। राष्ट्रकूटों के राज्य में तो शायद महासंधिविग्रहिक युद्धकाल में और शान्तिकाल में भी सामन्तों के प्रति राजकीय नीति का संचालन करता था। अलतेकर के विचार से यह अधिकारी सभी भूमि अनुदानपत्रों के मसविदे तैयार करता था क्योंकि पर राज्य विभाग के पास दाता के पराक्रमों और वंश वृक्ष के बारे में सबसे सही और ताजी जानकारी रहती थी जिसे अनुदानपत्र में सम्मिलित किया जाता था।[7] लेकिन, अनुदानपत्र में उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान दाता और ग्रहीता तथा प्रश्नगत गांव

१ अलतेकर स० ग्र० पु० पृ० २६८।
२ ए० इ० १ नं० ८, पंक्तियां ३३-४।
वही १८ नं० २६ श्लोक ६, ७।
४ अलतेकर स० ग्र० पु०, पृष्ठ २६८।
५ वही।
६ ए० इ० ४ नं० ४० श्लोक ३४-५।
७ अलतेकर स० ग्र० पु० पृष्ठ १६६।

के नाम-पते ठौर ठिकान को दिया जाता था, और इन सबका तो ज्यादा सही-सही राजस्व अधिकारी ही दर्ज कर सकता था। 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' म बताया गया है कि सांधिविग्रहिक को आय-व्यय का ज्ञान होना चाहिए, और अलग अलग इलाकों के लोगों की जानकारी और विभिन्न क्षेत्रों की भाषा का ज्ञान होना चाहिए।[1] स्पष्ट है कि भूमि अनुदान के कार्य के लिए इन गुणों की आवश्यकता थी। भूमि अनुदान सांधिविग्रहिक को इसलिए करना पडता था कि तरह-तरह के सामन्त राजाओं के साथ सम्बन्ध बनाये रखने में इस नीति का प्रमुख स्थान था। ११वी सदी म राष्ट्रकूटो का प्रभुत्व समाप्त करनेवाले कल्याणी के चालुक्य वंश के राजा तृतीय सोमेश्वर की कृति 'मानसोल्लास (रचना-काल ११३१) म कहा गया है कि सांधिविग्रहिक को सामन्तो, मण्डलेशो और विशेषकर नायको को अपने सामने उपस्थित होने को मजबूर करने और उन्हे पदच्युत तथा नये लोगो को इन स्थानो पर प्रतिष्ठित करने म कुशल होना चाहिए।[2] चूँकि शान्ति काल म सामन्तो के सम्बन्ध म राज्य का मुख्य कार्य अनुदान म दी गई भूमि पर लगाया कर वसूल करना या जागीरो पर सामन्तो के क्षेत्राधिकार का निर्धारण और नियमन करना होता था इसलिए सांधिविग्रहिक धर्मेतर अनुदानपत्र ही नही बल्कि मंदिरो और ब्राह्मणो से सम्बद्ध अनुदानपत्र भी तैयार किया करता था।[3]

सम्राट के नियन्त्रण के बावजूद सामन्त लोग कभी-कभी केन्द्रीय राजनीति मे हस्तक्षेप किया करते थे। द्वितीय गोविन्द के सामन्तो ने उसके खिलाफ विद्रोह करके राजमुकुट उसके चाचा तृतीय अमोघवर्ष को प्रदान किया और राष्ट्रकूट साम्राज्य के गौरव की रक्षा करने के लिए उसे राजमुकुट स्वीकार करना पडा। अलतेकर के विचार से उपर्युक्त अर्थ देनेवाले इस शब्द समुच्चय 'सामन्तरथरटश्राज्यमहि मालम्बायमभ्यर्थित'[4]—का प्रयोग यहा लाक्षणिक ढग से किया गया है।[5] लेकिन हम मालूम है कि बगाल म पाल वंशीय राजा और उडीसा म सोमवंशीय राजा कभी कभी चुनाव द्वारा नियुक्त किये जाते

१ २ २४ १६ १७।

२ २ श्लोक १२८।

३ याज्ञ० मिताक्षरा, १ ३१६ २०।

४ ए०इ०, ४ न० ४० श्लोक २१, ५, न० २०, श्लोक १६।

५ अलतेकर स० प्र० पु०, पृष्ठ १५१।

थे। इस तथ्य को देखते हुए तृतीय अभिलेख के सुझाव की सत्यता प्रमाणित नहीं प्रतीत होती। इससे प्रकट होता है कि सामन्त लोग राजाओं को पदच्युत और नये राजाओं को सिंहासनारूढ़ भी कर सकते थे। हाँ, यह सही है कि इसके प्रमाण बहुत कम प्राप्त हैं और सामन्तों को इस कार्य की संवैधानिक मान्यता प्राप्त नहीं थी।

स्थानीय शासन में, जो धीरे धीरे संकुचित पारिवारिक परिधियों में सिमटता चला जा रहा था, सामन्तों और अभिजात तत्त्वों का स्थान काफी महत्वपूर्ण था। १० या १२ गाँवों के एकांशों की देख रेख करनेवाले अधिकारियों की नियुक्ति जिला अधिकारी अपने सगे सम्बन्धियों में से करते थे। प्रथम अभिलेख के समय में धारवाड़ जिले के एक अधिकारी ने जो ५०० गाँवों के एक भाग का शासक था, १२ गाँवों के एक छोटे इलाके की व्यवस्था अपने एक पुत्र को सौंप रखी थी।[1] बनवासी के शासक बंकेय ने अपने पुत्र कुन्दट्ट को किडगुडु में द्वादश (बारह गाँवों के समूह) का प्रशासन सँभालने के लिए नियुक्त किया।[2] अल्तेकर के अनुसार रठिक, राष्ट्रीय, राष्ट्रपति और राष्ट्रकूट शब्दों का प्रयोग स्थानीय सरदारों, जिला अधिकारियों और बड़े बड़े भूमिपतियों के लिए किया जाता था।[3] कुछ अभिलेखों में विषयमहत्तरों और राष्ट्रमहत्तरों का भी उल्लेख मिलता है।[4] ये भी स्थानीय शासन व्यवस्था से ही सम्बद्ध जान पड़ते हैं किन्तु ये शायद चुने नहीं जाते थे। ये पद अभिजात लोगों को वंश परम्परा से प्राप्त होते थे।

अनुशासनपत्रों में केवल गाँवों के महत्तरों के उल्लेख से प्रकट होता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में एक प्रकार का सामाजिक वर्गीकरण था। बंगाल और बिहार के पाल अनुशासनपत्रों में ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक सभी वर्गों के लोगों को सम्बन्धित अनुदानों की सूचना दी गई है। किन्तु महाराष्ट्र और गुजरात के राष्ट्रकूट अनुदानपत्रों में उनका स्थान महत्तरों या महत्तराधिकारियों ने ले रखा है।[5] इनमें से कुछ का रुतबा और भी बढ़ गया और ये सामन्त बन गये। महत्तर गोगु राणक जिसका प्रथम अभिलेख के एक अनुशासनपत्र में का

१ ए० इ० ६, १०७।
२ वही ७ २१४।
३ अल्तेकर रा० प्र० पु०, पृष्ठ २६।
४ वही पृष्ठ ११८।
५ इ० ए०, १२ २५१ प० ४१, २६३ पंक्तियाँ ४५ ४६।

प्रदान किया,[१] इसका एक उदाहरण है। दूसरा उदाहरण द्वितीय वर्ण के समय में राणक पद का उपभोग करनेवाला एक महत्तरमर्वाधिकारी है।[२] स्पष्ट है कि महत्तरों का भवना बढ़ने से ग्रामीण आबादी के दूसरे वर्गों के महत्त्व में कमी आई होगी। महत्तरों के रूप में समाज में एक ऐसा वर्ग पैदा हो गया था जिसमें राष्ट्रकूट राजा अपने उच्चाधिकारी चुना करते थे और इस वर्ग से राष्ट्रकूटों के राज्य में सामन्तवाद के विकास को भी उत्तेजन मिला।

राष्ट्रकूट शासन प्रणाली की एक विशेषता थी राज्य और शिल्प एवं व्यापार श्रेणियों के बीच सामन्ती सम्बन्धों का विकास। चालुक्य राजा जगदेकमल्ल ने दम्बल के व्यापारियों की एक श्रेणि को छत्र, चँवर और राजकीय सनद प्रदान की।[३] राष्ट्रकूटों के अधीन भी श्रेणियों की स्थिति ऐसी ही जान पड़ती है, क्योंकि राष्ट्रकूटों के सामन्त शिलाहारों के कोल्हापुर[४] और मिराज[५] में प्राप्त अभिलेखों में ऐसा उल्लेख है कि वीर बलजा (बहादुर व्यापारियों के समूह) के ध्वज पर पहाड़ी का निशान अंकित था। छत्र, चवर और ध्वज राजाओं द्वारा श्रेणियों को दिये गये अधिकारों के प्रतीक थे और ये हमें मध्यकालीन यूरोप में गिल्डों को दी जानेवाली सामन्ती सनदों का स्मरण कराते हैं। जिस प्रकार सामन्तों को अपने प्रभु को सैनिक देने पड़ते थे उसी प्रकार इन श्रेणियों के लिए भी अपने प्रभु को सैनिक देना आवश्यक था। कोल्हापुर अभिलेख में व्यापारियों की श्रेणि का वर्णन 'ऐसे साहसी शूर-वीरों के रूप में किया गया है जो परम यशस्वी थे, जिनके हृदय में अपने बाहु-बल से विजयश्री के वरण के लिए उमंग थी, जिनका पराक्रम विश्व विश्रुत था।'[६] चालुक्यों के राज्य की एक ऐसी ही श्रेणि का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'इसके सदस्यों के हृदय में प्रचण्डता और शूरता की देवी वास करती है।'[७] इस सबसे प्रकट होता है कि श्रेणियों के पास अपने सैनिक होते थे और वे शायद अपने

१ ए० इ० १८, २४७।
२ अलतेकर, स० प्र० पु०, पृष्ठ १६०।
३ इ० ए०, १०, १८८।
४ ए० इ०, १९, न० ४ पंक्ति १२।
५ वही की पंक्तियाँ २ ३। चालुक्य अभिलेख (इ० ए०, ५, ३४४) में भी श्रेणि के ध्वज का उल्लेख है।
६ ए० इ० १९, ३४।
७ इ० ए० १० १८९।

अपने प्रभुओ की सामरिक सहायता भी करती थी।[१] पाटलिपुर,[२] मुद्गगिरि[३]
पाला की कोई स्थायी राजधानी नही थी। पाटलिपुर, विलासपुर या
रामावती[४] (मालदा जिले मे आधुनिक गौड के पास), विलासपुर या
हरधाम[५] साहसगण्ड,[६] काचनपुर[७] और कपिलवासर[८] का उल्लेख उनके जय
स्कन्धावारो के रूप म हुआ है। इनम से अतिम चार की ठीक स्थिति की
जानकारी अभी नही मिल पाइ है। ये सभी स्कन्धावार गगा तट पर स्थित
थे और यह नदी पाल साम्राज्य का एकता के सूत्र म बाधने का बहुत बडा
साधन थी। लेकिन राजधानी के बराबर बदलते रहन स निश्चय ही विघटन
की प्रवृत्ति को बढावा मिला। राजधानी परिवतन स प्रशासन के विकेन्द्री
करण का बोध होता है जो सामन्ती राज्य व्यवस्था म पाया जाता है। इस
दृष्टि से प्रतीहारो के राज्य म अधिक स्थायित्व था क्योकि उनकी राजधानी
के रूप म केवल दो नगरो—उज्जयिनी और महोदय अर्थात कन्नौज का ही
उल्लेख मिलता है।[९] उन्हें सामन्त सरदारो पर अपनी सत्ता का रोब जमान के
लिए अपनी राजधानी बदलन की जरूरत कभी महसूस नहीं हुई।
पाला के विपरीत राष्ट्रकूटो की एक स्थायी राजधानी थी, जिसका नाम

१ ए० इ० ४ न० ३८।
२ प्रा० बशम का कहना है कि चुल्लवश क अनुसार मणिग्राम लका के
राजाओ को किराय क सनिक दिया करता था।
३ भागलपुर प्लेट आफ नारायण पाल इ०ए० ४७ पृष्ठ ३०४, पक्तियाँ
२७ ८।
४ द मनहालि कापर प्लेट एटसटरा ' ज० ए० सो० ब० ६८ भाग १, पृष्ठ
६६, पक्ति ३०।
५ इ० ए० १८ १९६ ९८ २१ ९७ १०१ ए० इ० न० २३ पक्ति
२८ मिलाइए वही २६ ४ पा० हि० ३।
६ ए० इ० २६ न० १ बी पक्ति २६।
७ वही न० ७ पक्ति २४।
८ वही २३ न० ४७ पक्ति २।
९ प्रतीहारों की एक प्रारम्भिक राजधानी मेरता म भी थी। यह स्थान
मडोर मे ६० मील उत्तर पश्चिम म पडता था। आज राजधानी शब्द
का जो अथ है उस अथ म उसका प्रयाग मध्य काल में दक्षिण भारत म
हुआ (द अर्ली हिस्ट्री ऑफ द डेक्कन १ ६ म० जी० याजदानी, पृष्ठ ५१)।

मायखेट या मालखेड था। उनके कई सनिक तथा साधारण शिविरो का उल्लेख हुआ है,[1] जहाँ से उन्होने भूमि अनुदान की सनद जारी की। अल-मसूदी के विवरण से ज्ञात होता है कि राष्ट्रकूटो की राजधानी साधारणतया पवत प्रदेशो म रहती थी किन्तु अलतेकर इस बात को नही मानत।[2] फिर भी मसूदी के कथन से यह निष्कष निकाला जा सकता है कि विद्रोही सामन्तो को दबाने के लिए वे अपने सनिक शिविर बदलते रहत थे और इसके लिए एसे पहाडी स्थान चुनते थे जो सुरक्षा की दृष्टि से अच्छे होते थे।

राजपूतो ने ऐसा शासनतन्त्र चलाया जिससे पुरान और बसे बसाये गाँवो पर बडे-बडे परिवारो का आधिपत्य स्थापित हुआ। वस तो कुछ राजपूत देश के पुरान क्षत्रियो के वशज थे और कुछ आदिवासी कुलो स निकले थे पर कुछ राजपूत बाहर से भी अवश्य आये। गुजर लोग हूणो क पीछे पीछे मध्य एशिया से आये। ख्याल है कि मध्य एशिया की वुसुन जाति के लोग ही भारत आकर अन्त म गुजर कहलाने लगे। चौथी सदी म वुसुन लोग गुसुर कहलान लगे और इसीसे गुजर शब्द बना जिसका सस्कृत रूप गुजर हो गया[3]। इस स्थापना म हम अपनी ओर से इतना जोड सकते हैं कि गुसुर लोग भारत म बहुत पहल आ गये थे। औरगाबाद म प्राप्त तीसरी शताब्दी के एक अभिलेख मे मक के पुत्र और गशूर कुल के एक सदस्य शफर' का उल्लेख आया है।[4] 'मक' और 'शफर' दोनो विदेशी नाम हैं इसी प्रकार गशूर' भी। इस गशूर शब्द का आरथिन 'गुशर' और कुची सस्कृत गौशूर' का पर्याय माना गया है और इसका अथ उच्च कुलोत्प न या गौशूर अभिजात कुल म उत्पन्न व्यक्ति लगाया गया है।[5] इससे यह निष्कष निकलता है कि गौशूर या गुजर लोग भारत म विजेता के रूप म आय और स्वभावत उनकी सख्या बहुत कम थी। बाहर स आकर गुजर परिवारो न आबाद गावो पर अपना प्रभुत्व कायम कर लिया। युद्ध म प्राप्त जमीन-जायदाद को आपस म बाट लेने की गणजातीय प्रथा के अनुसार विजेता सरदारो ने गावो को आपस म बाट लिया। उनम स कुछ को ८४ गाव ८८४ के एकाशो म प्राप्त हुए। राष्ट्रकूटो के अधीन हमे गुजरात म १२

१ वही ११ १५६, पक्ति २७ए० इ ७ न० १३, पक्ति ३२।
२ अलतेकर, स० प्र० पृ० पष्ठ २४८।
३ पी० सी० बागची, इ डिया एण्ड सेंट्रल एशिया, पष्ठ १३८ ६।
४ ए० इ० २०, ६१।
५ वही।

और ८४ गांवों के समूह मिलते हैं और इसका कारण शायद यही था कि यहां गुर्जरों की बस्तियां थीं।[1] गुर्जर प्रतीहारों के साम्राज्य में तो हमारे सामने ऐसा उदाहरण सबसे पहले प्रतीहारों के तथा चालुक्य सामन्तों के यहां ही सामने आता है।[2] किन्तु चाहमानों, परमारों और चालुक्यों के अभिलेखों में स्थानीय इकाइयों के कई उदाहरण मिलते हैं।[3] इसका कारण शायद यह है कि ये तीनों गणजातियां गुर्जर प्रतीहार कुल से सम्बद्ध थीं। चारणों की किंवदन्ती अनुश्रुति में इन तीनों जातियों का आबू पहाड़ के एक अग्निकुण्ड से उत्पन्न बतलाया गया है उससे भी यही निष्कर्ष निकलता है।

क्या मध्य एशिया के पूर्ववर्ती गणजातीय संगठन में गांवों को किसी खास प्रकार की इकाइयों में बांट लेने की प्रथा थी? प्रस्तुत प्रसंग में इस सवाल की छानबीन करना उपयोगी रहेगा। जब यूचियों ने दूसरी शती ई० पू० में साहियों (तुखारिस्तान) को जीता उन्होंने सारे देश को अपने सरदारों के बीच बांट दिया।[4] यद्यपि पूर्व मध्य काल में मध्य एशियाई गणजातियों के बीच चौबीस चौरासी के दस्तूर अधिक प्रचलित थे। इसका सबसे प्राचीन सबूत तुखारिस्तान में मिलता है। यहां के तुर्की शासक ने चीनियों की सहायता से अपने राज्य को चौबीस जिलों में विभक्त कर लिया।[5] योगज जाति का, जो मध्य एशिया में रहती थी और जिसका इतिहास आठवीं शताब्दी से प्रकाश में आता है आंतरिक संगठन भी कुछ इसी ढंग का था। प्रारम्भ में इस जाति में नौ गण शामिल थे।[6] लेकिन जैसे जैसे ये लोग अन्य पराजित लोगों को आत्मसात करते गये वैसे-वैसे इनके गणों की संख्या बढ़ती गयी और ११वीं

---

१ पश्चिमोत्तर और मध्य एशिया के स्थानों के नामों से गुर्जरों के प्रादेशिक विस्तार की रूप रेखा पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है, और मुसलमानों तथा अंग्रेजों के समय के ग्राम एककों पर विचार करने से उनका मूल स्वरूप किसी हद तक सामने आ सकता है।

२ ए० इ० न० ६ १ ए' पंक्ति १०।

३ रा० श० शर्मा लैंड ग्रांट्स टू वसल्स एंड आफिशियल्स इन नॉर्दर्न इंडिया ज० इ० सो० ओ० ४ ८८ ९० ९१ ९४।

४ पी० सी० बागची, स प्र० पु० का पृष्ठ २१।

५ वही पृष्ठ २२ २३।

६ सा० इ० बासवर्थ द गजनवाइड्स पृष्ठ २१०।

शताब्दी तक तो २२ हो गयी।[1] बाद में चलकर इनकी संख्या २८ हो गयी क्योंकि सलजुक काल की किनिक जाति को ओगज जाति की चौबीस कुल-शाखाओं में से एक बनाया गया है।[2] प्रत्येक राष्ट्र द्वारा अपने अपने गोत्रों[3] की संख्या में वृद्धि करने की इस मध्य एशियाई प्रथा को मध्य काल में शायद भारत ने भी अपना लिया। चारण परम्परा के अनुसार राजपूत जाति में छत्तीस कबीले शामिल थे और सम्भव है कि प्रारम्भ में इनकी संख्या बारह या चौबीस रही हो। ऐसा जान पड़ता है कि जब कभी नये प्रदेश जीते जाते थे विजेता जाति की प्रत्येक शाखा को कम से कम एक गांव दे दिया जाता था जिससे परिणामस्वरूप बारह या चौबीस गावों के एकांशों का उदय हुआ। किन्तु बाद में ये एकांश रूढ़ हो गये और कबीले के प्रधान या शासक सरदार के वंशधर को दी जाने वाली जागीर में सम्मिलित गावों की संख्या नियमतः बारह या चौबीस अथवा छत्तीस आदि होने लगी।

दशमिक और द्वादशमिक प्रणाली के बीच क्या अन्तर था? पालों के राज्य में राजस्व एकत्र करने के लिए ग्रामपतियों और दशग्रामिकों के अधीन क्रमशः एक एक और दस दस गांव के एकांश हुआ करते थे।[4] यह पद्धति मनु के समय से ही चली आ रही थी और इसकी चर्चा कई परवर्ती ग्रन्थों में भी हुई है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में ऐसे अधिकारियों को ग्रामेश अथवा ग्रामस्याधिपति, दशग्रामाधिप अथवा दशपाल, शतग्रामाधिप अथवा शतेश और विषयेश्वर कहा गया है।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि दशमिक प्रणाली में राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी अपने अधीनस्थ क्षेत्र का प्रशासन सीधे केन्द्र के नियन्त्रण में करता था। पालों के अधीन राजकर्मचारियों की बहुलता का कारण शायद यही था यद्यपि राष्ट्रकूटों के राज्य में भी सामन्त राजाओं और उनके सर्वाधिपों के अधीन कतिपय दशमिक एकांश थे। दूसरी बात यह है कि दशमिक प्रणाली के अन्तर्गत अधिकारियों को वेतन के रूप में जमीन दी जाती थी जो उनके अधीनस्थ शासन क्षेत्र का एक बहुत ही छोटा हिस्सा हुआ करती थी। इसके

---

१ वही पृष्ठ २१० ११।
२ वही पृष्ठ २९८ पा० टि० ४६।
३ गोत्र का प्रयोग यहाँ बड़े परिवार के अर्थ में हुआ है।
४ ए० इ० ४ नं० ३४, पंक्ति ४३। दशग्रामी का उल्लेख सर्वप्रथम कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है।
५ २९१।६।

विपरीत, परवर्ती चाहमान अभिलेखों से पता चलता है कि द्वादशग्रामिक प्रणाली के अन्तर्गत गांवों का शासन सामान्यतया नियमित राजकर्मचारियों के हाथों में नहीं बल्कि सामन्तों के हाथों में हुआ करता था, जो साधारणत शासक वंश के हुआ करते थे। फिर, ऐसा जान पड़ता है कि दशग्रामिक प्रणाली का प्रचलन उत्तर पूर्वी भारत में था और आठवीं शताब्दी में यह दक्खिन में भी प्रचलित हो गयी, क्योंकि वहां बाहर से आये नये लोग कोई बहुत बड़ी संख्या में प्रवेश नहीं कर पाये। इसके विपरीत, द्वादशग्रामिक प्रणाली राजस्थान के कुछ हिस्सों तथा गुजरात में प्रचलित थी और बाद में उत्तर प्रदेश में भी इसका प्रचलन हुआ।[1] कालान्तर से इन राजपूत ग्राम इकाइयों के शासक अपने आपको इनका भोक्ता मानने लगे और इन क्षेत्रों को स्वभोग भूमि कहने लगे।

भूमिधर मन्दिरों और विहारों पुरोहितों और ब्राह्मणों की संख्या में वृद्धि, सामन्तों और राजकर्मचारियों को वेतन के रूप में भूमि अनुदान दिया जाना, राजाओं और राजकर्मचारियों की उपाधियों का सामन्तीकरण, राजधानियों का बहुधा परिवर्तन, पुराने गांवों का राजपूत परिवारों के बीच विभाजन—इन तमाम बातों को हम उत्तर भारत की मध्य-कालीन राज्य-व्यवस्था के सामन्ती तत्व मान सकते हैं। किन्तु कुल मिलाकर ये विशेषताएं पाल राज्य व्यवस्था की अपेक्षा प्रतीहार राज्य व्यवस्था में अधिक स्पष्ट और व्यापक रूप में विद्यमान थीं। कई मामलों में राष्ट्रकूट राज्यव्यवस्था अधिक सामन्तवादी थी। राष्ट्रकूट साम्राज्य में राजस्व तथा प्रशासन सम्बन्धी अधिकारों का उपभोग करने वाले धार्मिक भोक्ताओं की संख्या काफी थी, सामन्तों द्वारा उपसामन्त बनाने की प्रथा अधिक फैली हुई थी सामन्तों के कर्तव्य और अधिकार काफी हद तक सुनिश्चित थे और वे कभी कभी राजा तक को अपदस्थ कर सकते थे और व्यापार तथा शिल्प श्रेणियों को भी सामन्त माना जाता था। राजकर्मचारियों की संख्या कम थी और उनका स्वरूप सामन्ती होता जा रहा था। स्थानीय शासन मुख्यत सामन्ती ढंग के कर्मचारियों, सामन्तों और उनके परिवारों के हाथों में था, और ये लोग शायद गांवों के महत्तरों के साथ किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध बनाये रखते थे। किन्तु, राष्ट्रकूटों की राजधानी स्थायी थी और उनके साम्राज्य में बारह या सोलह गांवों की राजपूती इकाइयों के बजाय आमतौर पर दशग्रामिक प्रणाली चलती थी।

---

१ एच० सी० रायचौधरी, द अर्ली हिस्ट्री ऑफ द डेक्कन, भाग १ ८, स० जी० याजदानी पृष्ठ ५१।

परिच्छेद ३

तीन राज्यों में सामन्तवादी अर्थव्यवस्था

(लगभग ७५० १००० ईस्वी)

गुप्त-काल और गुप्तोत्तर-काल मे राजा और जमीन के असली जोतदारो के बीच अनुदानभोगी भूमिधर वर्ग का उदय हुआ, किसानो तथा शिल्पियो के अपने अपने पुराने क्षेत्रो से हटने पर प्रतिबंध लगे और व्यापार का अपकर्ष हुआ। आगे चल कर पालो, प्रतीहारो और राष्ट्रकूटो के राज्यो मे सामन्तवादी अर्थव्यवस्था की ये तीनो विशेषताएँ और भी प्रबल हो उठी। पालो ने धार्मिक प्रयोजन से खूब भूमि अनुदान दिये। इन अनुदानों के भोक्ता वैष्णव[1] और शैव[2] मन्दिर थे। किन्तु इस दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण स्थान बौद्ध विहारो का था।[3] सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे नालन्दा विहार के अधीन २०० गाँव थे।[4] नौवी सदी मे देवपाल से उसे पाँच और गाँव मिले।[5] इसी प्रकार उद्दन्तपुरी, विक्रमशिला और जगद्दल विहारो के अधीन सैकडो गाँव थे।[6] ऐसा कहा गया है कि बगाल मे खेती के लायक बहुत कम जमीन ऐसे अनुदानो मे दी गयी थी और उनका सामान्य कृषक समुदाय पर कोई प्रभाव नही पड़ा[7], परन्तु

---

१ ए० इ०, ४, न० ३४, पंक्तियाँ ३० ५२।

२ ए० इ०, ४७, पृष्ठ ३०४ से आगे, पंक्तियाँ ३६ ४६।

३ ए० इ०, २३ न ०७, पंक्तियाँ १७ २४।

४ तककुसु (अनु०) ए रेकर्ड ऑफ द बुद्धिस्ट रिलीजन (इत्सिग का विवरण) पृ० ६५।

५ ए० इ० १७ न० १७, पंक्तियाँ ३३ ४०।

६ वही।

७ पी० सी० चक्रवर्ती, हिस्ट्री आफ बंगाल, १ (स० आर० सी० मजुमदार), पृष्ठ ६४७।

यह सोचना ठीक नही है। हप वे समय मे शक्षणिक तथा धार्मिक प्रयोजनो के लिए राजस्व का चौथाई हिस्सा अनुदान म दिया जाता था और यह प्रथा शायद बाद म भी चलती रही। जो भी हो पाला के जो अनुदानपत्र उपलब्ध हैं उनसे भी प्रकट होता है कि बहुत सारे गाँव पुरोहिता मन्दिरा और मठा के अधीन थे। उपलब्ध अनुदानपत्रा के आधार पर तो यह नही कहा जा सकता कि प्रतीहारा के राज्य मे भी बडी बडी धार्मिक और शक्षणिक सस्थाओ के हाथो मे बहुत ज्यादा गाव थे, लकिन इतना निश्चित है कि उनके राज्य मे भी बहुत से गाव अग्रहार बनाय गय।[1] इसके अतिरिक्त, खास खास पुरोहितो और मन्दिरों को भी प्रतीहार राजाओ और सामन्तो स काफी गाव अनुदान म मिले।

किन्तु पालो और प्रतीहारा के राज्यो को मिला कर मन्दिरों और ब्राह्मणो के अधीन जितने गाव थ अकेले राष्ट्रकूटा के राज्य मे व उनस अधिक गावा के भोक्ता थे। छिटपुट तौर पर दान किय गय गावो के अतिरिक्त इस वश के एक शासक ने ४०० गाँव पुन दान किय[2] और दूसरे राजा ने १४०० गाव जिनम से ६०० अग्रहार और ८०० गाँव थे देवकुला को दिय।[3] इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रकूटो के अधीन पुरोहिता के बजाय धार्मिक सस्थाओं ने प्रमुख भूमिधर वर्ग का रूप धारण किया। पालो और प्रतीहारो के राज्या म यह बात उतनी अधिक देखने को नही मिलती।

पालो[4] प्रतीहारा[5] और राष्ट्रकूटो के राज्या म बहुत से धर्मेतर अनुदान भागी भी थे। बहुतेर अधीनस्थ सरदारो तथा राजकर्मचारिया को राज्य की सेवा करने के लिए गाव देकर पुरस्कृत किया गया था। अभिलेखा से ता लगता है कि उनकी सख्या उतनी नहा थी जितनी कि धार्मिक अनुदानभोगिया की थी लेकिन जब धार्मिक सस्थाओं को चलाने और पुरोहिता को पुरस्कृत करन

१ ए० इ०, १६ न० २ पक्तियाँ १ १६, न० २४ पक्तियाँ ६ ६।
२ एम० अनन्तकर द राष्ट्रकूटाज एँड दयर टाइम्स पृष्ठ १००।
३ ए० इ० ७ न० ६ पक्तियाँ ४६-८८।
४ आर० एम० शर्मा लह ग्राण्ट्स टु वसल्स ऐंड आफिशियल्स इन नादर्न इण्डिया ज० इ० सा० हि० ओ० ४ ७१ ७२। ए० इ०, १४, न० १३, पक्ति २१,
५ का० इ० इ० ४ न० ७८ श्लोक
वही ३ न० २६ पक्ति ४।

के लिए जमीन और गाँव दिये जाते थे तब ऐसी स्थिति में, जब मुद्रा का प्रचलन था, राजकीय सेवाओं के लिए और क्या दिया जा सकता था ? शायद इन धर्मेतर भूमि अनुदानों की संख्या भी धार्मिक भूमि अनुदानों के ही बराबर थी, या कदाचित उससे भी अधिक लेकिन धार्मिक अनुदानों के समान ऐसे अनुदान अनन्त काल के लिए नहीं दिये जाते थे, इसलिए वे या तो तालपत्र अथवा कपड़े पर लिखे जाते थे, और परिणामतः नष्ट हो गये। धर्मेतर अनुदानभोगी धार्मिक अनुदानभोगियों से शायद कुछ भिन्न थे। उत्तर भारत में धार्मिक अनुदानभोगियों को कर नहीं देना पड़ता था, लेकिन धर्मेतर भोक्ता नजराने के तौर पर शायद कुछ देते थे।[1] धार्मिक भोक्ताओं को अनुदत्त क्षेत्रों में सदा के लिए बने रहने का अधिकार था लेकिन सम्भवतः धर्मेतर भोक्ता अनुदत्त सम्पत्ति के अधिकारी तभी तक रह पाते थे जब तक कि वे राजा के प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह करते थे। दोनों तरह के अनुदानभोगियों में चाहे जो अन्तर रहा हो इतना तो असंदिग्ध है कि राजा और भूमि के असली जोतदारों के बीच इन लोगों ने मध्यवर्ती वर्ग बना रखा था। ये लोग एक प्रकार से गाँवों के असली स्वामी और भोक्ता बन गये और इस प्रकार भूमिधर सरदारों का एक वर्ग खड़ा हो गया। इस वर्ग की श्री समृद्धि का स्रोत यह सिद्धान्त था कि भूमि राजा की है किन्तु विडम्बना यह रही कि ज्यों ज्यों इस वर्ग की समृद्धि बढ़ती गयी भूमि पर राजा की सत्ता कम होती गयी।

अनुदानपत्रों की शर्तों का लाभ उठा कर अनुदानभोगी निजी जोत में नयी जमीन ला सकता था अथवा अपनी जोत में पहले से ही मौजूद जमीन की सीमाएँ बढ़ा सकता था। अनुदान में दिये गाँवों की सीमाएँ अक्सर नहीं बतायी जाती थीं इससे ग्रहीता प्राप्त गाँव की चौहद्दी बड़े मजे में बढ़ा सकता था। किन्तु राष्ट्रकूट अनुदानपत्रों में एक गाँवों की सीमाएँ सामान्यतया निर्धारित कर दी जाती थीं,[2] जिससे अनुदानभोगी अपना कृषि क्षेत्र नहीं बढ़ा सकते थे। कतिपय पाल अनुदानों पर भी यही बात लागू होती है। उत्तर बंगाल में धर्मपाल ने जो चार गाँव दिये उनकी सीमाएँ निश्चित थीं। पर जिन अनुदानपत्रों में सीमाएँ

---

१ उड़ीसा और दक्षिण भारत में कुछ धार्मिक अनुदानभोगी भी कर देते थे और ऐसे अनुदानों को कर शासन कहा जाता था।

२ ए० इ० २३ न० १२, पंक्तियाँ ४२-४५, न० १३, पंक्तियाँ ५६-५८, इ० ए० ६, ६८, ए० इ० १८, न० २६, न० पंक्तियाँ ६४-५।

स्पष्ट नहीं की जाती थी। उत्तर गुप्तकालीन अनुदानपत्रों में चारों सीमाएँ बताई गयी हैं। अधिकांश पाल और प्रतिहार अनुदानपत्रों में गाँवों की सीमाएँ निर्धारित नहीं की गयी हैं, केवल इतना ही कह दिया गया है कि अमुक गाँव अपनी सीमा और गोचरभूमि (स्वसीमातृणयूतिगोचरपर्यन्त) तक दिया जाता है। इसलिए अनुदानभोगी आसपास का विस्तार कर सकता था किसी ओर भी अधिकार बढ़ा सकता था।

अनुदानभोगी का यह अधिकार था कि वह [illegible] उत्तराधिकारहीन व्यक्ति की सम्पत्ति का स्वायत्तीकरण कर ले। भारत के कुछ हिस्सों में यह प्रथा प्रचलित थी। ग्यारहवीं सदी के स्थानीय प्रतिहार सामन्त द्वारा जारी किये गये अनुदानपत्र में अनुदानभोगी को यह अधिकार दिया गया था कि अगर किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाए और कोई पुत्र न हो (अपुत्रिकाधन)[1] अथवा उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्राप्त करने वाला कोई पुरुष उत्तराधिकारी न हो (नाप्तिसंगा)[2] तो अनुदानभोगी उस सम्पत्ति को स्वायत्त कर सकता है। स्पष्ट है कि राज्य का लावारिस सम्पत्ति को अपने हाथों में ले लेने का जो अधिकार था वह अनुदानभोगी को सौंप दिया जाता था लेकिन इस अधिकार के प्रयोग के प्रमाण कम ही पाये जाते हैं।

इस काल में ग्रामीण समुदायों के भूमिसम्बन्धी अधिकारों का भी ह्रास होने लगा और परिणामतः अधिकाधिक जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व स्थापित होता गया। गुप्त काल में धार्मिक अनुदान देने के उद्देश्य से जमीन खरीदने के लिए स्थानीय समुदाय की सहमति प्राप्त करना और राज्याधिकारियों को कुछ कर देना जरूरी था। लेकिन पाल राजा इन सामुदायिक अधिकारों का सम्मान नाम मात्र का ही करते थे। यद्यपि वे अधीनस्थ सरदारों और अधिकारियों के साथ साथ ब्राह्मणों से लेकर चाण्डालों तक तमाम ग्रामवासियों से अपने अनुदानों पर सहमति देने (मतमस्तु) का अनुरोध करते थे लेकिन यह बिलकुल औपचारिक था। वास्तव में ऐसा मान लिया जाता था कि सहमति तो मिलेगी ही। इस औपचारिकता के निर्वाह के लिए ग्रामीणों को बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ती थी। गुप्त काल में सिर्फ बंगाल के अनुदानपत्रों में ही लाभ धर्म के

१ ए० इ०, ३ न० ३६, पंक्ति १२। यहाँ तात्पर्य शायद ऐसे मामलों से है जिनमें मृत व्यक्तियों के पुत्र नहीं होते थे और न वे अपनी पुत्रियों के पुत्रों को ही गोद ले सकते थे।

२ वही। इस शब्द का अर्थ स्पष्ट जान नहीं पड़ता।

और चारागाह के उपभोग के अधिकार अनुदानभोगियो को दिये जाते थे और यह प्रकारान्तर से ही किया जाता था, क्योंकि प्रदत्त गाँवो को खनिज चमडे और चारागाह के राजस्व से मुक्त कर दिया जाता था।[1] लेकिन अब ये साधन अनुदानभोगियो को स्पष्ट शब्दो मे हस्तान्तरित किये जाने लगे। यह चलन मध्य भारत तक ही सीमित नही था बल्कि पूर्वी भारत उत्तरप्रदेश राजस्थान, गुजरात और शायद महाराष्ट्र मे भी फैल चुका था। पालो[2] और प्रतीहारो[3] के राज्यो मे चारागाह फल देनेवाले वृक्ष, कूप और ताल, झाडी झुरमुट जगल, परती जमीन, खाई खड्ड, यदा कदा बाढ मे डूब जाने वाली जमीन आदि सब के उपयोग के अधिकार अनुदानभोगियो को दे दिये जाते थे। गुप्तोत्तर अनुदान-पत्रो मे गाव के आमदनी के इन तमाम साधनो के स्पष्ट उल्लेख का मतलब है कि ये समस्त साधन अनुदानभोगियो के लाभ के लिए थे।

किन्तु राष्ट्रकूटो के राज्य मे वृक्षपक्तियो (सवृक्षमालाकुलम)[4] के अतिरिक्त गाव की आय का और कोई साधन अनुदानभोगियो को स्पष्ट शब्दो मे हस्तान्तरित नही किया गया और वृक्ष-पक्तियो के हस्तान्तरण का उल्लेख भी बाद के अनुदानपत्रो मे ही मिलता है। पालो और प्रतीहारो की तरह राष्ट्रकूट दाता प्रदत्त गावो के निवासियो की सहमति नही खोजते थे और न उन्हें अनुदानभोगियो को सभी कर देने तथा उनकी सभी आज्ञाओ का पालन करने का आदेश देते थे। मतलब यह कि राष्ट्रकूट राजा सम्बद्ध गावो के निवासियो को अनुदान की औपचारिक सूचना भी नही देते थे। इससे प्रकट होता है कि वे ग्रामवासियो के अधिकारो की कोई परवाह नही करते थे। प्रतीहार अनुदानपत्रो के स्वरूप से चाहे जो अर्थ ध्वनित होता हो इसमे कोई सन्देह नही कि पाल और प्रतीहार दाता भूमि विषयक अधिकार अनुदानभोगियो को देते थे।

अनुदानभोगियो के हाथ इन अधिकारो के आने का ग्रामवासियो पर क्या प्रभाव पडता था? राजा का भूमि विषयक अधिकार हस्तान्तरित करने की सत्ता तो थी, लेकिन अनुदानपत्रो से इस बात का कोई सकेत नही मिलता कि वह

---

१ का० इ० इ०, ३, न ५६, पक्तिया २८ २९ आदि।
२ ए० इ०, २६, न १ 'बी', पक्तियाँ ४१ ४२।
३ वही, ३ न० ३६ पक्तियाँ १० ११, इ० ए०, १८, पृष्ठ ३४, पक्तियाँ ५ ६।
४ ए० इ०, ७, न ६ पक्ति ५३।

वास्तव में स्वयं उन अधिकारों का उपभोग करता था। दूसरी ओर गुप्त काल में भूमि के सामुदायिक स्वामित्व के जो चिह्न मिलते हैं उनसे पता चल सकता है कि इन अधिकारों का वास्तविक लाभ ग्रामवासियों को ही मिलता था। वे चारागाह, कूप-तालाब, जंगल आदि का उपयोग कर सकते थे और इन सबके लिए उन्हें राजा को कोई कर नहीं देना पड़ता था। इसी तरह वे जंगल से कोई भी सामान ले सकते थे। किन्तु एक बार जब ये भूमि विषयक अधिकार अनुदानभोगियों को सौंप दिए जाते थे तब ग्रामवासियों को इन चीजों के उपयोग के लिए अनुदानभोगियों को कुछ न कुछ देना ही पड़ता था। अनुदानभोगी गाँव की सम्पदाओं पर मिले इन अधिकारों का क्या लाभ उठाते थे और इससे किसानों का बोझ किस प्रकार बढ़ जाता था इसकी कल्पना भूमि कर में सम्मिलित उन कतिपय पुराने रीति रिवाजों के आधार पर की जा सकती है जो १९वीं सदी में प्रचलित थे। मध्य के कुछ हिस्सों में जहाँ भारी कीमती लकड़ी हुआ करती थी राजा तथा बाहरी लोगों से लकड़ी काटने पर 'कुल्हाड़ी-कर' वसूल किया करता था।[1] इसी प्रान्त में भूस्वामी न केवल लगान वसूल करते थे बल्कि गैर आबाद जमीन की उपज जैसे—घास, गोंद, फल आदि—और मछलीगाहों से भी लाभ उठाते थे।[2] १९वीं सदी के इन रिवाजों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विचाराधीन काल में भी अनुदानभोगी लोग जंगल, चारागाह, मछलीगाह, वन आदि पर महसूल लगाते होंगे। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि अनुदानभोगी परती जमीन को अपनी निजी जायदाद बना सकते थे और ग्रामीण लोग अपने बढ़ते हुए परिवारों के भरण पोषण के लिए चाह कर भी अपनी जोत नहीं बढ़ा सकते थे। इस प्रकार एक ओर तो भूमि का व्यक्तिगत स्वामित्व में रखने के अधिकारों का विकास हो रहा था, और दूसरी ओर भूमि विषयक सामुदायिक अधिकारों का लोप होता जा रहा था।

एक ओर तो राजा सामुदायिक अधिकार अनुदानभोगियों को देकर भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व को बढ़ावा दे रहा था और दूसरी ओर यदाकदा स्थानीय समुदाय भी अपने संयुक्त स्वामित्व के अधिकार मंदिरों को सौंप देता था। उदाहरण के लिए, ग्वालियर के लोगों ने जमीन के कई टुकड़े स्थानीय

१ बेडन पावेल, लैंड सिस्टम्स ऑफ ब्रिटिश इंडिया।

२ वही, २, १०५।

मन्दिरों को दान किये।[1] इन अनुदानपत्रों से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि सामुदायिक सम्पत्ति किस प्रकार सामंती सम्पत्ति बनायी जा रही थी। जब ये सामुदायिक क्षेत्र दान किये जाते थे तो साथ ही इन्हें जोतने वाले किसान भी ग्रहीताओं को सौंप दिये जाते थे।[2] नवदुर्गा और विष्णु के मन्दिरों को जिन्हें सेनापति अल्ल ने बनवाया था नगर से अनुदानस्वरूप कई खेत मिले[3] और स्पष्ट ही ये अनुदान नगर ने उसी सेनापति के दबाव के कारण दिये थे। फिर हम देखते हैं कि पूरे सीयडोणि नगर ने श्री नारायण-भट्टारक मंदिर को, जिसे नगर के दक्षिणी हिस्से में एक व्यापारी ने बनवाया था, २०० हस्त चौड़ा और २१५ हस्त लम्बा एक छोटा सा खेत दान में दिया।[4] यह अनुदान किसी के दबाव के कारण नहीं किया गया था लेकिन दोनों ही मामलों में सामुदायिक भूसम्पत्ति व्यक्तिगत भूसम्पत्ति बन गयी। निस्सन्देह इस सम्पत्ति की व्यवस्था तो सामंती ढंग से होने वाली थी क्योंकि देवी देवता और उनके पुजारी खुद तो जमीन जोतने वाले थे नहीं, वे तो इसे दूसरों से ही जुतवाते।

प्रतीहारों के राज्य की तरह राष्ट्रकूटों के राज्य में भी स्थानीय समुदाय अपनी जमीन मन्दिरों को दान में दिया करता था और इस तरह जमीन निजी सम्पत्ति बन जाती थी। प्रथम अमोघवर्ष के शासन काल में ८६५ में वर्तमान धारवार जिला स्थित एलपुगुस के चालीस महाजनों ने एक पण्डित को ८५ मत्तर भूमि दान की।[5] सौनदत्ति में प्राप्त एक अभिलेख में एक जैन मन्दिर को ५० कृषकों की सहमति से किये गये अनुदान का उल्लेख मिलता है।[6] ९५१-५२ में चतुर्थ कृष्ण के समय में धारवार जिले में शायद उन ५० महाजनों की सहमति से जिनका उल्लेख अनुदान के संरक्षकों के रूप में हुआ है, १२ मत्तर जमीन मठ और दार्शनिक प्रयोजन के लिए दान की गयी।[7] इससे प्रकट

१ ए० इ० १ नं० २०, दूसरा अभिलेख पंक्तियाँ २-६।

२ वही पंक्ति ८।

३ वही पंक्ति ३ और ६।

४ वही १ नं २१, पंक्तियाँ १-४।

५ ए० इ०, ७ नं २८ 'डी' पंक्तियाँ ७-१६।

६ ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो०, १०, २०८, अलतेकर की रा० ए० पा० टि० पृष्ठ ३७२ पर उद्धृत।

७ इ० ए०, १२, पृष्ठ २५८ पंक्तियाँ १०-१५।

होता है कि कर्नाटक में स्थानीय समुदायों के गण्य मान्य लोग जो महाजन कहलाते थे अपनी सामूहिक भूमि के कुछ हिस्से धार्मिक और यदाकदा शैक्षणिक प्रयोजनों के लिए भी दान करते थे। लेकिन अनुदत्त क्षेत्रों के व्यवस्थापक स्वभावतः ऐसी भूमि पर अपना व्यक्तिगत स्वत्व स्थापित करने की चेष्टा करते थे।

यूरोप की सामंतवादी अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषता कृषि दासत्व (सर्फडम) की प्रथा थी। इस प्रथा के अन्तर्गत किसान भूमि से बंधे रहते थे किन्तु वे उसके मालिक नहीं होते थे। पालों, प्रतीहारों और राष्ट्रकूटों के राज्य में ऐसी प्रथा नहीं थी परन्तु कई कारणों से अनुदत्त गाँवों के किसानों की दशा कमियाँ जमी होती जा रही था। उपसामंतीकरण की प्रवृत्ति के कारण किसानों की दशा बिगड़ती गयी। उत्तर बिहार के एक पाल अनुदानपत्र से ज्ञात होता है कि एक राज्याधिकारी ने अपने प्रभु तृतीय विग्रहपाल (१०५५-७०) की अनुमति लेकर अपनी जमीन का एक हिस्सा अनुदान में दिया।[1] गृहस्थ अनुदान भावना होने के कारण शायद यह अधिकारी राजा की अनुमति के बिना अनुदान नहीं दे सकता था। जो भी हो धार्मिक भावना अपनी जमीन मार नहीं जानते थे। नालन्दा जैसे बड़े बड़े विहारों के प्रबंधक अपनी जमीन में दूसरों से खेती करवाते थे और लगान उनके गुमाश्ते वसूल किया करते थे।

प्रतीहारों के राज्य में अहीना अपने उपसामन्त बना सकते थे,[2] और अपनी अपनी भूमि के जोतदारों को बन्धन कर सकते थे। प्रतीहार साम्राज्य में—विशेषकर राजस्थान, मालवा तथा गुजरात में—अहीनों को अनुदत्त क्षेत्र में स्वयं खेती करने या दूसरों से कराने, उस क्षेत्र का उपभोग स्वयं करने अथवा किसी और को उपभोग के लिए दे देने का अधिकार प्राप्त था।[3] इससे पूर्व समस्या के सम्बन्ध राजाओं के अनुदानों में यत्नों पायी जाती है।[4] राष्ट्रकूटों के राज्य में इन अधिकारों के साथ अनुदान देने का चलन खूब था। तात्पर्य यह कि राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र में राजा और धार्मिक अनुदानभोगी काश्तकारों को जमीन में बन्धन कर सकते थे। अल्तेकर का कहना है कि

---

१ इ० ए० २६ नं० २ पंक्तियाँ ४६ ५१।

२ वही ५ नं० २४ पंक्तियाँ ६ ६ ६ नं० १ प्लेट II और वी।

ए० इ० ६ नं० १ प्लेट ए पंक्ति १६ प्लेट बी पंक्ति ६३, मिराशी ३ पृष्ठ २६४, पा० टि० ६।

४ कॉ० इ० इ०, ६ नं० ४ पंक्ति ६ नं० ११ पंक्ति १३।

बेदखली के अधिकार का कहीं उल्लेख नहीं हुआ है।[1] किन्तु अनुदानों की शर्तों से लगता है कि अनुदत्त क्षेत्रों में अस्थायी जोतदार हुआ करते थे और वे तभी तक जोतदार रह सकते थे जब तक ग्रहीता चाहते।[2] इच्छा होने पर वे उन्हें अपनी जमीन से निकाल कर उसमें दूसरों से खेती करवा सकते थे। जो गांव राजा के प्रत्यक्ष नियंत्रण में थे उनमें वह भी बेदखली के अधिकार का उपयोग कर सकता था, किन्तु अनुदत्त भूमि से अधिक निकट सम्बन्ध होने के कारण ग्रहीता इस अधिकार का उपयोग ज्यादा कारगर ढंग से कर सकता था। इसलिए प्रतीहारों और राष्ट्रकूटों के राज्यों में किसानों के जोत के अधिकार सुरक्षित नहीं होते थे। इस प्रकार भूमि का स्वामित्व अक्सर जोतदार के हाथ में नहीं हुआ करता था। यदि ग्राम स्मृति पूर्व मध्यकालीन भारत की भूमि-व्यवस्था के सम्बन्ध में सही जानकारी देती हो तो मानना पड़ेगा कि कभी कभी तो राजा और असली काश्तकारों के बीच भूमिपतियों की चार चार श्रेणियाँ हुआ करती थीं।[3]

नासक कबीले के भी सभी सदस्य जमीनों के स्थायी और पूर्ण स्वामी नहीं होते थे। गुर्जर सरदारों और किसानों के बीच भी धीरे धीरे अन्तर पैदा हो गया और कालान्तर में गुर्जर कृषक सामन्ती ढाँचे के अंग बन गए। उन्हें भी वे सारे कर देने को बाध्य किया गया जो सामान्य स्थानीय किसानों को देने पड़ते थे। ९६० में गुर्जर प्रतीहार कुल के एक सामन्त राजा[4] ने अपने वनभोगक भोग (निजी उपयोग की भूमि) में से एक गांव दान किया जिसमें बहुत सारे गुर्जर कृषक रहते थे।[5] यह अनुदान एक गुरु और उसके क्रमागत शिष्यों को मिला। ग्रहीता को विभिन्न उचित अनुचित शुल्कों के अतिरिक्त भाग (उपज का एक अंश), खल भिक्षा (खलिहान कर) प्रस्थक (अधिकारियों के निमित्त कर) स्कन्धक, मार्गणक और नास्तिमर्गा और अपुत्रिकाधन तथा नीधि निधान जल द्रव्य और कर वसूल करने का अधिकार दिया गया था।

---

१ अलतेकर स० प्र० पु० पृष्ठ २३६ ७।

२ मिलाइए मिराशी का० ४० ४०, ४ १११।

३ क्षेत्रमहित्वा [illegible] कर्षि न च कारयत, स्व मिने, च धर्मदाप्यराजे दण्डम च तत्समम। व्यवहारमयूख पृ८५ ८६ पर उद्धृत।

४ श्रीगुर्जरवाहित समस्त क्षेत्र समतस्व। वही, पंक्ति १२ ।] यह स्पष्ट नहीं है कि सभी आर्जित गुर्जर थे या नहीं।

५ वही, पंक्तियाँ ११ १२।

स्पष्ट है कि इन गुजर किसानो से पहल भी उनका समगोत्री प्रभु य कर वसूल करता था, और बाद मे य सारे कर ग्रहीता (गुरु) को मिलने लग। इस अनुदान से प्रकट होता है कि इस साम त को अपने समगोत्री बन्धुओं के शोषण म कोई हिचक नही थी और भूमि स बधे इन किसानो को वह इच्छानुसार भूमि के साथ जिस किसी का सौंप सकता था। फिर हम देखत हैं कि किसानो पर उचित अनुचित सभी तरह क कर ग्रहीता लगा सकता था जिसस उनकी दशा कृषि दासो की जसी हो जाती थी। इस प्रकार एक ओर गुजर प्रतीहारो और विजित जातियो क बीच साम ती सम्ब धो का विकास हुआ तथा दूसरी ओर स्वय विजताओ क अपने गोत्र के भीतर भी साम तवादी सम्बन्ध कायम हुए क्योकि कालान्तर स विजता लोग अपन समगोत्री भाइ ब दो को जीत म प्राप्त धन सम्पत्ति क हकदार मानन के बजाय एस कृषिदास समझने लग जिनका कत्तव्य अपने गोत्रीय प्रमुखो और सनिक नेताओ क लाभ क लिए खून पसीना बहना था।

इस बात के ओर भी सकेत मिलत है कि राजस्थान म भूमि जोतन वाल लोगो की भूमि क हस्तान्तरण म कोई आवाज नही था और जब भूमि का हस्तान्तरण किया जाता था तब किसान लोग अपना इच्छा स उसे छोड नही सकत थ। एक ओर तो अनुदानभोगियो को अपनी इच्छानुसार किसानो को बेदखल कर दन का अधिकार दिया जाता था और दूसरी ओर किसानो पर यह बन्धन लगा रहता था कि भूमि का हस्तान्तरण होन पर भी व उस भूमि को अपनी मर्जी स नही छोड सकत। जहा तक किसानो का सम्बन्ध है य दोनो व्यवस्थाए परस्पर असगत जान पडती है। किन्तु इसम स देह नही कि इनसे अनुदान पान वालो की स्वाथ सिद्धि होती थी व अपनी मर्जी क मुताबिक किसानो को रख या हटा सकत थ। भूतपूर्व भरतपुर राज्य प्रतीहार साम्राज्य का हिस्सा था—प्रथम भोज क समय म तो निश्चय ही। इस राज्य म प्राप्त कामन शिलाभिलख म जो लगभग ९०५ ई का है आठ अनुदानो का वणन है जिनम स सभी ७८६ ७ स लकर ९०५ ई क बीच स्थानीय देवता शिव क नाम दिय गय।[1] एक भालख म कहा गया है कि उदभट नामक एक व्यक्ति न अपने अधीनस्थ गाँव म तीन हलो स जोती जान लायक जमीन जिस पट्टन सहल्ल जज्ज और कुछ अन्य ब्राह्मण जातत थ और बाद म एडआक नामक हलिक जातता

---

[1] ए० इ० २४ ३२६ ३३।

या दान कर दी।[1] इससे प्रकट होता है कि कभी कभी उच्चतम वर्ण के लोगों को भी सामान्य कृषकों की तरह काम करना पड़ता था। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि जो सामन्त केवल एक गाँव का स्वामी था, वह भी अपने प्रभु से अनुमति लिए बिना अपनी जमीन दूसरों को दे सकता था और जमीन के साथ साथ जोतने वाले हलिकों को भी हस्तान्तरित कर सकता था। इससे सिद्ध होता है कि प्रतीहारों के अधीन राजस्थान में कृषि दासत्व की प्रथा थी। और चूँकि साधारण सामन्त भी खेती करने वालों के साथ अपनी जमीन हस्तान्तरित कर सकते थे इसलिए हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यह प्रथा काफी व्यापक रही होगी।

कृषकों को कृषि दासों की स्थिति में पहुँचा देने वाली दूसरी बात थी—बेगार की प्रथा का विस्तार। पाल अनुदानपत्रों में विष्टि शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। किन्तु पालों के राज्यों में किसान सर्वपीडाएँ भोगते थे[2] और ब्राह्मणों, मन्दिरों तथा विहारों को दान किये गांवों में राजा सर्वपीडा का अपना यह अधिकार छोड़ दिया करता था।[3] गृहीता लोग ग्रामीणों को सर्वपीडा का शिकार बनाते थे या नहीं, यह बात स्पष्ट नहीं है।

मगर इसमें कोई सन्देह नहीं कि पूर्वी काठियावाड़ में प्रतीहारों के सामन्तों को ग्रामीणों से बेगार लेने का अधिकार प्राप्त था। वहाँ यह प्रथा विष्टि नाम से जानी जाती थी और अनुदान के साथ साथ गृहीता को विष्टि का अधिकार भी सौंप दिया जाता था।[4] यह प्रथा वलभी के मैत्रकों के राज्य में भी फैल गयी, और बाद में प्रतीहारों और राष्ट्रकूटों दोनों के राज्यों में जारी रही। 'सोत्पद्यमान विष्टिक' (अर्थात् विष्टि से उत्पादित वस्तुएँ) का प्रयोग सर्वप्रथम मैत्रकों के अनुदान पत्र में हुआ है और इस शब्द समुच्चय को राष्ट्रकूटों ने ज्यों-का-त्यों अपना लिया।[5] सच तो यह है कि बेगार की प्रथा जितने व्यापक रूप में प्रतीहारों और राष्ट्रकूटों के शासन-काल में गुजरात और महाराष्ट्र में प्रचलित थी, उतने व्यापक रूप में और किसी भी काल में कभी भी नहीं

---

१ पड्वत्राधुना यत्र वाहयत्येव हालिक। ए० इ० न० ४५ पंक्तियाँ १९-२०।

२ ए० इ०, २८ नं० १ बी पंक्ति ४२।

३ वही, १७ नं० १७ पंक्ति ३५१।

४ इ० ए० १२ पृष्ठ १९०, प्लेट ११, पंक्तियाँ १-२४।

५ ए० इ० १८, नं० २६ पंक्तियाँ ६६-६७, २२ नं० १३ पंक्ति ५६।

रही। विचित्र बात यह है कि यह प्रथा उन्हीं भागों में प्रचलित थी जहाँ महीपालों को अनुदत्त भूमि अपनी इच्छानुसार स्वयं जोतने, करने या दूसरों से करवाने तथा उसका उपभोग स्वयं करने या दूसरों को लगान पर देने का अधिकार प्रदान किया जाता था। बेगार की गुंजाइश नहीं होती है जहाँ लोग कम होते हैं। यद्यपि इन भागों में जोर जबर्दस्ती की सम्भावना नहीं रहती। इस प्रथा के प्रचलन का कारण चाहे जो रहा हो, इतना स्पष्ट नहीं कि यह बहुत व्यापक रूप में विद्यमान थी। शायद यह राज्य का एक अतिरिक्त साधन थी, और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रयुक्त विष्टि शब्द की भट्टस्वामी द्वारा की गयी व्याख्या से प्रकट होता है[1] कि इस प्रथा के द्वारा राजा किले आदि बनवाने के लिए मजदूर जुटाता था। यह स्पष्ट नहीं है कि अनुदान पानेवाले लोग यूरोपीय सामन्तों की तरह किसानों से जबरन अपनी निजी जोत की जमीन में काम करवाते थे अथवा केवल उन कार्यों के लिए ही उनके श्रम का उपभोग करते थे जिन्हें सार्वजनिक कार्यों की श्रेणी में रखा जा सकता है। अतएव अनुदान में दिये गए गाँवों में बेगार की प्रथा कहाँ तक काम कर रही थी ठीक ठीक नहीं बताया जा सकता है। इतना स्पष्ट है कि राष्ट्रकूटों के अधीन अनुदान पानेवालों को ग्रामीणों से बेगार लेने का सुनिश्चित अधिकार दिया जाता था और पालों के अधीन जब कोई गाँव दान किया जाता था तब राज्य उस गाँव में अपना सर्वपीड़ा का अधिकार छोड़ देता था। लेकिन राज्य द्वारा छोड़े गये इस अधिकार का उपभोग ग्रहीता कर सकता था अथवा नहीं, यह स्पष्ट नहीं है।

ऐसा कोई अभिलेख तो हमें उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर हम निश्चय कर सकें कि पालों और प्रतीहारों के अधीन किसानों के सिर पर पड़ने वाले प्रत्यक्ष भार में कोई वृद्धि हुई या नहीं, लेकिन गाहड़वालों के अधीन उन पर लगाये जाने वाले करों की जो लम्बी सूची मिलती है उससे वहाँ के किसानों के बारे में ऐसा आभास अवश्य मिलता है। पाल अनुदानपत्रों में कुछ थोड़े-से करों का ही स्पष्ट उल्लेख हुआ है और बाकी कर उनमें प्रयुक्त 'आदि' शब्द के अन्तर्गत आ जाते हैं।[2] इस प्रकार इन अनुदानपत्रों में ग्रहीताओं के लिए ग्रामवासियों पर नये-नये कर लगाने की पूरी गुंजाइश रह जाती है। उनमें ग्रामवासियों को बार-बार यह निर्देश दिया गया है कि वे अनुदानभोगियों को सभी

---

१ ज० बि० ओ० रॉ० सो० १२ भाग १ १६८।

२ ए० इ०, २६ न० ७, पंक्ति ४२।

कर (समस्तप्रत्याय) दे लेकिन इन करों के स्पष्ट उल्लेख के अभाव म ग्रहीता बखूबी नय-नये कर लगा सकते थे। यही बात प्रतीहार अनुदानपत्रा पर भी लागू होती है क्योंकि उनमे राजस्व के सभी साधन (सवआयसमेत) हस्तान्तरित तो कर दिय गय हैं, किन्तु उनके नाम नहीं बताय गये हैं। प्रतीहार साम्राज्य के कुछ हिस्सा म (राजस्थान म) ग्रामवासिया से ग्रहीताग्रा का उचित अनुचित निश्चित अनिश्चित सभी कर देने को कहा गया है।[1] ऐसे अधिकारो से युक्त होने के कारण ग्रहीता ग्राम वासिया से प्रचलित करा के अलावा नये कर भी वसूल कर सकते थे।

पाल और प्रतीहार अनुदानपत्रा के विपरीत राष्ट्रकूट अनुदानपत्रा मे राजस्व के साधना का हस्तान्तरण स्पष्ट शब्दा म किया गया है और फलत उनम ग्रहीताग्रो के लिए प्रचलित करा म वद्धि करने या नय कर वसूल करने का कोई गुजाइश नहा रखी गयी है। लेकिन करा के इस स्पष्ट निर्देश से ग्रामवासियो को जो लाभ हो सकता था उसे उन पर लगाये जाने वाले सात-आठ तरह के कर नगण्य बना देते थे। ये कर थे—उदरग, उपरिकर, भूतवात प्रत्याय, धान्य हिरण्य दण्डदशापराध, और उत्पद्यमान विष्टि तो थी ही। इन शब्दा के ठीक ठीक अथ चाहे जो रहे हों, इतना निश्चित है कि प्रत्येक शब्द से एक कर का बोध होता है और कुल मिलाकर ये इस बात का सकेत देते हैं कि राष्ट्रकूटो के अधीन किसानो के सिर का बोझ बहुत बढ गया था। गावा के अनुदान म दे दिय जाने के बाद भी किसाना को, ग्रहीताग्रा को ये सभी कर देने पडते थे, यद्यपि राष्ट्रकूटो के अधीन ग्रहीताग्रा को उतनी छूट नही थी जितनी कि पाला और प्रतीहारा के राज्यों मे थी।

अनुदानभोगिया के हाथों म जाने से किसाना के भूमि विषयक सामूहिक अधिकार तो छिन ही गय, साथ ही उन्ह उपसामन्तीकरण और दरपट्टे के चलन का शिकार बनना पडा। इसके अलावा ग्रहीताग्रा के बेदखली के अधिकार के कारण किसाना का काश्तकारी का हक कमजोर पड गया, उनसे बगार लिया जाने लगा, उन पर अतिरिक्त कर लगाये जाने लगे और उन्ह जबरन भूमि से बाध दिया गया। इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि कुछ क्षेत्रों मे ग्रहीताग्रो को किसानों को बेदखल करने का भी अधिकार दिया गया, और मर्जी के मुताबिक उन्हें अपनी जमीन से बाँध रखने का भी हक दिया गया। यद्यपि ये दोनों अधिकार परस्पर असगत दीखते हैं, किन्तु स्पष्ट है कि इनसे ग्रहीताग्रा का

---

१ ए० इ०, १२, न० ३६, पक्ति १२।

हित साधन होता था क्योंकि अब वे अपनी इच्छा से किसानों को अपनी जमीन में रख या वहाँ से निकाल सकते थे। इस सब के परिणामस्वरूप यूरोपीय कृषिदासों की तरह यहाँ के किसान भी आर्थिक दृष्टि से बिल्कुल पराधीन हो गये।

अनुदानपत्रों में ऐसा कोई उपाय नहीं बतलाया गया है जिससे स[illegible]र किसान ग्रहीताओं के खिलाफ अपनी शिकायतें दूर करवा सकते। पालों और प्रतीहारों के प्राय सभी अनुदानपत्रों में ग्रामवासियों को यह आदेश दिया गया है कि वे ग्रहीताओं के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करें तथा उन्हें सभी कर दें और उनकी आज्ञा पर चलें। उनमें राजा के वंशजों और अन्य शक्तिशाली तथा प्रभावशाली राजपुरुषों को भी दैवी प्रकोप का भय दिखा कर—अनुदानपत्रों की तमाम शर्तों का पालन करने की सलाह दी गयी है। और इस सलाह को वास्तव में माना भी जाता था क्योंकि हम देखते हैं कि भोज ने दो अग्रहार गाँव जो उसके पूर्वजों के समय में ग्रहीताओं के हाथों से निकल गये थे उन्हीं ग्रहीताओं को फिर से दान किये। किन्तु, अपने अधीनस्थ ग्रामवासियों के प्रति ग्रहीताओं के कर्तव्य का हमें कहीं कोई संकेत नहीं मिलता। यदि वे नये कर लगाते या प्रचलित करों में वृद्धि करने का निर्णय कर लेते तो बेचारे किसान राहत के लिए जाते किसके पास? इसलिए ग्रहीता द्वारा ऐसा कोई कदम उठाने पर स्वभावतः किसान असहाय हो जाते होंगे और उनके बंधन और भी कस जाते होंगे।

धर्मार्थ अथवा धर्मेतर प्रयोजनों से अनुदान में दिए गए गाँवों के अतिरिक्त शेष गाँवों में करों का निर्धारण और वसूली राज्याधिकारी करते थे। हमें इस सम्बन्ध में तो कोई जानकारी नहीं है कि ये राज्याधिकारी अपने व्यक्तिगत खाने खर्चे के लिए किसानों से कोई शुल्क लेते थे या नहीं किन्तु पालों के अधीन राजपरिवार के खर्च के लिए ग्रामवासियों से कुछ शुल्क अवश्य वसूल किए जाते थे। साथ ही नियमित और अनियमित सैनिकों तथा पुलिसवालों को वेतनस्वरूप जो कुछ मिलता था उसके अलावा वे ग्रामवासियों से अपने लिए खाना-खर्चा वसूल किया करते थे। यदि ऐसा नहीं था तो फिर अनुदान में दिए गाँवों में ऐसे सरकारी अमलों का प्रवेश वर्जित करने का कोई मानी नहीं था। बंगाल, बिहार और बुंदेलखण्ड में तो गुप्तकाल में ही गाँववालों को चाट और भट के रहने और खाने पीने की व्यवस्था करनी पड़ती थी और जिस काल की स्थिति का निरूपण हम कर रहे हैं उस काल में चम्बा में भी ग्रामीण लोगों को यह भार वहन करना पड़ता था। गुप्तकाल से पहले इस प्रथा का सही स्वरूप क्या था इसकी जानकारी हमें नहीं है किंतु चम्बा अभिलेख (६७५) में प्रकट होता

है कि देश के दूसरे हिस्सों में भी जो गाँव राजा के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में थे उन्हें इन सरकारी अमले के भोजन आवास परिवहन आदि पर काफी खर्च करना पड़ता था। चम्बा अभिलेख से ज्ञात होता है कि चाट और भट किसानों के घरों में प्रवेश करके उन्हें अपनी कच्ची और पकी फसल, ईख और नमक तथा गाय के दूध का एक हिस्सा देने को मजबूर कर सकते थे व अपने उपयोग के लिए उनकी कुर्सियाँ, बेंचें या खाटें उठा ले जा सकते थे, और उनकी लकड़ी ईंधन, घास भूसा आदि हथिया सकते थे।[1] अन्यत्र वे ऐसा व्यवहार नहीं करते होंगे, ऐसा मानने का कोई कारण दिखायी नहीं देता।

पालों और प्रतीहारों के राज्यों की अर्थव्यवस्था में उद्योग व्यापार का भी सामन्तीकरण देखने को मिलता है। धर्मपाल के अधीन चार गाँवों से संयुक्त हट्टिकाएँ एक व्यक्ति को अनुदान में दे दी गयीं।[2] जाहिर है कि इस ग्रहीता ने व्यापारियों को उतनी स्वतन्त्रता नहीं दी होगी जितनी कि उन्हें राज्य ने दे रखी होगी। सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण ३४ अश्व विक्रेताओं का है। वे अपने घोड़े आदि बेचने के लिए देश के विभिन्न भागों से चलकर पेहोआ में एकत्र हुए थे और वहाँ उन्होंने छः मन्दिरों को प्रत्येक घोड़े खच्चर आदि की बिक्री पर दो द्रम्म देने का वादा किया था।[3] यह स्पष्ट नहीं है कि मन्दिरों को दिए जाने वाले शुल्क के अतिरिक्त वे राजा को भी कोई आगम शुल्क देते थे या नहीं। शायद राजकीय दबाव से मजबूर होकर लोग आगम शुल्क वसूल करने का अधिकार मन्दिरों और देवताओं को हस्तान्तरित कर देते थे। फिर सीयडोणि के शासक उदभट ने वस्तुओं पर लगाये गए आगम शुल्क का एक निश्चित हिस्सा विष्णु के मन्दिर को सौंप दिया।[4] इसी प्रकार वहीं के विष्णु मन्दिर को कुछ व्यापारियों ने कम से कम १६ दुकानों से होने वाली सारी आय हस्तान्तरित कर दी।[5] राजस्थान में लच्छुकेश्वर मन्दिर को दिए गए एक भूमि अनुदान में हट्टिका में विक्रय के लिए प्रति बोरे अन्न पर तीन विशोपक आगम शुल्क और हर दुकान से दो विशोपक मासिक शुल्क भी शामिल था।[6] राष्ट्रकूटों के साम्राज्य

१ भार० स० रि०, १९०२ ०३, पृष्ठ २५२ ३, पंक्तियाँ २१-२४।
२ ए० इ०, ४, न०३४ पंक्तियाँ ५२ ५३।
३ वही, १, न० २ ,पंक्तियाँ १ १७।
४ वही, न० २१, पंक्तियाँ ४ ७।
५ वही पंक्तियाँ १३ ३४।
६ वही, ३, न० ३६ पंक्तियाँ २२ २३।

हित साधन होता था क्योंकि अब वे अपनी इच्छा से किसानों को अपनी जमीन में रख या वहां से निकाल सकते थे। इस सब के परिणामस्वरूप यूरोपीय कृषि दासों की तरह यहां के किसान भी आर्थिक दृष्टि में बिल्कुल पराधीन हो गये।

अनुदानपत्रों में ऐसा कोई उपाय नहीं बतलाया गया है जिसके सहारे किसान ग्रहीताओं के खिलाफ अपनी शिकायत दूर करवा सकते। पालों और प्रतीहारों के प्रायः सभी अनुदानपत्रों में ग्रामवासियों को यह आदेश दिया गया है कि वे ग्रहीताओं के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करें तथा उन्हें सभी कर दें और उनकी आज्ञा पर चलें। उनमें राजा के वंशजों और अन्य शक्तिशाली तथा प्रभावशाली राजपुरुषों को भी दैवी प्रकोप का भय दिखा कर—अनुदानपत्रों की तमाम शर्तों का पालन करने की सलाह दी गयी है। और इस सलाह को वास्तव में माना भी जाता था क्योंकि हम देखते हैं कि भोज ने जो अग्रहार गांव, जो उसके पूर्वजों के समय में ग्रहीताओं के हाथों से निकल गये थे, उन्हीं ग्रहीताओं को फिर से दान किये। किन्तु, अपने अधीनस्थ ग्रामवासियों के प्रति ग्रहीताओं के कर्तव्य का हमें कहीं कोई संकेत नहीं मिलता। यदि वे नये कर लगाने या प्रचलित करों में वृद्धि करने का निर्णय कर लेते तो बेचारे किसान राहत के लिए जाते किसके पास? इसलिए ग्रहीता द्वारा ऐसा कोई कदम उठाने पर स्वभावतः किसान असहाय हो जाते होंगे और उनके बन्धन और भी कस जाते होंगे।

धार्मिक अथवा धर्मेतर प्रयोजनों से अनुदान में दिए गए गांवों के अतिरिक्त शेष गांवों में करों का निर्धारण और वसूली राज्याधिकारी करते थे। हम इस सम्बन्ध में तो कोई जानकारी नहीं है कि ये राज्याधिकारी अपने व्यक्तिगत खाने-खर्च के लिए किसानों से कोई शुल्क लेते थे या नहीं, किन्तु पालों के अधीन राज परिवार के खर्च के लिए ग्रामवासियों से कुछ शुल्क अवश्य वसूल किए जाते थे। साथ ही नियमित और अनियमित सैनिकों तथा पुलिसवालों को वेतनस्वरूप जो कुछ मिलता था उसके अलावा वे ग्रामवासियों से अपने लिए खाना-खर्चा वसूल किया करते थे। यदि ऐसा नहीं था तो फिर अनुदान में दिए गांवों में ऐसे सरकारी अमलों का प्रवेश वर्जित करने का कोई मानी नहीं था। बंगाल, बिहार और बुन्देलखण्ड में तो गुप्तकाल में ही गांववालों को चाटों और भटों के रहने और खाने-पीने की व्यवस्था करनी पड़ती थी और जिस काल की स्थिति का निरूपण हम कर रहे हैं उस काल में चम्बा में भी ग्रामीण लोगों को यह भार वहन करना पड़ता था। गुप्त काल से पहले इस प्रथा का सही स्वरूप क्या था इसकी जानकारी हमें नहीं है किन्तु चम्बा अभिलेख (९७४) से प्रकट होता

है कि दान के दूसरे हिस्सो में भी जो गाव राजा के प्रत्यक्ष नियन्त्रण मे थे उन्हे इन सरकारी अमलो के भोजन आवास परिवहन आदि पर काफी खर्च करना पडता था। चम्बा अभिलेख से ज्ञात होता है कि चाट और भट किसानो के घरो मे प्रवेश करके उन्हे अपनी कच्ची और पकी फसल, ईख और नमक तथा गाय के दूध का एक हिस्सा देने को मजबूर कर सकते थे वे अपने उपयोग के लिए उनकी कुर्सियाँ, बेंचें या खाटें उठा ले जा सकते थे और उनकी लकडी, ईधन, घास भूसा आदि हथिया सकते थे।[1] अन्यत्र वे ऐसा व्यवहार नही करते होगे, ऐसा मानने का कोई कारण दिखायी नही देता।

पाला और प्रतीहारो के राज्यो की अर्थव्यवस्था मे उद्योग-व्यापार का भी सामन्तीकरण देखने को मिलता है। धर्मपाल के अधीन चार गावों से संयुक्त हट्टिकाएँ एक व्यक्ति को अनुदान मे दे दी गयी।[2] जाहिर है कि इस ग्रहीता ने व्यापारियो को उतनी स्वतन्त्रता नही दी होगी जितनी कि उन्हें राज्य ने दे रखी होगी। सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण ३४ अश्व विक्रेताओ का है। वे अपने घोडे आदि बचने के लिए देश के विभिन्न भागो से चलकर पेहोआ मे एकत्र हुए थे और वहा उन्होने छः मन्दिरो को प्रत्येक घोडे खच्चर आदि की बिक्री पर दो द्रम्म देने का वादा किया था।[3] यह स्पष्ट नही है कि मन्दिरो को दिए जाने वाले शुल्क के अतिरिक्त वे राजा को भी कोई आगम शुल्क देते थे या नही। शायद राजकीय दबाव से मजबूर होकर लोग आगम शुल्क वसूल करने का अधिकार मन्दिरो और देवताओ को हस्तान्तरित कर देते थे। फिर सीयडोणि के शासक उदभट ने वस्तुओ पर लगाए गए आगम शुल्क का एक निश्चित हिस्सा विष्णु के मन्दिर को सौंप दिया।[4] इसी प्रकार, वहीं के विष्णु मन्दिर को कुछ व्यापारियो ने कम से कम १६ दुकानो से होने वाली सारी आय हस्तान्तरित कर दी।[5] राजस्थान मे लच्छुकेश्वर मन्दिर को दिये गए एक भूमि अनुदान मे हट्टिका मे विक्रय के लिए प्रति बोरे अन्न पर तीन विंशोपक आगम शुल्क और हर दुकान से दो विंशोपक मासिक शुल्क भी शामिल था।[6] राष्ट्रकूटो के साम्राज्य

---

१ आर० स० रि०, १६०२ ०३, पृष्ठ २५२-३, पंक्तियाँ २१ २४।
२ ए० इ० ४, न० ३४, पंक्तियाँ ५२ ५३।
३ वही १, न० २३ पंक्तियाँ १ १७।
४ वही न० २१, पंक्तियाँ ४ ७।
५ वही, पंक्तियाँ १३ ३४।
६ वही ३ न० ३६, पंक्तियाँ २२ २३।

में शिल्पियों से होने वाली राजकीय आय के अनुदान में दे दिए जाने का उल्लेख कहीं नहीं मिलता, लेकिन स्थानीय श्रेणियाँ धार्मिक प्रयोजनों के लिए अपनी आय अनुदान में अवश्य देती थीं। उदाहरण के लिए ७६३ में सोमेश्वर के बुनकरों की श्रेणि के प्रधान ने एक धर्मदाय के लिए बुनकर द्वारा तैयार किए माल का एक निश्चित अनुपात देना स्वीकार किया।[1] ८८० में ३६० नगरों की एक श्रेणि के चार प्रधानों ने एक ऐसा ही अनुदान दिया।[2] सम्भव है, ऐसे अनुदान राजा भी देते हों—पाल और प्रतीहार राजा तो देते ही थे। हमें यह जानकारी नहीं है कि राजा चुंगी और आगम शुल्क से होने वाली आय अपनी सेवा करने वाले सामंतों और राज्याधिकारियों को भी यथा-क्रम हस्तान्तरित कर देता था या नहीं। लेकिन पारलौकिक लाभ के लिए मन्दिरों को तो आय के ये साधन अवश्य ही अनुदान में दिये जाते थे।

उद्योग और व्यापार से होने वाली आय को धार्मिक अनुदान के रूप में हस्तान्तरित करने का चलन इसी काल में आरम्भ हुआ। मौर्योत्तर काल और गुप्तों के समय में श्रेणियों के पास नकद राशियाँ जमा कर दी जाती थीं और धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति उनसे प्राप्त ब्याज से होती थी। इस प्रकार अनुदान में दी गयी राशियों पर धार्मिक संस्थाओं का कोई नियन्त्रण नहीं होता था। प्रतीहारों के अधीन पुराना रिवाज चलता रहा। हाँ यह जरूर था कि ये राशियाँ श्रेणियों के पास नहीं बल्कि श्रेणियों के प्रधानों के पास जमा होती थीं। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वस्तुओं की बिक्री या दुकानों पर लगाये जाने वाले महसूलों को भी अब मन्दिरों को हस्तान्तरित करने का चलन शुरू हो गया। इस प्रकार शिल्पियों और व्यापारियों की आर्थिक प्रवृत्तियों पर एक हद तक मन्दिरों का नियन्त्रण हो गया जिससे वे अपने निजी स्वार्थ साध सकते थे।

स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति स्थानीय तौर पर तैयार और पैदा की गयी चीजों से होती रहे यही सामन्तवादी व्यवस्था का आधार था। इसमें बाजार के लिए बड़ी मात्रा में किसी खास वस्तु के उत्पादन की गुंजाइश नहीं रह जाती थी। पालों और प्रतीहारों के राज्यों में गाँवों की बिलकुल यही स्थिति थी। जातकों में शिल्पियों के गाँवों का उल्लेख मिलता है लेकिन पालों के अधीन गाँवों की आबादी के स्वरूप की जो थोड़ी-बहुत जानकारी हमें उपलब्ध

१ ए० इ० ६ न० १६ पंक्तियाँ ११२।
२ ज० ब० ब्र० रा० ए० सो०, १०, १९२, वही उद्धृत।

है उससे लगता है कि इन गाँवों में सिर्फ किसान ही नहीं, बल्कि ब्राह्मणों से लेकर मेदों, ग्रन्ध्र ग्रौर चाण्डालों तक, सभी प्रकार के लोग रहते थे।[1] एक प्रतीहार ग्रनुदानपत्र से प्रकट होता है कि ग्रलवर के पास के गाँवों में शिल्पी, व्यापारी और कृषक सभी रहते थे।[2] पालों और प्रतीहारों के राज्यों में करों की जो सूचियाँ मिलती हैं उनसे प्रकट होता है कि ये सभी कर किसानों से ही नहीं लिये जाते होंगे। 'कर' हिरण्य ग्रादि तो केवल गाँव के शिल्पी ग्रौर व्यापारी ही देते होंगे। इस प्रकार गाँव के ग्राम निर्भर ग्रार्थिक जीवन को कायम रखने के लिए यह ग्रावश्यक था कि बुनियादी जरूरतों की तमाम चीजों को पैदा ग्रौर तैयार करने वाले लोग गाँव में रहें। पिछड़े और जनजातीय लोग भी गाँव के लिए उपयोगी ग्रार्थिक प्रवृत्तियों में लगे रहते थे। पाल साम्राज्य के गाँवों में चाण्डाल लोग शायद चमड़ा कमाने और गाँव वालों के लिए जूते आदि बनाने का काम करते होंगे और मेद तथा ग्रन्ध्र ग्रनिर्दिष्ट मजदूरों का काम करते होंगे।

विहारों ग्रौर मन्दिरों से सम्बद्ध ग्रार्थिक पहलू कुछ बढ़े होते थे। देवपाल के नालन्दा ग्रनुदानपत्र के ग्रनुसार पाँच गाँव भिक्षुओं की पूजन सामग्री, पहनने और बिछाने के कपड़े, भोजन तथा ग्रौषधियाँ जुटाने ग्रौर विहार की मरम्मत के लिए दान किये गये।[3] यह मानना ठीक नहीं होगा कि इन तमाम चीजों का प्रबन्ध गाँव वालों से नकद वसूल की गयी रकम से ही होता था। सम्भवतः कुछ गाँव ग्रन्न देते थे ग्रौर कुछ कपड़ा ग्रौर कुछ ग्रन्य गाँव मकानों की मरम्मत के लिए मजदूर देते थे, या फिर प्रत्येक गाँव इन सभी चीजों के एक एक हिस्से का इन्तजाम करता होगा। तफसीलवार व्यवस्था चाहे जैसी रही हो, इतना तो निश्चित है कि गाँव विहारों को तरह-तरह की सेवाएँ प्रदान करके उनकी ग्रात्म निर्भर ग्रर्थ-व्यवस्था को कायम रखने में सहायक होते थे।

प्रतीहारों के ग्रधीन राजस्थान में कुछ मन्दिरों ने ग्रार्थिक ग्रात्म निर्भरता प्राप्त करने के निमित्त अपनी जमीन के बिखरे टुकड़ों की चकबन्दी की[4] और ऐसी व्यवस्था की जिससे दस्तकारों से ग्रावश्यक सामान नियमित रूप से मिलते

---

१ जातकों में उल्लिखित शिल्पियों के गाँव ग्रौर ग्रर्थशास्त्र में उल्लिखित सैनिकों के गाँव।

२ ए० इ० ३, न० ३६, पंक्तियाँ ५ ६, २२ २३।

३ वही, २३, न० ४७ पंक्तियाँ ३६ ४०।

४ वही १४ पृष्ठ १७७।

रहे। उदाहरण के लिए हम जानते हैं कि तली लोग एक मन्दिर को स्वेच्छा से प्रति माह एक निश्चित मात्रा में तेल दिया करते थे।[1] जो शिल्पी स्वेच्छा से ऐसा नहीं करते थे उन्हें लाचारीवश करना पड़ता था, क्योंकि उन्हें मन्दिर की मिल्कियत में पड़ने वाले क्षेत्र को छोड़ कर कहीं और बसने की छूट नहीं थी। प्रतीहार शासक मथनदेव ने लच्छुकेश्वर मंदिर के लिए प्रति पत्ता घी और तेल पर भी पलिकाओं का शुल्क लगाया, और प्रत्येक चौलिक (तमोली ?) को उसने पचास पत्ते देने को कहा।[2] स्पष्ट है कि इस सब पर खर्च करने के लिए न तो दाता के पास और न मंदिर के पास काफी नकद था और इस-लिए शिल्पियों और कारीगरों को अपनी बनायी चीजों का एक हिस्सा देना पड़ता था।

कुछ नगर भी आर्थिक दृष्टि से आत्म निर्भर थे क्योंकि उनके पास खेती की जमीन थी जिससे उन्हें अन्नादि मिल जाते थे। ऐसे नगरों में रहने वाले शिल्पियों का अपना अपना धंधा अपनी मर्जी के मुताबिक करने की पूरी छूट नहीं होती थी। प्रतीहारों के राज्य में तलियों, तमोलियों कल्लपालों (शराब बनाने वाले) और मालिकों के प्रधान अनुदान देते थे और कभी कभी अपनी अपनी श्रेणियों की ओर से दी हुई थाती भी रखते थे।[3] पहले के अभिलेख बतलाते हैं कि इस प्रकार की थाती पूरी शिल्पी श्रेणि के पास रखी जाती थी, लेकिन प्रतीहार अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ये थातियाँ श्रेणि प्रधानों को सौंप दी जाती थीं। राजकीय अधिकारियों की सलाह से श्रेणि प्रधान अपनी श्रेणि के सदस्यों पर कर लगा सकता था और उसकी ओर से सौदा और लेन देन कर सकता था। अभिप्राय यह है कि नगरों में शिल्पी लोग अपनी इच्छानुसार अपना धंधा नहीं चला सकते थे बल्कि जिस प्रकार किसान अपने अपने प्रभुओं की इच्छा पर चलते थे उसी प्रकार दस्तकारों को भी अपने अपने प्रधानों की मर्जी के मुताबिक चलना पड़ता था। शिल्पी अपने मन से कहीं आ-जा या बस नहीं सकते और अपने मन से अपने धंधे में कोई परिवर्तन नहीं कर सकते थे। यह चीज क्षेत्रबद्ध नगरीय अर्थव्यवस्था की महत्वपूर्ण विशेषता थी।

देश में और विशेषकर प्रतीहार साम्राज्य में छोटी छोटी आर्थिक इकाइयों के अस्तित्व का एक अन्य प्रमाण भी है। अलग अलग अलग स्थानों में अलग-

१ ए० इ०, १ नं० २१ पंक्तियाँ २७ ८, ३० ३१।

२ वही १ नं० ३६ पंक्तियाँ २२ २३।

३ ए० इ० नं० २०, दूसरा अभिलेख पंक्तियाँ ११ २०।

अलग ढग के माप-तौल के चलन से है। इनमे से कुछ का उल्लेख सीयडोणि अभिलेख मे हुआ है। ऐसा जान पडता है कि मणि तालि और तुला के स्थानीय मानक थे।[1] ग्वालियर क्षेत्र मे जमीन नापने के लिए उसका अपना मानक प्रचलित था[2] और इन स्थानीय मानको का निर्धारण सम्राट के हाथ (परमेश्वरीय)[3] की लम्बाई के आधार पर होता था। गुप्तो और सेनो के अधीन हम पूर्वी भारत के भूमि माप के स्थानीय मानको की कुछ जानकारी है। ऐसे मानक पालो के अधीन भी प्रचलित थे। देश के छोटी छोटी राजनीतिक इकाइयो मे विभक्त हो जाने से माप तौल के समान मानको का विकास नही हो पाया, और फलत यहा का उद्योग-व्यापार राष्ट्र-व्यापी रूप नही ले सका।

इस काल मे उद्योग व्यापार की स्थिति अच्छी नही थी, इसका सकेत सिक्को की कमी से मिलता है। जिस एक मात्र पाल अनुदानपत्र मे द्रम्मो का उल्लेख मिलता है, वह धर्मपाल का अभिलेख है। इस अभिलेख के अनुसार ८०१ मे ३००० द्रम्म खर्च करके गया मे एक तालाब खुदवाया गया, लेकिन हम किसी भी मुद्रा के बारे मे निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि यह अमुक पाल राजा की मुद्रा है। अभी हाल मे भागलपुर जिलान्तर्गत कहलगाव नामक स्थान के पास पालो के एक ठिकाने की खुदाई हुई है। उसमे भी कुछ कौडिया तो मिली हैं लेकिन मुद्रा कोई नही। पालो का शासन लगातार लगभग चार सौ वर्षों तक चलता रहा फिर भी उनके साम्राज्य क्षेत्र मे अब तक कोई मुद्रा नही मिली है इसकी कोई ठीक सफाई दे सकना विद्वानो को बहुत मुश्किल लगता है।[4] लेकिन यदि हम पूर्व मध्यकालीन भारत मे प्रचलित अर्थव्यवस्था को ध्यान मे रख कर सोचे तो इसका कारण समझना कठिन नही है।

प्रतीहार अभिलेखो मे द्रम्म, पाद, विंशोपक, रूपक पण कार्षापण, कपर्दक आदि कई तरह की मुद्राओ का उल्लेख हुआ है।[5] इनमे से अंतिम का

१ बी० एन० पुरी हिस्ट्री ऑफ द गुर्जर प्रतीहारास, पृष्ठ १३६ ७।

२ ए० इ० १ न० २०, पक्तिया ८ ९।

३ वही पक्ति ४।

४ हिस्ट्री ऑफ बगाल, १, पृष्ठ ६६८। ऐसा समझा जाता है कि इस काल मे असम मे स्वर्ण मुद्राओ का प्रचलन काफी था लेकिन केवल पुरालेखीय प्रमाणों के आधार पर ज्यादा कुछ कह सकना कठिन है।

५ पुरी, स० प्र० ग्र०, पृष्ठ १३४ ६।

मतलब कौडी है जिसका उपयोग बड़े बड़े सौदों और लेन देन में अधिक नहीं हो सकता था। सुलेमान के अनुसार रहमी देश में विनिमय का साधन कौड़ी थी, और व्यापार में इसी का उपयोग होता था।[1] द्रम्म के चलन से वाणिज्य व्यापार को प्रश्रय मिल सकता था। द्रम्म का सबसे पहला उल्लेख हमें मारवाड़ में प्राप्त ६०८ के एक अभिलेख में मिलता है,[2] किन्तु प्रतीहारों के अधीन हमें ६वीं शताब्दी से पहले द्रम्म के बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। चाँदी के द्रम्म जिन पर आदिवराह का चित्र उत्कीर्ण है मिहिरभोज (८३६ ८८४) के बताये जाते हैं और जो घटिया धातुओं के हैं वे उसके दो उत्तराधिकारियों महेन्द्रपाल (८८४ ९१०) और द्वितीय भोज (९१० १४) के माने जाते हैं किन्तु यह एक अनुमान ही है। इनके अलावा हाल में मिहिरभोज के पौत्र विनायक पाल (९१४ ४३) के भी कुछ द्रम्म मिले हैं।[3] बाद में ठक्कुर फेरु कृत द्रव्यपरीक्षा में प्रथम भोज की वराहमुद्रा के मुकाबले इनका उल्लेख विनायकमुद्रा के रूप में हुआ है[4] जिससे प्रकट होता है कि ये दो तरह के सिक्के काफी प्रचलित थे। किन्तु अब तक प्राप्त द्रम्म मुद्राओं की संख्या बहुत कम है। इस प्रकार साहित्यिक और पुरालिखीय सूत्रों से पता चलता है कि ९वीं शताब्दी से पूर्व द्रम्म का बहुत ज्यादा प्रचलन नहीं था। इसका चलन १०वीं शताब्दी से ही बढ़ा, और वह भी सीयडोणि जैसे कतिपय नगरों तक ही सीमित रहा। ९वीं शताब्दी के बाद के भी जो द्रम्म प्राप्त हुए हैं, उनकी संख्या अधिक नहीं है। २०० आदिवराह और विग्रहपाल मुद्राएं लखनऊ म्यूजियम में सुरक्षित हैं चांदी और ताम्बे की लगभग २० आदि वराह मुद्राएं इंडियन म्यूजियम में हैं, और कुछ बड़ौदा म्यूजियम में भी।[5] मौर्योत्तर काल और गुप्त काल की मुद्राओं की भारी संख्या की तुलना में ये थोड़ी सी मुद्राएँ कुछ नहीं हैं। जो भी हो उनकी संख्या इतनी

---

१ पुरी स० प्र० ग्र०, पृष्ठ १३६।

२ असहाय ने जिसका नारद स्मृति का भाष्य ८वीं सदी का माना जा सकता है एक लाख द्रम्मों का उल्लेख किया है (ज० न्यु० सो० इ०, १७, ६६)। बंगाली पाण्डुलिपि में द्रम्म का जो उल्लेख आया है वह शायद इससे पहले का है।

३ ज० न्यु० सो० इ०, १० २८ ३०।

४ वही २९।

५ वही पृष्ठ १५१।

नहीं थी कि वे उस समय की क्षेत्रबद्ध अर्थव्यवस्था के प्राचीर को भेद सकती।[1]

यह बतलाया जा चुका है कि किसी भी सिक्के को निश्चित रूप से पाल सिक्का नहीं कहा जा सकता है और जिन्हें प्रतीहारों का माना जा सकता है, ऐसे सिक्के भी बहुत कम हैं। अतएव इस काल के जो सिक्के मिले हैं वे और जिनका उल्लेख समकालीन अभिलेखों में हुआ है, वे सब शायद अधिकतर उन स्थानीय संस्थाओं या वणिक समूहों द्वारा जारी किये गये थे जिन्हें अपने अपने शासकों ने यह अधिकार दिया था। गधैया पैसे पर यह अनुमान लागू हो सकता है। ये राजस्थान में पहले पहल शायद दसवीं शताब्दी में ढाले गये, और उन पर लिखे हुए अक्षरों को देखकर तो यही लगता है कि ११वीं शताब्दी के पहले इनका चलन नहीं के बराबर था। दसवीं सदी के सीयडोणि अभिलेख में जिस पंचीयक द्रम्म का उल्लेख हुआ है उसे भण्डारकर स्थानीय पंचायत द्वारा ढाला गया सिक्का मानते हैं।[2] उस काल में द्रम्मों के स्थानीय नाम हुआ करते थे जो बाद परवर्ती काल में भिल्लमाल या श्रीमालिय द्रम्मों के उपयोग से भी साबित होती है।[3] इसमें सन्देह नहीं कि स्थानीय संस्थाओं, नगरों या व्यापारियों द्वारा जारी किये गए सिक्के केन्द्रीय सत्ता के निष्प्रभाव होने और क्षेत्रीय आर्थिक एकाकों के अस्तित्व की साक्षी भरते हैं।

राजस्थान में ८६८ से ९०४ तक के आठ अभिलेखों में मंदिरों के प्रबन्धकों द्वारा नकद मूल्य देकर दुकानें खरीदने का उल्लेख है,[4] पर यह किस प्रकार की मुद्रा थी कहना कठिन है। उस काल की किसी भी श्रेणी की मुद्राओं के बारे में हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि ये पाल, प्रतीहार अथवा राष्ट्रकूट राजाओं द्वारा जारी किये गए थे। इस काल में उड़ीसा में कई राजवंशों ने शासन किया, पर ११वीं सदी के पहले वहाँ भी सिक्कों का अभाव जैसा है। दक्षिण भारत में भी यही अवस्था पाई जाती है। फिर भी, जो सिक्के मिले हैं और जिनका उल्लेख प्रतीहार अभिलेखों में हुआ है उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतीहार साम्राज्य की आर्थिक अवस्था उतनी क्षेत्रबद्ध नहीं थी

१ लेकिन इस विवेचन में काश्मीर को शामिल नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि वहाँ मुद्रा का प्रचलन काफी था।

२ ज० न्यु० सो० इ०, १७, ७० ७१। अब इसका मतलब ¼ द्रम्म लगाया जाता है।

३ ज० न्यु० सो० इ०, १७ ७४ ७५।

४ ए० इ० १९, नं० ७ पृष्ठ ५२ ५८।

सीयडोणि अभिलेख से यह धारणा बनती है कि प्रतीहार साम्राज्य के व्यापारियों में नमक के व्यापारियों का महत्व सबसे अधिक था। इसमें सात नमक वणिकों का उल्लेख है, जिनमें से कुछ को मंदिरों की स्थापना का और कुछ को उन्हें अनुदान देने का श्रेय दिया गया है। यदि तत्कालीन अर्थव्यवस्था क्षेत्रबद्ध न होती तो अन्न और कपड़े के व्यापारियों का महत्व सबसे ज्यादा होता। यहाँ तक कि नगरों में रहने वालों के पास भी पास पड़ोस में जमीन हुआ करती थी, और ये लोग शायद उसी जमीन की उपज पर निर्भर थे। सीयडोणि[1] और ग्वालियर[2] के व्यापारियों के बारे में तो यही स्थिति जान पड़ती है। आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था का यह सबसे सबल प्रमाण है कि प्रतीहार साम्राज्य में नमक के व्यापारियों का महत्व सभी व्यापारियों से अधिक था। प्रतीहार अभिलेखों में जिस दूसरे महत्वपूर्ण व्यापारी वर्ग का उल्लेख हुआ है, वह है तलका (तलिको) का वर्ग। किंतु इनका महत्व भी आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था का ही सूचक है। शायद सभी गाँव खाना बनाने और रोशनी के लिए जरूरी पूरा तेल अपने यहाँ तैयार नहीं कर पाते थे, और उनकी जरूरत तलक पूरा करते थे।

संक्षेप में पूर्व मध्यकालीन अर्थव्यवस्था की चार प्रमुख विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं। एक तो यह कि भूमि पर राजकीय और सामुदायिक स्वामित्व का ह्रास हो रहा था और व्यक्तिगत स्वामित्व का विकास हो रहा था। दूसरे, उपसामन्तीकरण, बेदखली, नये नये करों के आरोपण तथा बेगार के कारण किसानों की दशा दासवत होती जा रही थी। तीसरे, व्यापार और शिल्प कारीगरी आदि से होने वाली राजकीय आय भी कुछ लोगों की जागीर बनती जा रही थी। और चौथी बात थी आत्म निर्भर आर्थिक जीवन, जिसका अस्तित्व मुद्रा के अपेक्षाकृत कम उपयोग और व्यापार की कमी से सिद्ध होता है। इन सबको पाल, राष्ट्रकूट और प्रतीहार साम्राज्य में प्रचलित अर्थव्यवस्था की विशेषताएँ माना जा सकता है। इनमें से भूमिधर मध्यवर्ती लोगों के अस्तित्व को तो पहले से ही चली आ रही बात माना जा सकता है। हाँ यह अवश्य हुआ कि इस काल में उनकी संख्या में खूब वृद्धि हुई। इसी तरह किसान लोग भी इन साम्राज्यों की स्थापना से पहले से ही तरह-तरह के प्रतिबंधों और बाधाओं के कारण हीनावस्था में पहुँचते जा रहे थे। अब अन्तर सिर्फ इतना

१ ए० इ० १ नं० २१ पंक्तियाँ ३ ४।

२ वही नं० २०, दूसरा अभिलेख, पंक्तियाँ ३।

पड़ा कि राजस्थान गुजरात और महाराष्ट्र मे दरपट्टे, वेदखली तथा वेगार का सिलसिला और भी जोरो स चल पड़ा। किन्तु ग्रामीण लोगो के भूमि विषयक तथा सामुदायिक अधिकारो का ह्रास और उसके परिणामस्वरूप भूमि पर निजी अधिकारो का विकास, शिल्प उद्योग तथा व्यापार का सामन्तीकरण, और मुद्रा का अभाव य सब इस काल की अर्थव्यवस्था की नयी विशेषताएँ जान पड़त हैं। इनम से कुछ को—विशेषकर भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व के विकास को—अच्छी तरह समझने के लिए पूर्व मध्यकाल म दिये गए अनुदानो के कानूनी आधार का अध्ययन करना आवश्यक है।

परिच्छेद ४

पूर्व मध्यकाल मे भूमि विषयक अधिकार

(लगभग ५०० से १२०० ईस्वी तक)

प्राचीन एव मध्यकालीन भारत म भूमि सम्बधी अधिकारो के सवाल पर अंग्रेजी हुकूमत के समय म साम्राज्यवादी और राष्ट्रवादी इतिहासकारो के बीच बडा तीव्र विवाद चलता रहा जिसके कारण इस विषय का सही सही निरुपण कर सकना कठिन हो गया है। अंग्रेजो के बनाए भूमि सम्बधी कानूनो का औचित्य ठहराने के लिए कुछ प्रशासक इतिहासवेत्ताओ ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि प्राचीन भारत म सारी भूमि राजा की सम्पत्ति होती थी।[१] इस सिद्धात का समथन मेन ने तो किया ही साथ ही बुहलर,[२] हापकिन्स, मकडॉनल, कीथ तथा विसेंट स्मिथ —जसे प्राच्य विद्या विशारदो ने भी किया। १९०४ म विसेंट स्मिथ ने अपनी प्रसिद्ध पाठय-पुस्तक[३] मे लिखा कि 'भारत के देशी कानून म खेती की जमीन को सदा से राजा की सम्पत्ति माना जाता रहा है।[४] इस नितात एकागी दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया पी० एन०

---

१ मार्क्स के शब्दो मे, भूमि पर राज्य के स्वामित्व का सिद्धात अंग्रेजी सरकार के लिए अधिक सुविधाजनक और लाभदायक था। अत अपनी भूमि-विषयक नीति और कानूनों के सम्बध म उसने इसी सिद्धात को अपनाया। हि० ध० शा०, ३ ८६६।

२ से० बु० ई० २५ २५६ ६०, मनु-स्मृति पर लिखी टिप्पणी ८, ३९।

३ अर्ली हिस्ट्री ऑफ इडिया (ऑक्सफोर्ड, १९०४), पृष्ठ १२३, ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इडिया पृष्ठ ९० ।

४ अर्ली हिस्ट्री ऑफ इडिया (ऑक्सफोर्ड १९०४) पृष्ठ १२३।

चतुर्जी तथा काशीप्रसाद जायसवाल¹-जैसे राष्ट्रवादी इतिहासकारों के विचारों में हुई। इन्होंने साम्राज्यवादी अवधारणा का खण्डन किया और भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व सिद्ध करने का प्रयास किया।² उन्नीसवीं सदी में तथा बीसवीं सदी के प्रारम्भ में अंग्रेजों ने जो बड़े बड़े जमींदारों के अधिकारों पर प्रहार किया उसका प्रतिरोध ऐसे विचारों से ही हो सकता था। घोषाल ने जायसवाल के राष्ट्रवादी सिद्धान्त पर आपत्ति की, लेकिन वे जायसवाल द्वारा अपनी मान्यता को सिद्ध करने के लिए दिये गये कतिपय उद्धरणों की व्याख्या करके ही रह गये।³ हाल में कुछ और विद्वानों ने भी इस विषय पर लिखा है⁴ किन्तु मुख्यतः सिद्धान्त के धरातल पर ही। यद्यपि इन अनुशीलनों के परिणाम स्वरूप भूस्वामित्व से सम्बन्धित अधिकांश कानूनी सूत्र और साहित्य प्रकाश में आ गये हैं किन्तु जिस काल की वे उपज हैं उस काल की राजनीतिक एवं आर्थिक प्रवृत्तियों के परिप्रेक्ष्य में रखकर उनका विश्लेषण नहीं किया गया है और न तिथि क्रम से ही इन साक्ष्यों की व्याख्या की गई है। यह भी नहीं सोचा गया कि भूमि विषयक अधिकारों से सम्बन्धित मान्यताओं में समय समय पर क्यों परिवर्तन होते रहे हैं। इसके सम्बन्ध में प्राचीनकाल और मध्य काल (जिसका प्रारम्भ हम गुप्त काल की समाप्ति से मानते हैं) के बीच कोई सीमा-रेखा भी नहीं खींची गयी है। आधुनिक विद्वान इस विषय पर विचार करते हुए कभी भी अपने समय की भूमि व्यवस्था के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाये हैं और इसलिए उनका प्रयास बराबर भूमि पर एक या दूसरे पक्ष के अखण्ड अधिकार को ही सिद्ध करने का रहा। उन्होंने इस सम्भावना की ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया कि एक ही भूमि के टुकड़े पर विभिन्न पक्षों के अलग अलग अधिकार भी हो सकते हैं और इन अधिकारों का आधार सुप्रतिष्ठित कानून नहीं बल्कि रीति परम्पराएं भी हो सकती हैं।

अभी तक इस विषय के विवेचन में पूर्व मध्यकालीन प्रमाणों और साक्ष्यों पर अलग से विचार नहीं किया है, इसलिए हम अपने अध्ययन को मुख्यतः

---

१ पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन एशिएण्ट इंडिया पृष्ठ १७६।

२ हिन्दू पॉलिटी द्वितीय संस्करण पृष्ठ ३४३ ५१।

३ द बिगिनिंग ऑफ इंडियन हिस्टोरिओग्राफी एण्ड अदर एसेज निबन्ध ६, पृष्ठ १५८ ६६।

४ एस० के० मती इकनॉमिक लाइफ ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया इन गुप्त पीरियड पृष्ठ ११ २३ एल० गोपाल ज० इ० सो० हि० ओ०, ४ २४६ ६३।

इसी काल तक सीमित रखेंगे। यदि हम सामुदायिक, राजकीय तथा व्यक्तिगत, सभी प्रकार के भूमि विषयक अधिकारों पर एक एक करके विचार करें तो इससे हमें वस्तु स्थिति का सही बोध हो सकता है।

वदिक काल से लेकर गुप्त-काल तक के भारतीय साहित्य से भूमि पर सामूहिक अधिकार होने का आभास मिलता है। उत्तर वदिक-कालीन ग्रंथ ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि जब विश्वकर्मन्भौवन ने पुरोहितों को यज्ञार्थ भूमि दान की तो पृथ्वी ने इसका विरोध किया।[1] ऐसा लगता है कि उस काल में गोत्र की सहमति के बिना भूमि दान नहीं की जा सकती थी।[2] और विश्वकर्मनभौवन के उदाहरण को छोड़कर वदिक काल में गोत्र की सहमति से भी भूमि दान करने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। वेदोत्तर काल के धर्मशास्त्रकार गौतम ने यह विधान किया है कि योग क्षेम अर्थात् जीविका के साधन एवं सम्पत्ति का विभाजन नहीं हो सकता।[3] स्पष्ट ही इस सम्पत्ति में भूमि शामिल है और इस नियम के अनुसार परिवार के सदस्यों के बीच यह विभाजित नहीं की जा सकती। गौतम धर्मसूत्र के उसी अनुच्छेद में योग क्षेत्र शब्द का अर्थ धर्मार्थ और यज्ञार्थ सम्पत्ति लगाया गया है, किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि यह उस शब्द की बाद में की गयी व्याख्या है।[4]

वेदोत्तर काल में भूमि पर गोत्रीय अधिकार के साथ साथ गोत्र से बाहर के लोगों के अधिकारों का भी विकास हुआ। जब विभिन्न गोत्रों और धंधों के लोगों ने मिलकर गाँव बसाए तब भूमि पर ग्रामीण समुदाय को कुछ अधिकार प्राप्त हुए। भूमि पर व्यक्ति का स्वामित्व किसी न किसी प्रकार के सामूहिक नियन्त्रण के अधीन था। यह पुरातन भावना कि भूमि सम्पूर्ण समुदाय की सम्पत्ति है और उसे हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता शायद प्राङ्-मौर्य-काल में भी मौजूद थी।[5]

जैमिनी के मीमांसा सूत्र से भूमि पर सामुदायिक अधिकार के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। इस ग्रन्थ को हम चौथी से तीसरी सदी ई० पू० के बीच की कृति मान सकते हैं। इसमें कहा गया है कि विश्वजित यज्ञ में, जिसमें यजमान को

---

१ ८. २१।
२ क० हि० इ० १, ११८।
३ २८ ४६।
४ स० बु० ई०, २, सूत्र २८ पर पा० टि० ४६, ४६।
५ क० हि० इ०, १, १७८।

अपनी सारी सम्पत्ति दान कर देनी पड़ती है, कोई सम्राट भी अपने साम्राज्य की सारी भूमि दान नहीं कर सकता क्योंकि धरती सब की है।[1] धरती सब की है इसका अर्थ कुछ विद्वानों ने यह लगाया है कि भूमि पर प्रत्येक व्यक्ति का अलग अलग अधिकार है।[2] लेकिन यहाँ भूमि पर किसी एक का कोई अधिकार होने के बजाय सार्वजनिक अधिकार होने का उल्लेख है। शबर स्वामी ने ई० सन् की पाँचवीं शताब्दी में इस सूत्र का भाष्य करते हुए कहा है कि धरती पर दूसरों का भी उतना ही अधिकार है जितना कि राजा का है।[3] इससे भूमि पर सामूहिक अधिकार के सिद्धान्त का प्रतिपादन होता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में कुछ सामूहिक अधिकारों की प्रथा मध्य कालीन ग्रन्थों में पायी जाती है। इन मध्य कालीन कृतियों में बार बार आदिष्ट किया गया है कि पिता व बन्धुओं के साथ साथ भूमि तथा अन्य [illegible] की सम्पत्ति है और उसका विभाजन हजार पीढ़ियों तक नहीं हो सकता।[4] स्पष्ट है यह विधान गुप्तों से पहले की वस्तुस्थिति का द्योतक है क्योंकि गुप्तकाल के पहले किसी भी धर्मशास्त्र के दाय (उत्तराधिकार) वाले प्रकरण में भू-सम्पत्ति के विभाजन की व्यवस्था नहीं की गयी है। पर गुप्त कालीन और गुप्तोत्तर काल के धर्मशास्त्रों में भू सम्पत्ति के विभाजन की स्पष्ट व्यवस्था है। अतएव मध्य कालीन स्मृतियों में भूमि की अविभाज्यता का पुराना विधान असंगत मालूम पड़ता है। मिताक्षरा[5] और मदनपारिजात[6] में यह तर्क दिया गया कि ब्राह्मण ग्राम के क्षेत्रों के अविभाज्य होने का नियम ब्राह्मण से उत्पन्न क्षत्रिय तथा अन्य पुत्रों पर ही लागू होता है। इसका मतलब यह हुआ कि किसी भी ब्राह्मण के ब्राह्मण पुत्र आपस में भू सम्पत्ति का विभाजन कर सकते थे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार भूमि पर गोत्रीय अधिकार-सम्बन्धी व्यवस्था का एक भाग लगाया गया जिससे भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार को बल मिला। हाँ, वर्ण के आधार पर ब्राह्मणों के क्षत्रिय तथा अन्य पुत्रों को व्यक्तिगत अधिकारों

---

१ ६.७.३ ध० को०, १ ०१३ में उद्धृत।

२ काशीप्रसाद जायसवाल हिन्दू पॉलिटी द्वितीय सं० पृष्ठ ३४५।

३ जैमिनी, ६, ७.३ की टीका, ध० को०, १ ०१३ में उद्धृत।

४ ध० को० १, १२३१।

५ ब्रह्मदानस्य क्षेत्रस्याविभाज्यत्वमस्त्यविभाज्यमिति। तद् ब्राह्मणोत्पन्न क्षत्रियादि पुत्रविषयम्। धर्मकोश १ १२३२।

६ वही, १२३१।

से वंचित रखा गया। धर्मशास्त्रकार देवण्णभट्ट जिसका समय १३वीं सदी के आसपास माना जा सकता है, मिताक्षरा की व्याख्या से सहमत जान पड़ता है। इस महत्त्वपूर्ण अनुच्छेद की व्याख्या करते हुए वह स्पष्ट शब्दों में कहता है कि भूमि का विभाजन हो सकता है, किन्तु साथ ही उसने शर्त जरूर लगा दी कि विभाजन समस्त कुटुम्बियों की अनुमति से ही हो सकता है (अखिल दायादानुमत्ये)।[1] इस प्रकार जो बात मिताक्षरा में प्रकारान्तर से कही गयी है वह देवण्णभट्ट की स्मृतिचन्द्रिका में बिलकुल स्पष्ट शब्दों में कह दी गयी है। तात्पर्य यह कि ११वीं से लेकर १३वीं शताब्दी तक के धर्मशास्त्रों में ब्राह्मण परिवारों की भू-सम्पत्ति के विभाजन की स्पष्ट व्यवस्था की गयी है और जो नियम ब्राह्मण परिवारों के लिए बना था सम्भवतः वही अन्य जातियों के परिवारों पर भी लागू रहा हो।

सीमा विवाद के निर्णय और भूमि के क्रय विक्रय में ग्रामीण समुदाय का कुछ अधिकार दिये गये हैं। धर्मशास्त्रों में व्यवस्था है कि सीमा विवाद में कुटुम्ब (जाति) तथा पड़ोसी (सामन्त) मध्यस्थता करें किन्तु साथ ही किसानों, शिल्पियों और यहाँ तक कि ग्रामेटकों के साक्ष्यों को भी मान्यता दी गयी है। उनके अनुसार कोई भी व्यक्ति अपने गाँव, जाति और दायादों की सहमति से ही अपनी जमीन बेच सकता है।[2] जमीन बेचने में कुछ खास तरह के खरीदारों को प्राथमिकता देनी पड़ती थी। पहले निकट सम्बन्धियों से पूछा जाता था, फिर पड़ोसियों से और तब धनिकों[3] और इनके बाद अपने सामान्य कुटुम्बियों (सकुल्यों) से। जब इनमें से कोई खरीदने को तैयार न हो तभी उसे दूसरी जातियों के लोगों के हाथ बेचने की इजाजत दी गयी है।[4]

बृहस्पति स्मृति का विधान है कि जब राजा भूमि दान करे (धर्मार्थ अथवा धर्मेतर प्रयोजनों से यह स्पष्ट नहीं है) तब उसे चारों वर्णों के नायकों, व्यापारियों, महत्तरों, तमाम ग्रामवासियों, उस भूमि के स्वामियों तथा राज्याधिकारियों को सूचित कर देना चाहिए।[5] इस निर्देश का पालन साधारणतया

१ धर्मकोश, १, १२३२।
२ धर्मकोश, १, ९०१ (स्वग्रामज्ञातिसामन्तदायादानुमतेन च)।
३ धर्मकोश १, ९०० में उद्धृत भारद्वाज स्मृति।
४ वही।
५ राजा क्षेत्र न्दत्वा चातुर्वर्ण्यवणिज्यभारिक सवग्रामीणतामहत्तरस्वामीपुन्पा-

सभी अनुदान पत्रों में किया गया है और इससे यह संकेत मिलता है कि भूमि पर ग्रामवासियों का भी कुछ हक होता था। गुप्त काल में एक ऐसा उदाहरण मिलता है कि धर्मिक प्रयोजनों से भूमि के हस्तांतरण में ग्राम सभा की सहमति लेनी पड़ी थी। इसी प्रकार ९वीं शताब्दी में ग्वालियर के निकट एक नगर ने एक मन्दिर को दान में कुछ ऐसी भूमि दी जिस पर सभी नगरवासियों का संयुक्त अधिकार था। सामुदायिक अधिकारों के प्रयोग के ऐसे उदाहरण कम ही मिलते हैं। किन्तु, इसमें सन्देह नहीं कि औपचारिक रूप में इसका निर्वाह शक्तिशाली राजाओं ने भी किया। अनुदान की सूचना वे केवल अपने राज्याधिकारियों और सामन्तों को ही नहीं बल्कि सामान्य जनों को भी देते हैं जिनमें चाण्डाल मेद और अन्ध्र तक शामिल हैं। बंगाल और उड़ीसा के कुछ अनुदानपत्रों में भूमिदान के लिए सभी की सहमति मांगी गयी है और कुछ अन्य अनुदानपत्रों में सभी वर्गों के ग्रामवासियों को दान की सूचना भर दे दी गयी है। इस प्रथा में उस समय के सामुदायिक अधिकारों का अवशेष मिलता है जब भूमि गोत्र की संयुक्त सम्पत्ति होती थी लेकिन जब गोत्रों ने बिखर कर जातियों का रूप ले लिया और एक साथ विभिन्न गोत्रों के लोगों से आबाद गांव बस गये तब भी इस पुरानी रीति का निर्वाह होता रहा।

पुरोहित और मन्दिर भूमि का उपभोग समुदाय के नाम पर करते थे। धार्मिक प्रयोजनों से जमीन बेचने की छूट इसलिए भी दी गयी थी कि मन्दिर समुदाय के कल्याण के लिए ही काम करते हैं। मन्दिरों को भूमि बलि और सत्र के लिए दान की जाती थी और बलि तथा सत्र के रूप में देवताओं को जो-कुछ भेंट किया जाता था उसके साझीदार केवल पुरोहित ही नहीं, बल्कि जिनका पेशा पुरोहिताई नहीं थी, ऐसे भक्तजन भी होते थे। आज भी देवताओं को चढ़ाया गया पान प्रसाद दैनिक पूजा अर्चना तथा समय समय पर आयोजित विशेष पूजा अर्चनाओं के अवसरों पर मन्दिरों में एकत्र ग्रामवासियों में बांट दिया जाता है। सम्भव है कि प्राचीनकाल में चढ़ावे का एक बड़ा हिस्सा भक्तजनों के बीच बांट दिया जाता हो। कालान्तर से पुरोहित लोग उसका अधिकांश अपने उपयोग के लिए रखने लगे, तथा सामान्य जन, जिनके नाम पर भूमि अनुदान दिया जाता था, अनुदत्त भूमि की उपज के एक बहुत ही छोटे हिस्से के साझीदार रह गये।

जहां तक गोचर भूमि का सम्बन्ध है, प्राक् गुप्त-काल के दो स्मृतिकार, मनु तथा विष्णु, स्पष्ट शब्दों में कहते हैं[1] कि गोचर भूमि का विभाजन नहीं हो

१ धर्मकोश, २, १२०९।

सकता। जलाशयों आदि पर सामुदायिक अधिकारों का संकेत इस व्यवस्था से मिलता है कि उदक का विभाजन नहीं हो सकता।[1] अभिलेखों से भी प्रकारान्तर से यह प्रकट होता है कि जनता को कुछ ऐसे सामूहिक अधिकार प्राप्त थे, किन्तु बाद में जैसे विधान बने और जिन शर्तों पर अनुदान दिये गये उनके कारण इन अधिकारों का क्षय होता चला गया।

भूमि सम्बन्धी सामुदायिक अधिकारों पर पहले पहल राजाओं ने अंकुश लगाया। ऊपर हम विश्वकर्मभौवन से सम्बन्धित जिस अनुच्छेद का हवाला दे चुके हैं, वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इस प्रक्रिया का प्रारम्भ वैदिक युग की समाप्ति से पूर्व ही हो गया था। यद्यपि इस अनुच्छेद से पता चलता है कि राजा द्वारा अधिकाधिक भूमि विषयक अधिकारों का स्वायत्त करते जाना समाज को सह्य नहीं था, किन्तु धीरे धीरे राजा को समाज के प्रतिनिधि की हैसियत से व सामाजिक अधिकार प्राप्त हो गये। लेकिन तब भी उसे जमीन पर अखण्ड और निरंकुश अधिकार प्राप्त नहीं हो सका। जो भी हो, पूर्व मध्य-काल तक भूमि पर जितना कुछ गोत्रीय या सामुदायिक अधिकार शेष रह गया, उसकी जड़ें राजकीय तथा व्यक्तिगत अधिकारों के विकास के कारण खोखली पड़ गयीं।

राजकीय तथा व्यक्तिगत अधिकारों के विकास की प्रक्रिया की साक्षी इस काल के धर्मशास्त्र और भूमि अनुदान पत्र दोनों भरते हैं। जो लोग प्राचीन भारत में भूमि पर राजकीय स्वामित्व का अस्तित्व सिद्ध करने की कोशिश करते हैं, वे अपनी स्थापना के पक्ष में दिये गये प्रमाणों को प्राचीन काल और मध्य काल दोनों पर लागू कर देते हैं। इस बात की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता कि जिन ग्रन्थों में भूमि के सम्बन्ध में राजकीय अधिकारों पर बल दिया गया है, उनमें से अधिकांश पूर्व-मध्य-काल की कृतियाँ हैं। कौटिल्य कृषि पर राजकीय नियन्त्रण को अपेक्षित मानता है,[2] किन्तु वह कहीं भी भूमि पर राजा के स्वामित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करता। ऐसा लगता है कि सबसे पहले मनु ने पृथ्वी पर राजा के सर्वोच्च अधिकार की बात मोटे तौर पर कही, लेकिन इस सर्वोच्च अधिकार का मतलब जरूरी तौर पर भू स्वामित्व ही रहा हो ऐसा मानने का कोई कारण नहीं दिखायी देता। उसके अनुसार, खानों से निकाली कच्ची धातुओं के आधे हिस्से पर राजा का अधिकार था, क्योंकि वह

---

१ धर्मकोश, १२०४, १२०६, १२०६।

२ अर्थशास्त्र, २.२४।

पृथ्वी का अधिपति था और उसकी रक्षा करता था।[1] पूववर्ती शास्त्रकारों के अनुसार राजा का कर लगाने का अधिकार केवल इस कारण था कि वह लोगों की रक्षा करता था। राजकीय स्वामित्व का सिद्धांत स्पष्ट शब्दों म सबसे पहले उत्तर गुप्त काल के स्मृतिकार कात्यायन ने प्रतिपादित किया। उसके अनुसार राजा भू स्वामी है और इसलिए उपज की एक चौथाई का अधिकारी है।[2] फिर भी वह स्वीकार करता है कि चूंकि मनुष्य भूमि पर रहते हैं इस लिए उन्ह (सामान्य भाषा म) उसका स्वामी कहा जाता है।[3] इस प्रकार उसने भूमि के राजकीय स्वामित्व के अपने सिद्धांत म सामान्य जनों के स्वामित्व के लिए भी गुंजाइश छोड दी है। कुछ ऐसी ही बात नारद भी कहता है। वह राजा को किसानों को जमीन और मकान से वंचित करने का अधिकार तो देता है किन्तु साथ ही राजा को ऐसी सख्त कारवाई करने से मना करता है क्योंकि जमीन और मकान गृहस्थों के जीवन यापन के साधन हैं।[4] नारद के इस दूसरे निर्देश की व्याख्या करते हुए असहाय कहता है कि किसानों को बीज आदि देकर राजा को अपना स्वत्व प्राप्त करना चाहिए।[5] इसका मतलब यह हुआ कि यदि राजा किसानों को राहत और सहायता दे तो उपज का अपना हिस्सा वह आसानी से प्राप्त कर सकता है। किसानों के पक्ष में किये गये ये दावे नरसिंह पुराण के भाष्य म बिलकुल नहीं मिलते। उसका कहना है कि भूमि किसानों की नहीं राजा की है।[6] १२वीं शताब्दी के एक भाष्यकार भट्टस्वामी ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र पर लिखे अपने भाष्य म एक बहुत ही महत्वपूर्ण

---

१ ८ ३९।

२ कात्यायन स्मृति श्लोक १६।

३ श्लोक १७।

४ ११ ७० ४२।

५ नारद स्मृति १४ ४२ की टीका धर्मकोश १ ९४९ म उद्धृत।

६ एम० ए० बक कृत इकनॉमिक लाइफ इन एंशिएण्ट इण्डिया २ पृष्ठ ७४ म उद्धृत (लान लेंड टेंड लेबर ऑफ इण्डिया पृष्ठ १११ ४ से उद्धृत)। सन कृत हिन्दू जुरिस्प्रुडेंस पृष्ठ ५२ भी। याज्ञवल्क्य स्मृति १ ३१८, मिताक्षरा की टीका से भी यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है। इसके अनुसार भूमि दान करने या विक्रय का अधिकार किसी राजा के अधीनस्थ प्रान्तीय शासक या जिलाधीश को नहीं था, यह विशेषाधिकार सिर्फ राजा को ही था।

अनुच्छेद उद्धृत किया है। इसके अनुसार, शास्त्रविद लोग यह स्वीकार करते हैं कि राजा भूमि और जल दोनों का स्वामी है और सामान्य जन इन दो के अतिरिक्त किसी भी वस्तु के स्वामी हो सकते हैं।[1] यह अनुच्छेद नरसिंह पुराण के भाष्यकार के विचारों से बहुत मिलता जुलता है और इसमें राजा और प्रजा के अधिकारों का अंतर स्पष्ट शब्दों में बताया गया है।[2] इसमें यह नहीं बतलाया गया है कि प्रजा के भूमि विषयक अधिकार राजा के अधीन हैं बल्कि यह कहा गया है कि प्रजा को भूमि विषयक अधिकार बिलकुल नहीं हैं। यह अनुच्छेद सिंचाई करों के सन्दर्भ में उद्धृत किया गया है जिससे स्पष्ट है कि भट्टस्वामी ने इसका प्रयोग भू स्वामित्व के आधार पर कर लगाने का अधिकार सिद्ध करने के लिए किया है।

यद्यपि पाचवीं शताब्दी से सामान्य जन अपनी जमीन काश्तकारों को पट्टे पर दे सकते थे, फिर भी राजा भूमि पर अपने सर्वोच्च अधिकार का प्रयोग कर सकता था। याज्ञवल्क्य (२, १५८)[3] ने विधान किया है कि यदि काश्तकार कोई जमीन कृषि के लिए लेकर उस पर कृषि नहीं करता तो जमीन का मालिक उसे अपना हिस्सा देने को मजबूर कर सकता है। इसमें राज्य के हिस्से के बारे में कुछ नहीं कहा गया है। किन्तु बृहस्पति[4] और व्यास[5] के अनुसार ऐसी स्थिति में काश्तकार को न केवल भू स्वामी को उसका हिस्सा देना पड़ेगा बल्कि उसे उतना ही दण्ड राजा को भी देना पड़ेगा। कृषि की उपेक्षा से राजस्व की हानि अवश्य होती होगी, लेकिन इसके लिए राजा भू स्वामी के बजाय काश्तकारों को उत्तरदायी मानता है और इस प्रकार उनके साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करता है। इससे प्रकट होता है कि राजा को उनकी जमीन पर सामान्य सत्ता प्राप्त थी। जिस भूमि का उपभोग कोई परिवार लगातार तीन पीढ़ियों तक कर चुका हो, उस भूमि पर नारद सामान्यतया उस परिवार

१ अर्थशास्त्र (चतुर्थ संस्करण) अनु० पृष्ठ १४४।

२ घोषाल कृत हिस्ट्री ऑफ हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम पृष्ठ १६०। मानसोल्लास, १ (गा० ओ० सि० २८) परिच्छेद ३, श्लोक ३६१ से भूमि के राजकीय स्वामित्व के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। इसमें राजा को समस्त सम्पत्ति का, और विशेषकर भूगर्भ सम्पदा का स्वामी (ईश्वर) कहा गया है।

३ धर्मकोश, १, ९४३।

४ वही, १ ९४६।

५ वही, ९६१।

के कानूनी अधिकार को स्वीकार करता है। लेकिन यहाँ भी राजकीय अधिकार व्यक्तिगत अधिकारों का अतिक्रमण करता है क्योंकि राजकृपा से (राजप्रसादात्) ऐसी जमीन किसी दूसरे को दी जा सकती है। इस प्रकार एक ओर तो राजा को किसी भी व्यक्ति को अपनी भूमि तथा मकान से वंचित करने का अधिकार दिया गया है (भले ही वह भूमि और मकान उसके वंश में आठ पीढ़ियों से ही चला आ रहा हो), और दूसरी ओर उसे वह भूमि किसी और को भी प्रदान करने की सत्ता दी गयी है। ऐसी व्यवस्था में अन्ततः राजा एक लोगों से जमीन लेकर दूसरे को दे सकता था।

गुप्त-काल और गुप्तोत्तर-काल में चीनी यात्री फाहियान और ह्वेनसांग ने अपने अपने विवरणों में लिखा है कि भूमि राजा की थी। सम्भव है कि विभिन्न राजाओं के अधीन वास्तविक स्थिति में अन्तर पड़ता रहा हो, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि पूर्व मध्यकाल में भूमि पर राजकीय स्वामित्व का सैद्धान्तिक पक्ष प्रबल था। काशी प्रसाद जायसवाल प्राचीन भारत में भूमि पर राजकीय स्वामित्व के सिद्धान्त को सामन्तवादी विधान का अंग मानते हैं[1] किन्तु गुप्त-कालीन तथा गुप्तोत्तर काल की स्मृतियों और भाष्यों में भूमि में राजकीय स्वामित्व के पक्ष में जो प्रमाण मिलते हैं, उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। केवल जैमिनी विचारधारा के समर्थक शबर ने, जिसका समय तीसरी से चौथी शताब्दी के बीच पड़ता है इस पर आपत्ति की है।

यह कहा जा सकता है कि राजा को भूमि का केवल भोगाधिकार प्राप्त था जो अनुदानभोगियों को हस्तान्तरित कर दिया जाता था और प्रारम्भिक अनुदानों में राजस्व के कुछ साधन ग्रहीताओं को हस्तान्तरित भी किये गये। किन्तु गुप्तोत्तर काल के अनुदान-पत्रों में जल वीथियाँ उपजाऊ ऊसर और खाई खड्डों वाली जमीन वन गोचर आदि सब कुछ के साथ साथ गाँव दान किये जाते थे। मराठा अनुदान पत्रों के सम्बन्ध में आधुनिक भारतीय अदालतों ने इसका मतलब ग्रहीता के नाम भूमि के सम्पूर्ण स्वामित्व का हस्तान्तरण लगाया है।[2] दूसरी ओर, जहाँ अनुदान पत्रों में इन तमाम चीजों का स्पष्ट उल्लेख

---

१ हिन्दू पॉलिटी (द्वितीय संस्करण), ३४६। उन्होंने विल्क्स (हिस्ट्री ऑफ मैसूर १८६६) को उद्धृत करते हुए कहा है कि विल्क्स के अनुसार भूमि पर राजा के स्वामित्व के सामन्तवादी सिद्धान्त को हिन्दू कानून का अंग मानने का कोई आधार दिखाई नहीं देता।

२ हि० ध० शा०, २, ८६५ ६।

नहीं किया गया है, वहाँ इसका मतलब यह लगाया जाता है कि राजा ने सिर्फ राजस्व के साधनों का हस्तान्तरण किया।[1] यही व्याख्या पूर्व मध्यकालीन अनुदानों पर भी लागू होनी चाहिए। यदि राजा को भूमि का स्वामित्व प्राप्त नहीं था तो फिर वह दूसरों को उसका स्वामित्व कैसे प्रदान कर सकता था ?

हो सकता है कि समाज के प्रतिनिधि के नाते राजा को भूमि सम्बन्धी अधिकार प्राप्त रहे हों किन्तु पूर्व मध्यकाल में उसे इन अधिकारों का कोई स्पष्ट भान नहीं था। इस मामले में राजा का स्वामित्व और राज्य का स्वामित्व दोनों को एक ही वस्तु नहीं माना जा सकता है। राजा जब भूमि-अनुदान देते थे तब वे अपने लिए और अपने माता पिताओं के लिए धर्म अर्जित करने के लिए देते थे। अनुदान के समय उन्हें समाज और राज्य के आध्यात्मिक कल्याण की चिन्ता नहीं रहती थी। तात्पर्य यह कि वे सामान्य भू-स्वामियों के रूप में व्यक्तिगत हैसियत से भूमि अनुदान देते थे।

वैदिक तथा वेदोत्तर, मौर्य तथा मौर्योत्तर कालों के साहित्य में सामान्य-जनों द्वारा कृषि योग्य भूमि के स्वायत्त करने का संकेत मिलता है। इसे हम भूमि पर व्यक्तिगत अधिकारों का प्रमाण मान सकते हैं। लेकिन प्रारम्भिक ऐतिहासिक सामग्री में धार्मिक प्रयोजनों के अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश्य से व्यक्ति को अपनी जमीन दूसरों को देने का अधिकार नहीं दिया गया है। खेती की जमीन को बेचने, रेहन रखने, विभाजित करने आदि के अधिकार काश्तकार को प्राप्त नहीं थे। स्वामित्व की इन विशेषताओं का उल्लेख गौतम[2] तथा मनु[3] आदि प्राङ्‌गुप्त कालीन धर्मशास्त्रकारों ने किया है लेकिन न तो इन्होंने और न आपस्तम्ब, बौधायन, वसिष्ठ तथा विष्णु आदि धर्मशास्त्रकारों ने ही व्यक्ति को दान, बिक्री, रेहन तथा विभाजन आदि के द्वारा अपनी भूमि किसी को देने या दूसरे की भूमि लेने की अनुमति दी है। हाँ, गुप्त-काल और गुप्तोत्तर काल के धर्मशास्त्रों में भूमि का विभाजन करने, उसे बेचने और रेहन रखने, उसके अवैध कब्जे और उसे पट्टे पर देने के बारे में विधान किये गये हैं।

यद्यपि प्राङ्‌गुप्त कालीन स्मृतियों में विभाजन सम्बन्धी नियमों की व्यवस्था विस्तार से की गयी है, किन्तु विभाज्य वस्तुओं में भूमि का उल्लेख नहीं हुआ

---

१ मामलों के सन्दर्भ के लिए देखिए वही, ३ पा० टि० २०३१।

२ १० ३९९।

३ १० ११५।

है। पहले पहल उत्तर गुप्त कालीन स्मृतिकार बृहस्पति[1] ने स्पष्ट रूप से कहा है कि विभाजन में उच्चतर जातियों के पुत्रों को भूमि नहीं दी जा सकती। इसी व्यवस्था को दक्ष[2] ने अपनी स्मृति में, जो इसी काल और ६वीं सदी के बीच किसी समय लिखी गई, दुहराया है। स्मृतिकार कात्यायन[3] जो बृहस्पति का लगभग समकालीन था कहता है कि जब भूमि, बगीचा, मकान, दासों का बटवारा हो तो ज्येष्ठ पुत्र को दशांश का अधिक हिस्सा देना चाहिए। शंखलिखित जिसकी स्मृति का समय ६०० से लेकर ९०० ईस्वी के बीच किसी समय किया गया, कहता है कि यदि कोई अपने बल पर खोई हुई जमीन फिर प्राप्त कर लेता है तो उसे एक चौथाई अधिक मिलनी चाहिए और शेष को सभी हिस्सेदारों में बराबर बराबर बाँट देना चाहिए।[4] इन नियमों को देखने से यह साफ है कि गुप्त-काल से पारिवारिक भूमि का विभाजन शुरू हो गया था।

यहाँ तक कि गोचर भूमि को भी जिसे मनु[5] तथा विष्णु[6] ने अविभाज्य बना दिया था बृहस्पति[7] विभाज्य घोषित करता है। गोचर भूमि का विभाजन हो यह बड़े महत्व की बात है। अब उन विस्तृत भूखण्डों को जिन पर कई-कई परिवारों का सम्मिलित कब्जा रहता था व्यक्तिगत सम्पत्ति बनाया जा सकता था। इस प्रकार गुप्त काल में व्यक्ति भूमि को आपस में बाँट सकते थे और अपने हिस्से की भूमि को निजी सम्पत्ति बना सकते थे।

बिक्री सम्बन्धी कानून से भी भूमि पर व्यक्ति के अधिकारों के विकास का पता चलता है। कौटिल्य ने वास भूमि और आवास के विक्रय (वास्तु विक्रय) के सम्बन्ध में नियम बनाये हैं[8] किन्तु उसने जमीन की बिक्री का कोई उल्लेख

१ धर्मकोश, १ः १२५१।
२ वही, १२५२।
३ वही, १२०१।
४ वही १२०७ स्मृति चन्द्रिका के भाष्य के साथ।
५ ९, २१९। मेधातिथि के अनुसार गोचर भूमि के लिए प्रयुक्त शब्द 'प्रचार' है।
६ १८ ४४।
७ धर्मकोश १ २ १२२३। अपरार्क प्रचार शब्द की व्याख्या प्रवेश निर्गमभू करता है (वही)।
८ ३ ९।

नहीं किया है। सम्भवतः मौर्य काल में जमीन बेचने का चलन नहीं था। इसी प्रकार प्राक् गुप्तकालीन स्मृतियों में क्रय विक्रय के सम्बन्ध में जो विस्तृत नियम बनाये गये हैं उनमें खरीद बिक्री की वस्तु के रूप में भूमि का नाम कहीं नहीं लिया गया है। यहाँ तक कि याज्ञवल्क्य तथा नारद जैसे गुप्तकालीन स्मृतिकारों ने भी जमीन की बिक्री की कोई चर्चा नहीं की है। इन दोनों ने खरीदी हुई वस्तुओं की जाँच के लिए अलग अलग अवधियाँ निर्धारित की हैं। ऐसी वस्तुओं में इन्होंने लोहा, वस्त्र, दुधारू पशुओं, मालवाही पशुओं, जवाहरात, सभी तरह के अनाज, दास तथा दासियाँ आदि का उल्लेख किया है, किन्तु भूमि के बारे में कुछ नहीं कहा है।[1] भूमि के विक्रय सम्बन्धी नियमों की रचना करने वाला प्रथम व्यक्ति बृहस्पति ही जान पड़ता है।[2] उसके बाद कात्यायन तथा दूसरे लोगों ने इस विषय में नियम बनाये। कात्यायन यह विधान करता है कि यदि कोई किसी को जमीन देता है, या उसके हाथ बेचता अथवा गिरवी रखता है और वह जमीन बाद में बेकार हो जाती है, तो उसे उस व्यक्ति को फिर उतनी ही जमीन देनी चाहिए।[3] यदि वह ऐसा नहीं कर सकता तो उसे उस व्यक्ति को अन्य प्रकार से सन्तुष्ट करना चाहिए।[4] वह आगे कहता है कि जिस जमीन को खरीदना हो, उसकी ठीक से जाँच कर लेनी चाहिए।[5] यह नियम बाद की स्मृतियों में भी मिलता है।[6] कात्यायन यह व्यवस्था करता है कि जिस भूमि पर कर लगते हों उसे कर चुकाने के लिए बेचना चाहिए।[7] इसका मतलब यह हुआ कि किसान को कर की बकाया रकम चुकाने के लिए अपनी जमीन का एक हिस्सा बेचने को बाध्य किया जा सकता था।

बृहस्पति[8] भरद्वाज[9] तथा अपरार्क[10] के कुछ अन्य विचार भी इस बात को

१ याज्ञवल्क्य स्मृति, २, १७७, नारद स्मृति, १२ ५ ६।
२ धर्मकोश, १, ८९६।
३ वही, ७६७।
४ वही।
५ वही, ८९६।
६ वही, ८९९।
७ वही १, ८९८।
८ वही, ८९५।
९ ७९७। भारद्वाज की इन व्यवस्थाओं का सम्बन्ध भूमि के अनधिकृत विक्रय से है।
१० वही, ७६१।

साक्षी भरते हैं कि पूर्व मध्य काल में जमीन बेची जा सकती थी। बृहस्पति के अनुसार जमीन बेचते समय उसमें मौजूद कुओं, पेड़ों, जल स्रोतों, खेतों, पकी फसलों, खाने के फलों, तालाबों, चुंगी घरों आदि का उल्लेख कर देना चाहिए।[1] इसमें जिन चीजों के नाम गिनाये गये हैं उनसे मन में सहज ही यह सवाल उठता है कि यहाँ बृहस्पति कहीं पूरे गाँव के विक्रय की बात तो नहीं कह रहा है।

बारहवीं शताब्दी में लक्ष्मीधर की कृति में ग्राम विक्रय का स्पष्ट विधान मिलता है। उसने गाँव, खेत आदि स्थावर सम्पत्ति की बिक्री का वर्णन किया है।[2] इसी सदी के पण्डित देवण्णभट्ट ने इस आशय का श्लोक उद्धृत किया है कि जब सीमा, जल और वीथियों के साथ-साथ कोई गाँव बेचा जाये तो वहाँ के पुरोहित वर्ग और ग्राम देवता को नष्ट नहीं करना चाहिए।[3]

तेरहवीं शताब्दी तक जब वरदराज के व्यवहार निर्णय का संकलन हुआ, जमीन की बिक्री का चलन पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित और स्वीकृत हो गया, क्योंकि इस कृति में जमीन, मकान आदि को पण्य वस्तु (बिक्री की वस्तु) कहा गया है।[4] ध्यान देने की बात है कि इससे पहले भूमि के लिए इस विशेषण का प्रयोग शायद ही कहीं किया गया हो। भूमि विक्रय सम्बन्धी विधानों में धर्मेतर प्रयोजनों के लिए भी भूमि बेचने का कोई निषेध नहीं किया गया है। गुप्तोत्तर काल में ही धार्मिक प्रयोजनों के लिए भी जमीन बेचने के उदाहरण नहीं मिलते, जिसका कारण शायद मुद्रा का अभाव रहा हो। किन्तु १२वीं और १३वीं शताब्दियों में हम जमीन की बिक्री के सम्बन्ध में अधिकाधिक नियमों की रचना होते देखते हैं जिसका सम्बन्ध इस काल में मुद्रा और व्यापार की पुनः प्रतिष्ठा से जोड़ना असंगत न होगा। पूरे गाँव के विक्रय सम्बन्धी विधान बतलाते हैं कि यूरोप के बड़े-बड़े भूमिधर लार्डों की तरह यहाँ भी लोग पूरे के पूरे गाँवों के मालिक हुआ करते थे।

गौतम, मनु, याज्ञवल्क्य और नारद ने कहीं भी खेतों के बन्धक का उल्लेख नहीं किया है।[5] इसका उल्लेख सबसे पहले बृहस्पति ने किया है। बन्धक रखे

---

१ धर्मकोश ८९६।
२ व्यवहारकल्पतरु, धर्मकोश ८८६ में उद्धृत।
३ स्मृति चन्द्रिका २३, धर्मकोश १ ९७७ में उद्धृत।
४ हि० ध० शा०, ३ ४९५ पा० टि० ८७८।
५ १ १२५।

मकान के उपयोग या बन्धक रखे खेत की उपज को वह भोग लाभ की सना देता है।[1] बृहस्पति और कात्यायन की स्मृतियों में खेतों के उपभोग से कई नियमों का सम्बन्ध है। कात्यायन कहता है कि जिस मकान या जमीन को बन्धक रखना हो उसकी सीमाओं का और जिस प्रदेश या गाँव में वह मकान या जमीन हो उस प्रदेश अथवा गाँव की सीमाओं का वर्णन साफ साफ कर देना चाहिए।[2] धार्मिक अनुदानों और शायद धर्मेतर अनुदानों में भी दिये गये गावों के सम्बन्ध में इस निर्देश का पालन किया जाता था। बृहस्पति कहता है कि जब ऋणदाता बन्धक में प्राप्त किसी खेत अथवा अन्य अचल सम्पत्ति का पर्याप्त उपभोग कर लेता है और उससे वास्तव में अपना पूरा मूल धन और ब्याज वसूल कर लेता है तब वह खेत या अन्य अचल सम्पत्ति ऋणी को वापस मिल जाती है।[3] इससे प्रकट होता है कि कर्जदार मूल धन और ब्याज दोनों की अदायगी के लिए ऋणदाता के पास अपनी जमीन बन्धक रखता था। कात्यायन का आदेश है कि यदि किसी व्यक्ति ने अपना खेत आदि महाजन को ब्याज के बदले दे रखा हो तो कर्ज की रकम चुका कर वह अपनी जमीन वापस ले सकता है।[4]

गुप्तोत्तर काल की कई स्मृतियों में ब्याज के बदले भूमि बन्धक रखने की व्यवस्था है। नारद द्वारा उल्लिखित (१, १२५) दो प्रकार की प्रतिभूतियों की टीका करते हुए असहाय (७०० ७५०) ने खेत और मकान को ऐसे बन्धकों की कोटि में रखा है जिनका उपभोग महाजन कर सकता है।[5] इसी प्रकार मनुस्मृति (८ १४३) की टीका करते हुए मेधातिथि कहता है कि महाजन को आधि के रूप में गाय दूध का उपभोग करने के लिए तथा खेत या बागीचा उसकी उपज का उपभोग करने के लिए दिया जाता है अतएव महाजन किसी प्रकार की वृद्धि या कुसीद का हकदार नहीं है।[6] मेधातिथि के समकालीन व्यास ने भी आधि की व्याख्या इसी तरह की है।[7] जब कोई व्यक्ति किसी से

१ ११, ७८।
२ श्लोक ५२२।
३ ११ २३।
४ श्लोक ५१६।
५ स० बु० ई०, ३३, ७३१।
६ धर्मकोष, १, ६५८।
७ वही, ७३१।

निर्धन ब्याज पर द्रव्य लेता है, ऋणदाता को ब्याज के बदले अपनी जमीन देता है और उस जमीन से ब्याज के अतिरिक्त जो लाभ हो उसे मूल धन में मिनहा करते जाने का निवेदन करता है तब इसे 'आधि' या सप्रत्ययभोग्याधि कहते हैं और इस तरह जब मूल धन की दुगुनी राशि अदा हो जाती है तो कर्जदार को आधि वापस मिल जाती है।[1] यदि जमीन बन्धक न रखी गयी हो तो भी कर्ज अदा करने के लिए उसे बेचा जा सकता है। भरद्वाज के अनुसार यदि कर्जदार कर्ज चुकाने में असमर्थ है तो उसकी सम्पत्ति कर्ज के भुगतान के लिए बेच दी जाय और इस सम्पत्ति में भूमि, खेत, बागीचा और घर सभी शामिल हैं।[2]

यह बात भी कर्ज चुकाने के लिए जमीन बन्धक रखने के चलन का आभास देती है। इस चलन से स्वभावतः ऋणदाताओं की भूसम्पत्ति में वृद्धि हुई होगी। कहा तो यहाँ तक गया है कि बन्धक जमीन का उपभोग सौ साल तक किया जा सकता है। किन्तु जमीन के बन्धक के नियम के कारगर होने के लिए सिक्के के चलन का बढ़ना आवश्यक था। यह स्थिति ११-१२वीं सदी में पैदा हुई, और मध्य भारत में १३वीं सदी के आरम्भ में इस आशय का एक अभिलेख मिलता है।

किसी सम्पत्ति के वास्तविक स्वामी के कब्जे में न रहने से उस पर से उसके स्वामित्व की समाप्ति के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों में अनेक नियम हैं, जिनमें भूमि पर व्यक्तिगत अधिकारों का संकेत मिलता है। गौतम[3] और मनु[4] का विधान है कि यदि कोई सम्पत्ति १० वर्षों तक किसी अनजान व्यक्ति के कब्जे में रही हो तो उसका स्वामी उस पर अपने वैध अधिकार से वंचित हो जाता है। याज्ञवल्क्य ने इस अवधि को बढ़ा कर २० वर्ष कर दिया है[5] लेकिन इनमें से कोई भी स्मृतिकार इस सन्दर्भ में भूमि का उल्लेख नहीं करता।

१ धर्मकोश १, ६५८।

२ वही, ७११।

३ हि० ध० शा० ३, ३२० पा० टि० ४५६।

४ ८ १४७-८ आदि स्मृति ४ ७६ ८० में भी इस लाभ के नियम का उल्लेख है और इसी प्रकार सं० हि० ध० शा०, ३ ३२० में भी।

५ २ २४।

विष्णु[1] नारद[2] बृहस्पति[3] तथा कात्यायन[4] की स्मृतियों में हम इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन देखते हैं। इन्होंने इस अवधि को बढ़ा कर तीन पीढ़ियों या लगभग साठ साल कर दिया है और इस नियम को जमीन पर स्पष्ट रूप से लागू कर दिया है। आगे चल कर ११वीं सदी में 'मिताक्षरा' में यह अवधि सौ साल हो गयी है[5] और १३वीं शताब्दी की एक कृति 'स्मृतिचन्द्रिका' में इसे बढ़ा कर १०५[6] वर्ष कर दिया गया है। स्पष्ट है कि इन नियमों के कारण गुप्त-काल से भूस्वामियों की सुरक्षा बढ़ती गयी और पूर्व मध्यकाल तक आते आते भूमि पर व्यक्ति के स्वामित्व के सिद्धान्त की जड़ें पूरी तरह जम गयी। इन नियमों से तो लगता है कि भले ही किसी व्यक्ति की या राजा की जमीन किसी काश्तकार या शक्तिशाली पड़ोसी की जोत में सौ साल तक रही हो, किन्तु उसके मूल स्वामी को अपने अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता था।

अस्थायी काश्तकारों पर इस तरह के नियमों का बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ा होगा। दीर्घतर अवधि सम्भवतः इस उद्देश्य से निर्धारित की गयी थी कि राजनीतिक अव्यवस्था के समय में काश्तकार भूमि का स्वामित्व न प्राप्त कर पायें। इस नियम के बल पर धर्मेतर और धार्मिक अनुदान भोगी दोनों ही काश्तकारों या दखल में थोड़ा सा अन्तराल पड़ते ही पुराने काश्तकारों को भी बेदखल कर सकते थे। याददाश्त के आधार पर थोड़े समय का दखल तो साबित किया जा सकता है, लेकिन कोई भी स्मृति के आधार पर यह साबित नहीं कर सकता कि अमुक क्षेत्र ५० या ६० साल से अमुक व्यक्ति के दखल में रहा है। जहाँ सौ साल की बात हो वहाँ तो यह साबित करना असम्भव ही हो जाता है। इस दृष्टि से इन नियमों से मौजूदा भूस्वामियों को लाभ था, किन्तु काश्तकारों के स्वत्व के विकास में इन से बाधा पहुँची।

किसानों को पट्टे पर जमीन देने के जो नियम बने थे उनमें भी भूमि पर

---

१ ५ १८७।

२ १ ९१।

३ ९, ७७ ३०। यहाँ बृहस्पति ने खास तौर से भूमि का नहीं बल्कि स्थावर सम्पत्ति का उल्लेख किया है।

४ श्लोक ३२७।

५ याज्ञवल्क्य २ २७ की टीका।

६ हि० ध० शा० ३, ३२१, पा० टि० ४५६।

व्यक्ति के अधिकार सिद्ध होते हैं। भूस्वामियों का सम्बन्ध भतिहर मजदूरों और बटाईदारों के साथ कैसा हो इसका नियमन आरम्भ के धर्मशास्त्रों में किया गया है। भतिहर मजदूरों को पीटा जा सकता था, और भूस्वामी बटाईदारों को बराबर अपने साथ रखते थे। आरम्भ में भूस्वामी तथा पट्टेदारों के सम्बन्धों का नियमन करने वाला कोई विधान नहीं बनाया गया। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[1] में एक स्थल पर इस तरह का उल्लेख मिलता है, पर वह भी स्पष्ट नहीं है और उसका दूसरा आशय भी हो सकता है। किन्तु गुप्त-कालीन और परवर्ती स्मृतियों में स्वामी का अपने पट्टेदार या बटाईदार के साथ कैसा सम्बन्ध हो इसके सम्बन्ध में नियम बनाये हैं। गुप्त और गुप्तोत्तर-काल के धर्मशास्त्रकारों ने जोर दिया है कि पट्टेदारों को पट्टे पर दी हुई जमीन पर ठीक से खेती करनी चाहिए और उन्होंने यह विधान किया है कि यदि वे खेती की उपेक्षा करें तो भी उन्हें स्वामी को उसका निश्चित हिस्सा जरूर देना चाहिए।[2] कई स्मृतियों में यह भी आदेश दिया गया है कि खेती की उपेक्षा करने वाले पट्टेदार राजा को जुर्माना दें।[3] मिताक्षरा में व्यवस्था है कि खेती की उपेक्षा करने वाले पट्टेदार से जमीन छीन कर दूसरे को दी जाय।[4] इस प्रकार भूस्वामी को पट्टेदार बदलने का अधिकार था। भूस्वामी का हिस्सा जिसे कृष्टफल या सद कहा जाता था कितना हो यह बात जमीन की किस्म पर निर्भर करती थी। जो जमीन बहुत दिनों से परती रही हो उस पर वह उपज के दसवें हिस्से का हकदार था, जिस पर खेती होती रही हो, उसकी उपज का आठवां हिस्सा उसका था और जिस पर बहुत अच्छी तरह खेती होती रही हो उसकी उपज का छठा हिस्सा उसका होता था।[5] स्पष्टतः इस नियम का सम्बन्ध ऐसे काश्तकारों से था जो खेती में अपनी पूंजी अपने उपकरण बीज श्रम आदि लगाते थे। बटाईदारों के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं था। उन्हें तो खेती के खर्च का एक हिस्सा भूस्वामी से ही मिलता था और इसके बदले भूस्वामी उपज का अधिकांश भाग स्वयं ले लेता था। किन्तु परती जमीन को पहल-पहल आबाद कराने में भूस्वामी को सारा खर्च

१ धर्मकोश, १, ८४२।
२ वही ९४३ ९५४ ९६१।
३ वही ९५४ ९६१।
४ वही ९४३।
५ वही ९५४।

उठाने को कहा गया है। यदि वह वैसा नहीं करता तो काश्तकार से आठ साल तक उस उपज का केवल आठवाँ हिस्सा मिलेगा, और इस अवधि के बाद वह जमीन भूस्वामी के पास लौट कर चली आयेगी।

ये तमाम नियम भूमि पर बढ़ते हुए वैयक्तिक अधिकारों का पर्याप्त संकेत देते हैं। किन्तु बन्धक, बेदखली तथा बिक्री सम्बन्धी नियम साधारण काश्तकार-भूस्वामियों के बजाय बड़े बड़े भूमिधरों के हक में जान पड़ते हैं। जो भी हो, सामन्तवादी राज्यव्यवस्था तथा प्रयतन्त्र भूमि के असमान विभाजन पर आधारित था, और पूर्व मध्यकाल में व्यक्तिगत भूस्वामित्व के सिद्धान्त के विकास से इसको अधिक बल मिला।

ईस्वी सन की प्रारम्भिक सदियों से लेकर बारहवीं शताब्दी तक भूमि-स्वत्व पर प्रकाश डालनेवाले धर्मशास्त्रों में जो सामग्री मिलती है उसमें सामुदायिक अधिकारों का हल्का सा आभास मात्र है। किन्तु राजकीय और वैयक्तिक अधिकारों को उसमें उत्तरोत्तर अधिकाधिक समर्थन दिया गया है यद्यपि ये दोनों प्रकार के अधिकार परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। मध्यकालीन भाष्यकार और आधुनिक इतिहासकार अभी तक इन दो तरह के विरोधी स्वत्वों में संगति नहीं बठा सके हैं, लेकिन पूर्वमध्यकाल में भूमि वितरण की प्रथा पर विचार करने से इस अन्तर्विरोध की व्याख्या हो सकती है। वैयक्तिक भू-स्वामित्व के सिद्धान्त के कारण अनुदानभोगी किसानों के हाथ पट्टे पर अपनी जमीन लगा सके, और राजकीय भू स्वामित्व के सिद्धान्त के कारण राजा लोग पुरोहितों और मन्दिरों सामन्तों और राज्याधिकारियों को सेवा के बदले अनुदान में भूमि दे सके। अन्यथा, हम एक ही खेत पर तरह-तरह के लोगों के अधिकार का कारण क्या बतला सकते हैं? अभिलेखों से प्रकट होता है कि भूमि केवल धार्मिक अनुदानों के उद्देश्य से ही बेची जा सकती थी, और मध्य काल में मुद्रा के अभाव के कारण कम से कम १००० ईस्वी तक बड़े पमाने पर जमीन की खरीद बिक्री नहीं हो सकती थी। फिर, भूमि पर राजकीय स्वामित्व के सिद्धान्त के कारण मध्य-कालीन नरेशों को किसानों पर तरह-तरह के कर लगाने का वधानिक आधार मिल गया। दोनों सिद्धान्तों ने सामुदायिक भू स्वत्वों को पगु बना दिया और ऐसी स्थिति पदा कर दी जिसमें अनुदानभोगी तथा बड़े-बड़े भूमिपति विस्तृत गोचर भूमि तथा उसी प्रकार की अन्य सामुदायिक भूमि को आसानी से अपनी निजी सम्पत्ति बना सकते थे। फलत साधारण किसान या तो कृषिदासों की अवस्था में पहुँच गये या नये भूमिपतियों के असहाय निरुपाय आश्रित बनकर रह गये। इस प्रकार ये दोनों

सिद्धान्त मध्यकाल की सामन्ती व्यवस्था के लिए विशेष रूप से उपयुक्त थे।

राजा के भू स्वामित्व का सिद्धान्त सामान्य स्वामित्व के अन्य सिद्धान्तों से कोई विशेष भिन्न नहीं है। राजा के स्वामित्व का वह महत्व नहीं था जो राज्य के स्वामित्व का होता है। मध्यकालीन भारतीय राजा समाज के शिखर में प्रधान भू स्वामित्व का उपभोग बहुत कम करता था। वह भूमिपति था और बाकी लोग उसके अधीनस्थ अवर भूमिपति थे। दरअसल राजा सहित व्यवस्था में कई प्रकार के श्रेणीबद्ध भू स्वत्व मिलते हैं जिसमें राजा स्वामी और कृषक के अधिकार शामिल हैं। इन किसी न किसी हद तक निर्धारित हैं। हमारा यह निरूपण जे० डी० एम० डरेट के निरूपण से मेल खाता है। डरेट के अनुसार "भारतीय धर्मशास्त्रकार यह मानकर चले कि स्वामित्व की अलग अलग अभिव्यक्ति हो सकती है लेकिन राजा का स्वत्व भू स्वामी का स्वत्व पट्टेदार काश्तकार का स्वत्व और यदि आगे जाकर सोचें तो दासस्वामी या पशुधारी का भी स्वत्व सब प्रकार के स्वत्वों को प्रकट करने के लिए सम्पत्ति शब्द ही का प्रयोग होता था।[1] एक ही गांव में विभिन्न पक्षों के अपने अलग अलग हक हुआ करते थे इसका पता मनसरपुर के ताम्रपट अनुदान से चलता है जो ७वीं ८वीं शताब्दी के हैं। पूर्वी बंगाल में दिये गये इन अनुदानों से ज्ञात होता है कि एक गांव जिसका उपभोग सर्वान्तर करता था और जिसमें निसर तथा अन्य लोग खेती करते थे राजा द्वारा सघमित्र नामक एक बौद्ध साधु को दान कर दिया गया।[2] स्पष्ट है कि बौद्ध साधु को दान करने के पहले तक राजा सर्वान्तर तथा निसर और अन्य किसानों को—अर्थात कम से कम इन तीन पक्षों को—उस खेत पर अलग अलग अधिकार प्राप्त थे।

भारतीय भू सम्पत्ति की व्यवस्था मध्यकालीन यूरोप में प्रचलित उस कानून का स्मरण दिलाती है जिसमें भूमि पर आपस में एक दूसरे से भिन्न और एक के बाद एक ऊपर लादे गये कई तरह के वास्तविक अधिकारों की गुंजाइश थी।[3] काश्तकार जो (आम तौर पर पुश्त-दर-पुश्त) जमीन जोतता और फसल इकट्ठा करता है उसका प्रत्यक्ष स्वामी जिसे वह कर देता है और

---

१ बुलेटिन ऑफ द स्कूल ऑफ ओरिएंटल ऐंड अफ्रिकन स्टडीज १८, ४८९।

२ मेमॉयर्स ऑफ द एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १, नं० ६ पृष्ठ ९०, प्लेट 'ए', पंक्तियाँ ८-९।

३ मार्क ब्लॉक, फ्यूडल सोसाइटी, पृष्ठ ११६।

जो किन्हीं परिस्थितियों में उससे जमीन वापस भी ले सकता है, फिर स्वामी का स्वामी, आदि, और अन्त में वरिष्ठतम सामन्त—कितने सारे लोग हैं जो जमीन के एक ही टुकड़े के बारे में कह सकते हैं और सभी समान औचित्य के साथ कह सकते हैं कि 'यह जमीन मेरी है।'"[1] पूर्व मध्यकालीन भारत में जमीन पर अधिकार रखनेवाले पक्ष भले ही उतने अधिक न रहे हों जितने कि यूरोप में थे, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि भूमि में निहित उनके स्वार्थों को कानूनी मान्यता प्राप्त थी और इस दृष्टि से यहां भी स्थिति वैसी ही थी जैसी कि सामन्तवादी यूरोप में थी।

लेकिन, मुसलमान काल के भारत में भूमि विषयक अधिकार निश्चय ही विचाराधीनकाल के भूमि विषयक अधिकारों से भिन्न थे। प्रथम तो भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व से भिन्न, ताज की जमीन (खालिसा) का सिद्धान्त मुसलमानों से पहले के काल में यहां प्रचलित नहीं था। यह सच है कि परमार और चाहमान नरेशों द्वारा अपने अपने स्वभागों में से दान की गयी भूमि को किसी हद तक ताज की जमीन माना जा सकता है और इसे उस भूमि से भिन्न कोटि में रखा जा सकता है जो राज्य के सामान्य नियन्त्रण में या स्वतन्त्र काश्तकारों की जोत में थी। किन्तु उनके समकालीन नरेशों तथा पाल, प्रतीहार एवं राष्ट्रकूट राजाओं द्वारा दिये गये अनुदानों में इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि राजा के पास कोई राज भूमि भी थी। इसके विपरीत उनसे यही प्रकट होता है कि राजा अपने राज्य के किसी भी हिस्से में अनुदान दे सकता था।

दूसरे मुगल बादशाहों द्वारा दी गयी जागीरों या मदद ए मआश के साथ वैसे पुष्ट और विस्तृत अधिकार नहीं जुड़े रहते थे जैसे कि हिन्दू राजाओं द्वारा दिये गये धार्मिक और कभी-कभी धर्मेतर अनुदानों के साथ भी जुड़े रहते थे। मुगल जागीरदारों को हिन्दू शासन काल के अनुदानभोगियों की तरह भूमि का स्वामित्व नहीं प्रदान किया जाता था उन्हें केवल उसके उपयोग उपभोग का ही अधिकार मिलता था। कारण यह था कि मुगल काल में केन्द्रीय सत्ता मुसलमानों से पहले के काल की अपेक्षा बहुत सबल और प्रभावकारी थी।

और अन्त में मुद्रा पर आधारित आर्थिक जीवन तथा ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापार के विकास के कारण मुसलमान शासन-काल में भूमि पर किसानों या व्यक्तियों के अधिकार अधिक सबल हो गये। यद्यपि गुप्त-काल के तथा बाद के

---

१ मार्क ब्लॉक फ्यूडल सोसायटी, पृ० ११६।

विधि प्र या म जमीन की खरीद बिक्री तथा उसे बन्धक रखने की अनुमति दी गयी है किन्तु इस सबका सिलसिला ११वी १२वीं शताब्दिया म मुद्रा की पुन प्रतिष्ठा के साथ ही शुरू हो सका। बाद की पाँच सदिया म व्यक्तिगत अधिकारा के प्रयोग क लिए परिस्थितियाँ अधिक अनुकूल हो गयो, क्योकि अब किसान लगान या राजस्व जिन्सो म अदा नही करते थे, बल्कि मुख्यत नकद चुकाते थे।

कुल मिलाकर पूव मध्य काल की भूस्वामित्व प्रणाली की विशेषताए सबल और विकेन्द्रीकृत सामन्तवादी व्यवस्था का आभास देती हैं। मुद्रा पर आधारित अथव्यवस्था की पुन प्रतिष्ठा और केन्द्रीय नियन्त्रण के विकास के परिणामस्वरूप मुगल काल मे यह व्यवस्था कमजोर पड गयी।

परिच्छेद-५

राजनीतिक सामन्तवाद का उत्कर्ष-काल

(लगभग १०००—१२०० ईस्वी)

दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में गुर्जर प्रतीहार साम्राज्य के पतन से बाद उत्तरी भारत की राजनीतिक एकता छिन्न भिन्न हो गयी। मौर्य साम्राज्य के टूटने के बाद और फिर गुप्त साम्राज्य के अवसान के बाद भी यह क्षेत्र अनेक छोटे छोटे राज्यों में बंट गया था लेकिन तब स्थिति उतनी बुरी नहीं हुई थी जितनी अब हो चली थी। तुर्कों के आक्रमण से पूर्व राजनीतिक सत्ता का विभाजन अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुका था। १०७५ के आसपास जब कैवर्त्त विद्रोह हुआ उस समय पूरा बंगाल और बिहार बाद दस छोटे छोटे राज्यों में बंटा हुआ था। ये राज्य अपने पाल प्रभु की अधीनता नाम मात्र को ही स्वीकार करते थे। पालों का स्थान सेनों ने लिया, किन्तु उनकी सत्ता को मिथिला के कर्णाटों और शायद दक्षिण पूर्व बंगाल में ईश्वरघोष के वंशजों ने चुनौती दी। इसके अतिरिक्त कई और सामन्त राजवंश भी सेनों को परेशान करते रहे। बिहार में दो नये राजवंशों का उदय हुआ—पीठी के सेन और जयनगर (दक्षिण मुंगेर) के गुप्त। इसी जिला जपला में खयरवालों का राजवंश शासन करता था जो गाहड़वालों के सामन्त थे।

गाहड़वालों का राज्य आधुनिक उत्तर प्रदेश के बहुत बड़े हिस्से पर था किन्तु गोरखपुर के कलचुरि उनके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। मध्य भारत का पूर्वी हिस्सा दो प्रमुख राजवंशों के अधीन था। इनमें एक था डाहल का कलचुरि राजवंश जिसकी राजधानी त्रिपुरी में थी और दूसरा था जेजाकभुक्ति का चन्देल राजवंश। आगे चल कर कलचुरि लोग भी तीन शाखाओं में विभक्त हो गये। पश्चिमी शाखा की राजधानी त्रिपुरी थी, पूर्वी की रत्नपुर, और उत्तरी की गोरखपुर।

राजस्थान गुजरात और मालवा की अवस्था तो और भी बुरी थी। चाहमान पांच शाखाओं में बंटे हुए थे और अन्य जावालिपुर (१२वीं शताब्दी के मध्य में स्थापित) शाकम्भरि नड्डुल और रणथम्भौर में अलग अलग राज्य करते थे। अन्य तथा रणथम्भौर के चाहमान १२वीं सदी के प्रारम्भ में प्रसिद्ध हुए किन्तु उनका अस्तित्व पहले से ही था। १२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में गुहिलों ने जावालिपुर के चाहमानों को अपने यहां से उखाड़ फेंका और वे लगभग स्वतन्त्र हो गए। फिर १२०७ से लेकर १२२७ के बीच किसी समय उन्होंने अपने को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र घोषित कर लिया और यह शासन मेवाड़ और आघाट कुछ समय के लिए चालुक्यों के प्रभुत्व में चला गया।[1] मेवाड़ के आसपास का इलाका उनके अधीन था लेकिन १३वीं शताब्दी के प्रथम चरण में यह क्षेत्र भी स्वतन्त्र हो गया। इसी प्रकार दिल्ली और अजमेर तोमरों के अधीन था और राजस्थान के कुछ हिस्सों पर गहड़वाल राजवंश का भी प्रभुत्व था।

मालवा और उसके आसपास के इलाकों पर शासन करने वाले परमार चार शाखाओं में विभक्त हो गए। एक का केन्द्र मालवा था दूसरे का आबू तीसरे का भिनमल और चौथे का किराडु। ये सभी शाखाएं बारहवीं शताब्दी में शासन करती थीं। आबू भीम चौलुक्य के समय में स्वतन्त्र हो गया। किन्तु उसने १०६२ में आबू के परमारों को पराजित करके उन पर फिर अपना प्रभुत्व कायम कर लिया। इसके बाद से १२वीं शताब्दी तक आबू चौलुक्य राज्य का हिस्सा बना रहा यद्यपि परमार सामन्त के रूप में तब भी वहीं शासन करते रहे।[2] किन्तु भिनमल भीम के समय में स्वतन्त्र हो गया।[3] किराडु की प्रसिद्धि प्रतिष्ठा दिलाने का श्रेय परमार राजा सामेश्वर को था। उसने कुमारपाल की कृपा से अपने राज्य को सभी तरह से मजबूत और सुरक्षित बना लिया। ११६१ के आसपास उसने जजक नामक एक सरदार को हराकर उसके १७०० घोड़े छीन लिए और इस तरह अपने प्रभु कुमारपाल की सहायता की।[4] चौलुक्य शासन के कारण गुजरात जो अभी तक उत्तर और दक्षिण दो भागों में बिखरा था अब एक हो गया। किन्तु बारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण

१ ए० के० मजूमदार चौलुक्याज ऑफ गुजरात, पृष्ठ १५६।

२ वही पृष्ठ ८६ ९०।

३ वही।

४ वही १११।

मे उनके सामन्त वघला ने गुजरात म अपना स्वतन्त्र शासन स्थापित कर लिया।

पजाव और हिमाचलीय राज्यो के विषय म हम पर्याप्त जानकारी प्राप्त नही है। पजाव और ओहिन्द पर शासन करने वाले शाही राजवश को १०२१ मे महमूद गजनवी न समाप्त कर दिया। हिमाचलीय राज्य क्षम्बा वही के एक स्वतन्त्र राजवश के अधीन था।

इस प्रकार करोलिंग साम्राज्य के पतन के बाद जो स्थिति पश्चिमी यूरोप की हो गयी थी, गुजर प्रतीहार साम्राज्य के पतन क बाद पश्चिमी और उत्तरी भारत की राजनीतिक स्थिति भी कुछ वसी ही हो गयी। अतर सिर्फ इतना था कि भारत म स्वतन्त्र शासक वशो की सख्या अधिक थी। इसका पता इससे चलता है कि व अपनी मर्जी से सिक्के जारी करते थे और भूमि अनुदान करते थे।

य तमाम छोटे छोटे राज्य वरावर आपस म जूझते रहे और १००० से १३०० तक प्रभुसत्ता के लिए घोर सघर्ष चलता रहा। पाला न केवल कचर्त्तो से ही लडाइ नही की वल्कि बिहार के पश्चिमी हिस्से पर अपना आधिपत्य जमाने के लिए कलचुरियो और गाहडवालो स भी लोहा लिया। उधर कलचुरि उडीसा के राजाओ चन्दलो और गाहडवालो स जूझते रहे। गाहडवाल लोग चन्दलो और चाहमानो के साथ जोरआजमाई करते रहे और चाहमान राजा पृथ्वीराज न चन्दलो के एक प्रमुख केन्द्र महोबा पर कब्जा कर लिया। इसी प्रकार परमारो न चन्देल राजा परमर्दिन को गहरी शिकस्त दी। वास्तव म बारहवी शताब्दी मे उत्तरी भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए चन्देलो गाहडवालो और चाहमानो का तितरफा सघर्ष खूब जम कर चला। उधर मालवा गुजरात और राजस्थान म परमार चौलुक्य और चाहमान भी आपस मे बराबर लडते ही रहे। परमारो ने यदा-कदा हूणो से भी लोहा लिया जिनके अधीन मालवा और राजस्थान के कुछ क्षेत्र थ। मानो इतना काफी नही था मो दक्षिण से चोल और विशेषकर चालुक्य लोग भी कभी कभी उत्तर भारत पर चढ आते थे। उधर वगाल के सेन और तिरहुत के कर्णाट जिन्होने चालुक्यो के साथ आकर उत्तर बिहार म अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था आपस म जूझते रहे। पश्चिम म पजाव के ब्राह्मण शाही वश और गुजरात के चौलुक्यो ने महमूद गजनवी स डट कर लोहा लिया और चौलुक्यो चाहमानो तथा गाहडवालो ने मुहम्मद गोरी का मुकाबला किया।

इन छोटे छोटे राज्यो के बीच बराबर जो छीना झपटी और लडाइयाँ

चलती रहती थी उनके प्रशासनिक एवं आर्थिक परिणामों का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। पुलिस, न्यायपालिका और राजस्व विभाग के बिना कोई राज्य नहीं चल सकता था और फिर प्रत्येक राज्य के अपने अलग सामन्त, पुरोहित तथा मन्दिर भी होते होंगे। स्पष्ट है कि किसानों पर इन सबका बहुत अधिक दबाव पड़ा होगा और इसी व्यवस्था को कायम रखने में उनकी कोई रुचि नहीं रही होगी।

इन छोटे छोटे राज्यों का उदय कैसे हुआ? स्पष्ट ही इनमें से कुछ तो राजकुमारों के बीच पैतृक सम्पत्ति के बँटने के कारण पैदा हुए, लेकिन शेष राज्य सामन्तों और राज्याधिकारियों को अनुदान-स्वरूप छोटे बड़े क्षेत्र देने के कारण कायम हुए। अनुदत्त क्षेत्रों के स्वामी धीरे धीरे अपना दबदबा बढ़ा लेते थे और अन्त में स्वतन्त्र राजा बन बैठते थे। गुप्त काल और गुप्तोत्तर-काल के अभिलेखों में इस प्रकार का कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता है। परन्तु ७५० से १००० के बीच ऐसे कुछ उदाहरण अवश्य मिलते हैं और १०००-१२०० के बीच तो काफी मिलते हैं। ऐसे अनुदानों के पुरातत्त्वीय प्रमाण नवीं शताब्दी से मिलने शुरू हो जाते हैं। और ११वीं सदी के प्रारम्भ में तो इनकी संख्या अच्छी खासी हो जाती है। सामन्तों और राज्याधिकारियों को दिये गए अनुदानों के दस्तावेज आरम्भ में भोजपत्र या कपड़े पर तैयार किये जाते थे जो सम्भवतः नष्ट हो गये। १२वीं और १३वीं सदियों में गुजरात में सामन्तों को विभिन्न प्रकार के अनुदान देने के लिए भोजपत्र का प्रयोग किया जाता था[1] और सम्भवतः पहले भी इसका उपयोग किया जाता हो। गुप्त काल के धर्मशास्त्रों में अनुदानों के दस्तावेज ताम्रपत्रों अथवा कपड़े पर तैयार करने की व्यवस्था है।[2] चूँकि राज्याधिकारियों और सामन्तों को दिये गए अनुदान पुण्य अर्जित करने या सदा के लिए नहीं दिये जाते थे इसलिए उनके दस्तावेज कपड़े पर तैयार किये जाते थे, किन्तु १०वीं सदी के समाप्त होते होते राज्याधिकारियों और सामन्तों की शक्ति इतनी बढ़ गयी और सुरक्षा का इतना अभाव हो गया कि अब वे अनुदत्त क्षेत्र पर अपना अधिकार स्थायी बनाने के लिए किसी टिकाऊ चीज पर अनुदान लिखवाना अधिक पसन्द करने लगे।

राज्य की सेवा के बदले दिये गये अधिकांश अनुदान उड़ीसा में मिलते हैं। यह लगभग उन आधे दर्जन सामन्त राज्यों में भी मिलते हैं जिनका उदय गुजर

---

१ ले० प० पृष्ठ ७।

२ रंगस्वामी, पृष्ठ २५७ में उद्धृत या० १, ३१८-२० और बृहस्पति।

प्रतीहार साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर हुआ। ध्यान देने की बात है कि बिहार और बंगाल में पाल शासकों के अंतिम दिनों में भी हम ऐसे अनुदान बहुत कम मिलते हैं। तृतीय विग्रहपाल के शासन काल (१०५५-७०) में एक उच्चाधिकारी को भूमि अनुदान देने का पहला प्रमाण मिलता है। यद्यपि नारायण एक ब्राह्मण राज्याधिकारी ने जिसे राजा का सेवक (विषय) कहा गया है विग्रहपाल की अनुमति से अपनी निजी भू-सम्पत्ति (हल) में से कुछ भूमि अनुदान में दी।[1] सम्भव है कि यह भूसम्पत्ति भी उसे पाल राजा से सेवा के बदले मिली थी। पालों के राज्य में एक और मन्त्रि-परिवार का भी पता लगाया जा सकता है। यह है वैद्यदेव के वंशजों द्वारा ताम्रपत्र पर दिया गया अनुदान। वैद्यदेव के परिवार वालों ने विग्रहपाल, रामपाल और कुमारपाल एवं उसके बाद एक अन्य तीन पाल राजाओं का तथा मन्त्रियों के रूप में १०७५ से लेकर ११२० तक की थी। वैद्यदेव जो कुमारपाल का मंत्री था पाल साम्राज्य के अंतिम दिनों में लगभग स्वतंत्र हो गया और उसने प्राग्ज्योतिषभुक्ति में अपने प्रभु की औपचारिक स्वीकृति के बिना ही दो गाँव अनुदान में दिये।[2] पहले इन दोनों गाँवों का भोक्ता गंगाधर भट्ट था[3] जिसने स्पष्टतः इन्हें या तो पाल राजा या उसके सामन्त निवासी से प्राप्त किया होगा। जाहिर है कि पाल राजाओं से एक के बाद एक अनुदान मिलने के फलस्वरूप इस मन्त्रि परिवार ने अपनी भूसम्पत्ति खूब बढ़ा ली थी और अन्त में यह पालों के नियन्त्रण से निकल गया था। पर साधारणतया कर्मचारियों को दिये गए कुछ भूमि अनुदानों को छोड़कर पालों के प्रधान राज्याधिकारियों और सामन्तों को दिये भू-अनुदानों का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता। सम्भवतः पालों के साम्राज्य में सामन्तों की अधिक श्रेणियाँ नहीं थीं और केन्द्रीय सत्ता काफी सुदृढ़ और सुस्थित थी क्योंकि एक वंश लगातार चार सौ वर्षों तक राज्य करता रहा। इसके अलावा पाल साम्राज्य के राज्याधिकारियों की संख्या किसी भी मध्यकालीन राज्य के अधिकारियों से अधिक थी। परिणामतः कुछ थोड़े से अधिकारी इतने शक्तिशाली नहीं हो पाये कि वे अनुदानों को ताम्रपत्रों पर लिखवाने का आग्रह कर सकते।

दक्षिण पूर्व बंगाल में जहाँ पालों के सामन्त वर्मन लोग राज करते थे,

---

१ ए० इ०, २६, नं० ८, पंक्तियाँ ४९-५१।

२ ए० इ० , नं० १८ प्लेट २ की पंक्ति १५।

३ वही।

स्थिति इससे भिन्न जान पड़ती है। अपने एक अभिलेख में भवदेव जिसका पितामह वंग के किसी राजा का मन्त्री था[1] और जो स्वयं हरिवर्मन देव का मन्त्री था[2] (लगभग १२०० ईस्वी में), यह दावा करता है कि उसने सैनिक पराक्रम से अपनी भूमि और बौद्धिक पराक्रम से अपनी विद्या की वृद्धि की।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि उसके स्वामी ने सैनिक सफलताओं के लिए उसे अनुदान स्वरूप भूमि दी थी। उसके पूर्वज को भी गौड के राजा ने पुरस्कारस्वरूप जमीन दी थी।[4] सेन राजवंश के किसी राजा द्वारा किसी को राज्य की सेवा करने के एवज में दिये गये अनुदान का कोई प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं है। हम निश्चयपूर्वक यह भी नहीं कह सकते कि सेन राजाओं के कोई प्रत्यक्ष सामन्त भी थे। किन्तु विश्वरूप सेन के एक अनुदानपत्र से जो शायद तेरहवीं सदी के प्रारम्भ का है ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है। इससे ज्ञात होता है कि पुण्ड्रवर्धनभुक्ति में हलायुध नामक एक ब्राह्मण ने किन्हीं दो व्यक्तियों से कुछ जमीन खरीदी।[5] तब कुमार सूर्यसेन ने अपने जन्म दिवस पर उसे यह जमीन दान में दे दी।[6] यह धर्मेतर प्रयोजनों में जमीन की खरीद बिक्री का उदाहरण है। सम्भवतः यह जमीन कुमार सूर्यसेन की जागीर में पड़ती थी और बिना उसकी मर्जी के न यह खरीदी जा सकती थी और न अनुदान में दी जा सकती थी। एक दूसरी धारा के द्वारा कुमार पुरुषोत्तमसेन ने दो भूखण्ड जिसे हलायुध ने खरीदा था और जिसका भोक्ता स्वयं कुमार था, भाग चन्द पर विश्वरूपसेन के शासन काल के १४वें वर्ष में फिर उसी ब्राह्मण हलायुध को दे दिये।[7] स्पष्ट है कि इन दो सेन कुमारों को राजा ने निजी जागीर के रूप में कुछ भूमि दे रखी थी और उस जमीन पर उनके अधिकार दो बातों में सन्निहित थे। पहली यह थी कि उनके रैयत उनकी अनुमति के बिना जमीन की खरीद बिक्री नहीं कर सकते थे और दूसरी यह कि रैयतों द्वारा किये गये धार्मिक अनुदान तभी वैध होते थे जब राजा, जो राजपरिवार का प्रधान था,

---

१ ए० इ० नं० ६ श्लोक ८।
२ वही श्लोक १६।
३ वही श्लोक १।
४ वही श्लोक ६ ?।
५ इ० ए० नं० १? पंक्ति ५ ६।
६ वही।
७ वही पंक्ति ५६ ८।

एक ग्राम सनद में उनकी घोषणा करता था। महासान्धिविग्रहिक नागसिंह भी शायद जागीर के रूप में मिले अपने क्षेत्र में ऐसे ही अधिकारों का उपभोग करता था, क्योंकि हम देखते हैं कि उसने भी उसी हल्लायुध को जमीन के दो टुकड़े जिनमें से एक सेना के लिए और दूसरा आवास के लिए था और जिन्हें हल्लायुध ने दो व्यक्तियों से खरीदा था, दान कर दिये।[1] इस प्रकार इस अनुदान-पत्र से प्रकट होता है कि सेन राजा, परिवार के सदस्यों और राज्याधिकारियों को भूमि अनुदान किया करते थे। असम के मध्यकालीन अनुदान-पत्रों में विभिन्न प्रकार के सामन्तों का उल्लेख हुआ है पर राज्याधिकारियों की संख्या नगण्य प्रतीत होती है और इनमें से किसी को भूमि अनुदान देने का पुरातात्विक प्रमाण नहीं मिलता है।

मध्य काल में उड़ीसा अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण अनेक छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था जो अनुदान प्रथा के कारण और भी कमजोर बन गये। अनेक उड़ीसा में राज्य की सेवा के एवज में जितने भूमि अनुदान दिये गये उनमें [illegible] और असम तीनों को मिलाकर भी नहीं दिये गये। यहाँ [illegible] ज्योतिषियों, राणकों (उच्चतर श्रेणी के सामन्त) और सामन्तों (सनिक सेवा करनेवाले सामन्त) सभी को शुभ अवसरों पर भूमि अनुदान दिये जाते थे—उदाहरण, उनकी सेवाओं के एवज में सोमवंशी राजा द्वितीय महाभवगुप्त (१० = १४) ने श्रावस्ती मण्डल से आकर अपने राज्य में बसने वाले भट्ट ब्राह्मण के पौत्र राणक र[illegible] को एक गाँव अनुदान में दिया।[2] इस राजा ने सामन्तों के बीच राणकों का स्थान बहुत ऊँचा था क्योंकि अनुदान-पत्र में उनका स्थान रानी के बाद रखा गया है (रानीराणक राजवल्लभ [illegible])।[3] अनुदान पत्र में ग्रहीता को वे सारे अधिकार दिये गये हैं जो मध्यकाल के अनुदानों में आमतौर पर ब्राह्मणों को दिये जाते थे। यद्यपि यह अनुदान सूर्यग्रहण के अवसर पर धर्म के नाम पर दिया गया था किन्तु ग्रहीता के नाम के साथ राणक उपाधि जुड़ी होने से संकेत मिलता है कि यह पुरस्कार उसे प्रशासनिक एवं सैनिक सेवाओं के बदले दिया गया था। इस अनुदान पत्र से यह भी पता चलता है कि राणक की उपाधि जहाँ प्रारम्भ में केवल राज-परिवार के सदस्यों को मिलती थी वहाँ अब ब्राह्मण सामन्तों को भी मिलने लगी।

---

१ इ० ए० ३, न० १८ पंक्तियाँ ५४ ५६।

२ ए० इ० ३, न० ४७ प्लेट एफ, पंक्तियाँ २८ ४२।

३ वही पंक्तियाँ ३३ ४।

खिजलि (भूतपूर्व गोंड राज्य में स्थित) के भंज राजा यशभंजदेव के एक ताम्रपत्र में ऐसा उल्लेख है कि उसने जगधर शर्मा नामक एक ज्योतिषी को उन समस्त अधिकारों के साथ एक गाँव दान में दिया[1] जो अनुदान में सामान्यतया दिये जाते थे और उसके छोटे भाई यशभंज ने भी उसे एक गाँव दिया।[2] ये दोनों अनुदान बारहवीं शताब्दी में दिये गये। गाहड़वालों और सेनों के अनुदानपत्रों में सामन्तों और राज्याधिकारियों की पंक्ति में ज्योतिषियों का स्थान बहुत ऊँचा जान पड़ता है। खिजलि के भंजों के राज्य में भी शायद उनका महत्त्वपूर्ण स्थान था और उनको जो धार्मिक अनुदान दिये जाते थे वे वास्तव में जन्मी बनाने और महत्त्वपूर्ण संस्कारों/कार्य प्रारम्भ करने के लिए शुभ मुहूर्त बताने के बदले दिये जाते थे। खिजिंग के भंजों के राज्य में एक दो भंज राजाओं ने महासामन्त भट्ट नामक एक खनिक सामन्त को अनुदान में गाँव दिये। इनमें से पहले राजा रणभंज ने उसे राज्य के सेवक के रूप में (विधेयी कृत्वा) उसके आचरण के पुरस्कारस्वरूप उसे चारों सीमाओं सहित चार गाँव दान किये। इन गाँवों में चाटों और भटों का प्रवेश वर्जित कर दिया गया और इनमें पायी जानेवाली समस्त खनिज सम्पदा भट्ट को सौंप दी गयी। इस अनुदानपत्र में उस महासामन्त को मुण्डिसुत कहा गया है जिससे पता चलता है कि उसका पिता भी महासामन्त था। दूसरे अनुदानपत्र में उसे स्पष्ट शब्दों में सामन्त मुण्डि का पुत्र महासामन्त भट्ट कहा गया है।[4] शान्तापग्राम बसाने के बदले ही उसे जागीर दी गयी जो मुख्यतः ब्राह्मणों से आबाद (ब्राह्मणवसति) थी।[5] अनुदत्त गाँव से राजा कोई कर नहीं ले सकता था और न उस पर कोई प्रशासनिक प्रतिबन्ध लगा सकता था।[6] सामन्तों और महासामन्तों को दिये गए अनुदानों के कोई और अभिलेखीय प्रमाण हम उपलब्ध नहीं हैं किन्तु इस प्रथा के कारण उड़ीसा में भूमिधर वर्ग के रूप में सामन्तों का उदय अवश्य हुआ।

बहुतेर गंगों के राज्य में जिसमें उड़िया भाषा और तेलुगु भाषी दोनों

---

१ ए० इ० १८ नं० २६ पंक्तियाँ १६-२६।
२ वही १६, ४३ और पा० टि० १।
३ ज० ए० सो० बं० १० नं० ३ पृष्ठ १६६।
४ वही पृष्ठ १६८।
५ वही।
६ अकरत्वेन च सर्वबाधा विवर्जितम्। वही पृष्ठ १६८।

सेत नामिन थे, अधिकारियों को दिये गए अनुदानों के कई पुरालेखीय उदाहरण है। गग राज वज्रहस्त (१०३८ ७०) के अधीन शारपराज नामक एक पद विरगाविर[1] (पोर जिला के नायक) ने अपनी पुत्री के विवाह के अवसर पर वर को जो राजपुत्र था पाँच पर मुक्त गाँव अनुदान में दिए।[2] सम्भवत दारपराज तो स्वयं गगवश से कोई वश अथवा मिला था। गग परिवार से दारपराज का कोई रक्त सम्बन्ध नहीं था यद्यपि वह सामन्त-सामादिराज का पुत्र था[3] पर तब भी उसने पिता जियी से पूछ अनुदान दिया। प्रत्यक्ष अनुदान का प्रमाण हम अनन्तवर्मन चोडगग के शासन काल (१०७८ ११४८) में मिलता है। उसने अपने और अपने माता पिता के धर्म और कीर्ति की अभिवृद्धि के लिए अपने विश्वस्त अभिकर्ता (आज्ञाविधायक) चोडगग को कलिंग में एक पुरवे के साथ साथ एक गाँव अनुदान में दिया।[4] वैसे तो इस अनुदानपत्र में भी उन्हीं शब्दावली का प्रयोग हुआ है जो सामान्यत धार्मिक अनुदानपत्रों में प्रयुक्त होती थी किन्तु इसका मतलब यह नहीं लगाना चाहिए कि चोडगग को दिया गया अनुदान धार्मिक अनुदान था। यह उस राजा की सेवाओं के बदले मिला था।

गग राजाओं ने विशेष कर नायक वह जानवाले सैनिक अधिकारियों को राजसेवा के बदले अनुदान दिए। तृतीय वज्रहस्त के शासन काल में गणपति नायक नामक एक व्यक्ति को बाप्र प्रदेश में एक गाँव अनुदान में दिया गया।[5] ग्रहीता के गोत्र और प्रवर का उल्लेख नहीं है और आगे हम जिस अनुदान की चर्चा करने जा रहे हैं उसमें और इस अनुदान में जो साम्य है इससे प्रतीत होता है कि गणपति नायक कोई गण्य मान्य व्यक्ति था। दूसरा अनुदान पत्र अनन्तवर्मन के पुत्र मधुकामार्णव ने अपने गग सवत के ५२८वें वर्ष में जारी किया गया था।[6] इसके अनुसार तीन गाँवों का एक वश्य अग्रहार उत्तर वश्य जातीय मंत्रि नायक के पुत्र एरप नायक को अनुदानस्वरूप दे दिया गया।[7]

---

१ ए० इ० २६, न० ७ पंक्तियाँ २६ ३३।
२ वही ५ न० ३१ पंक्तियाँ ९ १६।
३ वही।
४ वही पृष्ठ १७४ पंक्तियाँ ३० ३४।
५ मद्रास रिपोर्ट ऑन एपीग्राफी, १९१८ १९ परिशिष्ट 'ए', न० ३।
६ वही, न० ४।
७ वही।

मद्रास एपिग्राफिक रिपोर्ट में अनुदानपत्रों का जो सारांश उद्धृत हुआ है, उसमें इनके बारे में इससे ज्यादा कोई जानकारी नहीं मिलती, लेकिन स्पष्ट है कि यहाँ अग्रहार शब्द का प्रयोग किसी ब्राह्मण के अभाव में करमुक्त गाँव के लिए किया गया है। इससे पहले के अनुदानपत्रों में इस शब्द का प्रयोग साधारणतया कोई निश्चित संख्या ब्राह्मणों के लिए दिये गये अनुदान के लिए किया जाता था किन्तु किसी नायक को (सैनिक नेता को) इस प्रयोजन से अनुदान क्यों दिया जाता? सम्भावना यही है कि नायक को यह अनुदान राज्य के सेवार्थ एक निश्चित संख्या में सेना रखने के लिए दिया गया। अनन्तवर्मन चोडगंग के एक अभिलेख में भी एक नायक को अनुदान देने का कुछ प्रमाण मिलता है। उसने अपने पादजीवी नायक को एक कर मुक्त गाँव सेवा के लिए अनुदान में दे दिये।[1] केवल पादजीवी विशेषण से उसके सरकारी ओहदे का कोई संकेत नहीं मिलता। लेकिन उसके पितामह वासुदेव को नायक की उपाधि[2] दी गयी है जिससे प्रतीत होता है कि उसका परिवार गंग की किसी न किसी प्रकार की सैनिक सेवा करता था। अतः नायक या तो गंग का सामन्त था या कोई राज्याधिकारी क्योंकि प्राचीन अनुदानपत्रों में इस शब्द का प्रयोग दोनों के लिए हुआ है।

१३वीं सदी तक गंग प्रशासन पूरी तरह से सामन्तवादी ढाँचे में ढल गया क्योंकि १२९५ में कोणार्क मन्दिर निर्माता द्वितीय नरसिंहदेव ने अपने मन्त्री कुमार महापात्र भीमदेव शर्मा को सूर्य ग्रहण के अवसर पर दो गाँव अनुदान में दिये।[3] इसी अनुदान के अंग के रूप में ग्रहीता को अलग अलग गाँवों से एक श्रेष्ठि एक ताम्बूली (तमोली) एक ताम्रकार और एक कांस्यकार भी दिया गया।[4] इन लोगों के दान से अनुदत्त क्षेत्र में शिल्पी और कारीगर की सेवाएँ सुलभ हो गयीं। सम्भव है कि उसने इन लोगों के भरण-पोषण के लिए भी थोड़ी थोड़ी जमीन दे दी हो क्योंकि उसी अनुदानपत्र में द्वितीय नरसिंहदेव ने नाडि नामक एक ताम्रकार को आधी वाटिका जमीन दी है। ऊपर जो उदाहरण दिए गए हैं उनकी संख्या कुछ ज्यादा तो नहीं है किन्तु जब तक कोई प्रतिकूल

---

१ इ० ए० १८, १७१ ७२ पंक्तियाँ १०९ १३।

२ वही पंक्ति १०९।

३ ज० ए० सो० बं० ६५ भाग १ पृष्ठ २५४ ६ पंक्ति १२१।

४ वही पंक्तियाँ १९ २१।

५ वही पंक्तियाँ १८ १९।

निष्कर्ष देनेवाला प्रमाण सामने नहीं आता तब तक ऐसा मानना सर्वथा उचित होगा कि उड़ीसा के मध्यकालीन राजवंश—भंज, सोमवंशी और वहत्तर गंग—अपने सामन्तों और राज्याधिकारियों का वेतन और पुरस्कार के रूप में भूमि अनुदान ही दिया करते थे।

बुन्देलखण्ड के चन्देल राज्य में अधिकारियों को दिये भूमि अनुदानों के अधिक उदाहरण मिलते हैं। सबसे पहले चन्देल अनुदान हम धंग के शासन काल (९०२-१००२) में मिलता है। इसके अनुसार राजा ने ब्राह्मण भट्ट यशोधर को उन सारे अधिकारों के साथ एक गाँव दान में दिया जो अनुदानों में सामान्यतया दिये जाते थे।[१] एक दूसरे अभिलेख से ज्ञात होता है कि ग्रहीता महापुरोहित और न्यायाधीश के पद पर आसीन था जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि दान का सम्बन्ध यशोधर की राज सेवा से था। चन्देलों के प्रशासन में कायस्थ नामक अधिकारियों को अनेक अनुदान मिले। कीर्तिवर्मन (१०७३ ई०) के एक अभिलेख में वास्तव्य कायस्थ राज्याधिकारी जाजूक को दरगाम नामक एक समृद्ध गाँव राजकीय अनुदान के रूप में देने का उल्लेख है।[२] और भोजवर्मन के अजयगढ़ शिलाभिलेख से ज्ञात होता है कि गंग के उत्तराधिकारी ने जाजूक को सरकार के सभी विभागों की देखभाल के लिए ठक्कुर के पद पर नियुक्त किया।[३] जाजूक के उत्तराधिकारी महेश्वर ने पीताद्रि में (सम्भवतः किसी युद्ध में) राजा कीर्तिवर्मन के संकट में पड़ जाने पर उनकी जो बहुमूल्य सेवा की थी उसके महत्त्व को स्वीकारते हुए राजा ने पुरस्कार-स्वरूप उसे एक गाँव अनुदान में दिया और साथ ही कालंजर के कोट्टवारिक के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।[४] ऊपर भोजवर्मन के जिस अभिलेख का हवाला दिया गया है उसमें इन दोनों अनुदानों का उल्लेख है। उसमें त्रैलोक्यवर्मन के शासन काल में दिये एक तीसरे अनुदान का भी उल्लेख है।[५] उसने इसी कायस्थ परिवार के एक सदस्य वामेव को जयपुर (वर्तमान अजयगढ़)

---

१ इ० ए० १६ २०४ पंक्तियाँ ६ ११।

२ वही ३० नं० १७ श्लोक ६।

३ ठक्कुर धर्मायुक्तं सर्वाधिकरणेषु सन्ना नियुक्तं। वही १ नं० ३८ २, श्लोक ६।

४ ए० इ० ३० नं० १७ श्लोक ८।

५ इस अनुदान से सम्बन्धित कोई भी ताम्रपट अब तक प्रकाश में नहीं आया है।

दुर्ग के विनिप के पद पर नियुक्त किया और साथ ही अनुदानस्वरूप एक गाँव भी दिया।[1] स्पष्ट ही यह गाँव उसे उसकी सैनिक सेवाओं के प्रतिदान स्वरूप दिया गया था क्योंकि उसने भोजक नामक एक विद्रोही को पराजित करके उसके राज्य के कुछ हिस्से को जीता था, चन्देल राज्य में शांति स्थापित की थी और उसे वि... तुरुष्कों के भय से मुक्त किया था।[2] इस परिवार के सदस्य चन्देल राजा ... से लेकर भोजवर्मन के शासन काल तक अर्थात २८० वर्षों तक विभिन्न महत्वपूर्ण सरकारी पदों का उपभोग करते रहे।[3] लेकिन वे आमतौर पर नायक, मंत्रि, अधिकारी ही हुआ करते थे क्योंकि इस परिवार को दिये गए तीन अनुदानों में से दो सैनिक सेवाओं के लिए दिये गए।

चन्देलों द्वारा ब्राह्मणों तथा अन्य लोगों को दिये गए कतिपय अनुदानों में सैनिक पदों का तत्त्व प्रधान है। ११८० में परमर्दि ने सेनापति मल्हण के पुत्र ब्राह्मण सेनापति ... को युद्ध में ... पद भूमि अनुदान में दी।[4] फिर उसने एक वत्सराज नामक उसके ... जो राउत नहीं बन पाये थे अनुदान में दी। सेनापति और उसके राउत पुत्र को दी गयी जमीन उनके भरण पोषण के लिए ... थी।[5] ... एक अन्य अनुदानपत्र से ज्ञात होता है कि ११७१ में उसने सेनापति मल्लपाल शर्मा को एक पूरा गाँव अनुदान में दे दिया।[6] ... शर्मा के पिता, पितामह तथा प्रपितामह ठक्कुर की उपाधि से विभूषित थे और यह स्मरणीय है कि यह उपाधि मध्य काल में उत्तर भारत के ब्राह्मण, क्षत्रिय और कायस्थ सभी राज्याधिकारियों के लिए प्रयुक्त होती थी। इस सेनापति को यह गाँव—जैसा कि हम मान सकते ... स्पष्ट है—समस्त विगत, वर्तमान और भावी करों से मुक्त करके दिया गया था।[8] लेकिन ब्राह्मण मंत्रि अधिकारियों को दिये उपयुक्त ... अनुदान

१ ए० इ० ... नं० १० श्लोक १०, १३।
२ वही, श्लोक १६ २०।
वही।
४ वही, श्लोक १६ २०।
५ ए० इ० ४, नं० २० पंक्ति १८।
६ वही पंक्तियाँ ६, ७३।
७ इ० ए० ४ २०५ और उसका भाग पंक्तियाँ १६ १८।
८ वही पाठ ११।

सनिक सेवाओ के लिए नहा, वल्कि पुण्य अर्जित करन के उद्देश्य स दिय गये थे। किन्तु त्रलोक्यवमन द्वारा ११०८ म दिय गए अनुदान म स्थिति इनस बिलकुल भिन्न है। उसने सामन्त नामक राउत क उत्तराधिकारियो को मत्युर-वत्ती (अर्थात मत व्यक्ति के परिवार के भरण पोषण के साधन) के रूप म एक गाँव दिया क्योकि यह राउत जिसके पिता और पितामह भी राउत थे तुरुष्को के विरुद्ध लडत हुए खेत रहा था।[1] इसी राजा ने इस राउत परिवार को फिर १२०५ मे भी एक अनुदान दिया।[2] ग्रहीता के गोत्र का उल्लेख तो हुआ है,[3] किन्तु जाति का नही। शायद वह क्षत्रिय था। एक महत्त्वपूण सनिक अधिकारी या नायक कुलशमा जिसका पिता नायक पितामह राउत और पर पितामह राणक था। १२०८ म त्रलोक्यवमन न उस उन समस्त अधिकारा और उन्ही शर्तों पर एक गाँव अनुदान मे दिया जिनका उल्लेख हम चन्देल अनुदान पत्रो म प्राय देखत है।[4] यद्यपि ग्रहीता ब्राह्मण था फिर भी ऐसा कोई उल्लख नही है कि यह अनुदान किसी धार्मिक उद्देश्य स अथवा किसी धार्मिक प्रसग पर दिया गया हो। इसलिए हम यही मानना होगा कि यह एक धनाभुगत ब्राह्मण सनिक अधिकारी को धर्मेतर प्रयोजना से ताम्रपट पर अकित करके दी गयी जमीन की सनद थी। त्रलोक्यवमन क पुत्र और उत्तराधिकारी वीरवमन् ने एक राउत को जिसके पिता पितामह और परपितामह सभी राउत थे युद्ध भूमि म पराक्रम दिखाने के लिए १२५४ म एक गाव दिया।[5] यद्यपि इस अनुदान का उद्देश्य दाता के माता पिता के पुण्य म अभिवृद्धि बताया गया है[6] किन्तु ग्रहीता के गोत्र के उल्लेख से[7] एसा नही जान पडता कि वह निश्चित रूप से ब्राह्मण ही था। अन्त म हम इसी वीरवमन द्वारा दिये एक दूसरे अनुदान का उल्लेख कर सकते ह। उसने १२८८ म वलभद्र मल्लय नामक एक परम पराक्रमी सनिक अधिकारी को जिसन छ राजाओ, तुर्कों और कश्मीर क कई

---

१ ए० इ०, १६, न० २० १ पक्तियाँ ७ ११।

२ वही २, पक्तिया ५ १२।

३ वही १ पक्ति १०।

४ वही १ न० ११ पक्तिया १२ १८।

५ वही २ न० १४ सा पक्तियाँ ४।

६ वही।

७ वही।

राजाओं को पराजित किया था, एक गाँव अनुदानस्वरूप दिया।[1] अनुदान का उद्देश्य तो नाना और माता पिता के पुण्य में अभिवृद्धि ही बताया गया है,[2] लेकिन इसमें संदेह नहीं कि ग्रहीता, जो ब्राह्मण था और उस पर यह गाँव उसकी महान सैनिक उपलब्धियों के पुरस्कारस्वरूप दिया गया था।

चन्देलों द्वारा राज्य की सेवा के एवज में दिये गए अनुदानों की संख्या काफी है और उनमें यह स्पष्ट हो जाता है कि महापुरोहितों, न्यायाधीशों, दुर्ग-स्वामियों, सेनापतियों, नायकों और राउतों को उनकी सेवाओं के लिए चन्देल राजा भूमि अनुदान दिया करते थे। प्राप्त प्रमाणों के आधार पर निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि राउतों से ऐसी कोई अपेक्षा की जाती थी कि वे राजा की सेवा के लिए एक निश्चित संख्या में घोड़े अथवा सैनिक रखें। लेकिन अधिकांश अनुदान सैनिक सेवा के लिए दिये गए जान पड़ते हैं। यह बात चन्देलों के राज्य में सैनिक तत्त्वों की प्रमुखता का सूचक है और इसकी पुष्टि ... अभिलेखागार के उत्तरों से होती है।

[illegible] के नागौर में सन् १२१२ में हम के रूप में गाँव देने का भी प्रमाण मिलता है। राजपूत के पुत्र ... ने एक [illegible] (जिसका उल्लेख नहीं है) के बदले [illegible] में एक गाँव दिया।[3] यदि यह व्यापार करता रहा हो—और उसके व्यापार करने की सम्भावना [illegible] भी है—तो उसके पास [illegible] का एकमात्र साधन [illegible] राजाओं द्वारा अनुदत्त भूमि का राजस्व ही हो सकता था। यह [illegible] कोई [illegible] सरदार था क्योंकि उसकी सेवा में एक ठक्कुर भी था जिसे उसने अपनी ओर से [illegible] गाँव का दान करने का काम सौंपा।[4] ... १२२३ में नीनूर में [illegible] राज्य की [illegible] भूमि की तुलना है। [illegible] की जा सकती [illegible] १२० [illegible] के बदले [illegible] दिये गये थे।[5] इन [illegible] का [illegible]

1 ए० इण्डि० खण्ड ... पृ० ... ३४।
2 वही।
3 ए० इ० ... सं० ७ परिशिष्ट पृ० १८।
4 [illegible] ... पृ० ...।
5 ज० ए० सा० बं० ३६ (१८६७) ६२८ ... [illegible] के लिए
[illegible] ... रहा है।

जौनपुर के तत्कालीन शासक गाहड़वाल राजा से मिली थी। ध्यान देने की बात है कि उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में हम राणकों को लगानी करके अपनी भू-सम्पत्ति में वृद्धि करते देखते हैं। ऐसे वित्त-बन्ध में रहन रखी जमीन पर रहनदार के अधिकार सीमित ही होते थे। जब तक कर्ज अदा न हो जाय तभी तक वह उस जमीन का कर उगाह सकता था[1] या उसकी उपज का उपभोग कर सकता था। लेकिन अगर कर्जदार कर्ज नहीं चुका पाये तब तो वह जमीन निश्चय ही रहनदार की ही हो जायेगी।

वित्त-बन्ध के इन दो उदाहरणों से, और विशेषकर चन्देलों के राज्यवाले उदाहरण से, यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थानीय शासक अपनी जमीन जो शायद उन्हें अपने प्रभुओं से मिलती थी अनुदानस्वरूप पुनः दूसरों को दिया करते थे। उत्तर मध्यकालीन (अर्थात् १२वीं सदी से) फ्रांस और जर्मनी में ऐसे बन्धक को जागीर कहा जाता था और कर्जदार प्रभु होता था तथा कर्ज देनेवाला सामन्त।[2] किन्तु, मध्यकालीन भारत में ऋणी और ऋणदाता के सम्बन्ध ऐसे नहीं होते थे।

उत्तर प्रदेश में राज्याधिकारी को भूमि अनुदान देने का सबसे पहला अभिलेखीय प्रमाण १०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में गोरखपुर जिले में मिलता है। सामन्त और मन्त्री कृतकीर्ति के पुत्र सचिव मदोलि द्वारा दिये एक धार्मिक अनुदान में बताया गया है कि उसने जो गांव दुर्गा देवी को अनुदान में दिया वह उसे राजा जयादित्य (शायद गुर्जर प्रतीहारों के किसी सामन्त) की कृपा से प्राप्त हुआ था।[3] किन्तु हमें राज्य की सेवा के एवज में प्रतीहारों द्वारा दिये गए अनुदान का कोई प्रमाण यशःपाल के समय से पूर्व नहीं मिलता। यशःपाल शायद गुर्जर प्रतीहार राजवंश का अंतिम राजा था। १०३६ ईस्वी में जब वह इलाहाबाद के निकट कड़ा के स्कन्धावार में था उसने कौशाम्बी मण्डल में पभोसा निवासी माथुर विकट को अनुदानस्वरूप एक गाँव दिया।[4] निश्चय ही यह एक गैर-ब्राह्मण व्यक्ति को दिया गया धर्मेतर अनुदान था। ग्रहीता शायद कायस्थ था जिसके पूर्वज मथुरावासी थे। ऐसा प्रतीत होता है कि माथुर कायस्थ कई राजवंशों की सेवा किया करते थे। चाहमान राजा हम्मीर का

१ ए० इ० २१ नं० १, पृ० १६।
२ गनोफ फ्यूडलिज्म पृष्ठ ११०।
३ ग्रामोराजप्रसादमप्राप्त। ए० इ० २१, १७०-७१, पंक्तियाँ ७-१०।
४ ज० रा० ए० सो० ब० १९२७, पृष्ठ ६९४।

मंत्री मथुरा के कटरिया कायस्थ परिवार का था। इस परिवार का वर्णन ११८८ के एक अभिलेख में किया गया है।[1] गाहडवालों द्वारा जो प्रतीहारों के पतन के बाद उत्तर प्रदेश के अधिकांश भाग के स्वामी बन बैठे थे कायस्थ अधिकारियों को अनुदान देने का कोई उदाहरण अभी तक नहीं मिला है लेकिन अपने मंत्रियों, सामंतों और अमलों को वे काफी बड़े पैमाने पर अनुदान दिया करते थे।

इसके विपरीत गाहडवाल राजा आम तौर पर गैर सैनिक अधिकारियों को ग्राम अनुदान दिया करते थे। ये ग्रहीता मुख्यतः ब्राह्मण हुआ करते थे और ब्राह्मणों में भी सबसे अधिक अनुदान महापुरोहित जागुक या जागु शर्मा तथा उसके पुत्र प्रह्लाद शर्मा को प्राप्त हुए। जागु शर्मा मदनपाल और उसके उत्तराधिकारी गोविन्दचन्द्र के शासन काल में भी महापुरोहित के पद पर बना रहा। राज्य में इसका खासा दबदबा था, क्योंकि अनुदानपत्रों में जिन राज्याधिकारियों का उल्लेख हुआ है उनमें महापुरोहित का स्थान सबसे ऊपर है। इसको दिये गये अनुदान बतलाते हैं कि इसे दस गाँव गाहडवाल राज्य के लगभग दस अलग अलग पत्तलों (राजस्व विषयक इकाइयों) में प्राप्त हुए।[2] १११४ से लेकर ११२० तक तो इसे प्रायः हर साल एक गाँव मिलता रहा। इसके बाद कोई दस वर्ष तक इसे कोई गाँव नहीं मिला। किन्तु फिर ११३९ में इसे एक गाँव प्राप्त हुआ।[3] इन अनुदानों का उद्देश्य पुण्यार्जन बताया गया है।[4] लेकिन जान पड़ता है कि इस प्रकार का अनुदान उत्पात एवं पुरानी शांति के निवारण के लिए किया जाता था। ऐसा लगता है कि वास्तव में ये अनुदान महापुरोहित को गाहडवाल राजाओं की ओर से उनके प्रतिदानस्वरूप धार्मिक बलि के रूप में प्राप्त होते थे। उसको दिये गये गाँव दस अलग अलग पत्तलों में बिखरे हुए थे इसलिए वह उनमें अपनी शक्ति और सत्ता आसानी से मजबूत नहीं कर सकता था लेकिन इससे [illegible] कि गाहडवाल राज्य के [illegible] उसका [illegible] बाद गाँवों के [illegible] के समय में इस परिवार

---

१ ए० इ०, [illegible] पंक्तियाँ ६ [illegible]।
[illegible] १३ [illegible] पंक्तियाँ [illegible] ए० १०
[illegible] २६ और २७।
ए० इ० [illegible] ६ ११ पंक्ति [illegible]।
४ [illegible] पंक्तियाँ [illegible] पंक्ति
१८ [illegible]।

की शक्ति प्रतिष्ठा में और भी वृद्धि हुई। उसे आठ गांव अनुदान में दिये गए, और साथ ही राउत का महत्त्वपूर्ण सामंती अथवा सैनिक दर्जा प्रदान करके वह अपने पिता के स्थान पर महापुरोहित के पद पर प्रतिष्ठित किया गया।[1] इस प्रकार इस ब्राह्मण परिवार को राज्य के कुल साठ पत्तलों में से पंद्रह पत्तलों में भू सम्पत्ति प्राप्त थी।[2] इन अनुदानों में ग्रहीता को वही अधिकार और सुविधाएँ प्रदान की गयी थीं जो सामान्यतः ब्राह्मणों को दिये अनुदानों में दी जाती थीं, और जागु शर्मा तथा उसके पुत्र प्रह्लाद शर्मा को अनुदत्त क्षेत्रों में व सारे नियत और अनियत कर और शुल्क वसूल करने के हक दे दिये गए थे जो अनुदान देने से पूर्व गाहड़वाल राजा को हासिल थे।[3]

गाहड़वालों ने कुछ अन्य ब्राह्मण राज्याधिकारियों को भी ग्राम अनुदान दिये। ये अधिकारी वंशानुगत राउतों के रूप में राज्य की सेवा किया करते थे। ११३३ में गोविन्दचन्द्र ने ब्राह्मण राउत जटेश शर्मा को, जिसका पिता राउत और पितामह ठक्कुर था, एक गांव दिया।[4] फिर, ११६८ में युवराज जयचन्द्र ने दो वंशानुगत ब्राह्मण राउतों को, जिनका पिता राउत और पितामह ठक्कुर था, एक गांव दिया। यह गांव पुण्यार्जन के उद्देश्य से समस्त अधिकारों के साथ सदा के लिए दान किया गया था।[5] ११६८ में जयचन्द्र ने इसी उद्देश्य से राउत अनंग को जिसके पिता और पितामह दोनों राउत थे एक गांव दिया। यद्यपि अनंग के गोत्र और प्रवरों का उल्लेख हुआ है फिर भी हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि वह ब्राह्मण था या नहीं।[6] क्षत्रिय राउत को भूमि अनुदान दिये जाने का हमें केवल एक ही स्पष्ट उदाहरण मिलता है। राजा बनने के बाद ११७७ में जयचन्द्र ने क्षत्रिय राउत राज्यधरवर्मन को, जो महामहत्तक ठक्कुर श्री विद्याधर का पुत्र और महामहत्तक ठक्कुर श्री जगद्धर का पौत्र था, एक गांव अनुदान में दिया।[7] विचित्र बात यह है कि इस ग्रहीता के गोत्र और

१ नियोगी म० प्र० पु० परिशिष्ट बी, न० ५०, ५२-५६, ५८।
२ वही १३८।
३ '...समस्तनियतानियतादायान।'—ए० इ० ४, न० २, श्लो० ११।
४ वही जे २ १९-२१।
५ इ० ए०, १८, ७ ८, पंक्तियाँ १६-२२। उसके पितामह का भाई भी राउत था। ऐसा जान पड़ता है कि राउत का दर्जा ठक्कुर से ऊपर था।
६ ए० ए० १८, ११-१२ पंक्तियाँ २०-२६।
७ इ० ए०, १८ पृष्ठ १३४ और आगे पंक्तियाँ २०-२४, २७-३५।

प्रवर दोनों का उल्लेख हुआ है[1] और यदि अनुदानपत्र में स्पष्ट न बताया गया होता कि वह क्षत्रिय था[2] तो सहज ही उसके ब्राह्मण होने का भ्रम उत्पन्न हो जाता क्योंकि इस अनुदान में तमाम धार्मिक औपचारिकताओं का निर्वाह किया गया है और वह दिया भी गया है सूर्य चन्द्र के अस्तित्व पर्यन्त के लिए।[3] स्पष्ट है कि राजपथरक्षमन एक शक्तिशाली राज्याधिकारी था क्योंकि उसे इसके अतिरिक्त पांच और अनुदान भी दिये गए हैं।[4] इस अधिकारी को दिये इन छहों अनुदानों (११७७-८०) में एक ही शब्दावली का प्रयोग हुआ है, जो अन्तर है वह सिर्फ गांवों और राजा द्वारा दिये पाटकों के नाम का ही। अनुदानपत्रों में कहीं भी ग्रहीता से दाता ने कोई सेवा करने की मांग नहीं की है इनका उद्देश्य माता तथा उसके माता पिता का पुण्यार्जन बतलाया गया है। पर धर्म और परमार्थ की भावना से प्रेरित होकर अनुदान दिये गये हों, ऐसा स्पष्ट नहीं जान पड़ता क्योंकि ग्रहीता क्षत्रिय था। उसने राजा को अनुदान देने के लिए बाध्य किया हो, इसका भी कुछ स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। लेकिन चूंकि उसे तीन अनुदान ११७७ में और फिर अन्य तीन ११८० में दिये गये इसलिए ऐसा जान पड़ता है कि बीच के इन तीन वर्षों में वह बहुत अधिक शक्तिशाली हो गया था। पर इन आध दर्जन अनुदानों का आशय होने के बावजूद राजपथरक्षमन उतना प्रभावशाली नहीं था जितना जाजु शर्मा और उसका पुत्र था। जिन्हें दोनों को अट्ठारह अनुदानों का

उल्लेख तो करता ही है साथ ही अपने प्रत्यक्ष प्रभु राणक के राज्य का भी उल्लेख करता है।[1] ११३४ में सिगर वत्सराज नामक एक गाहड़वाल सामन्त को भी रापडि विषय में उन्हीं शर्तों पर एक अनुदान देते देखते हैं जिन शर्तों पर उनका गाहड़वाल प्रभु देता था,[2] यद्यपि सम्भावना ऐसी है कि उसे अपने प्रभु से भूमि अनुदान प्राप्त न हुआ हो बल्कि प्रभु ने उसके छीने हुए प्रदेश उसे फिर वापस कर दिए हों।

चन्देलों के विपरीत गाहड़वाल ताम्रपटों में कहीं भी राउतों को ग्राम अनुदान देने का कारण उनकी सैनिक सेवा और शौर्यपूर्ण काम नहीं बताया गया है। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अनुदान सामान्य रूप से सभी तरह की सेवाओं के लिए दिए जाते थे। लेकिन गाहड़वाल अनुदानपत्रों में राज्याधिकारियों की सूची में राउतों और राणकों का उल्लेख नहीं हुआ है। इससे प्रकट होता है कि ये सीधे राज्य के नियन्त्रण में काम करने वाले सरकारी अमले न हो कर गाहड़वालों के सामन्त थे। चन्देलों की अपेक्षा गाहड़वालों के राज्य में राउतों की संख्या बहुत अधिक थी।

इस बात के कुछ प्रमाण मिलते हैं कि पुरोहितों के अतिरिक्त अन्य नियमित राज्याधिकारियों को भी ग्राम अनुदान दिये जाते थे। १०९२-९३ के गाहड़वाल ताम्रपटों में विकरग्रामा (करमुक्त गाँव) शब्द के उल्लेख से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है। इन अनुदानपत्रों के अनुसार चन्द्रदेव ने ५०० ब्राह्मणों को एक पूरा पत्तल दान कर दिया।[3] अनुदत्त क्षेत्र में इस पत्तल के वे गाँव शामिल नहीं थे जो ब्राह्मणों और मन्दिरों के अधिकार में थे और जो करमुक्त थे।[4] इस अनुदानपत्र में २५ गाँवों को मन्दिरों के अधीन, २ को ब्राह्मणों के अधीन और ६ को करमुक्त बताया गया है।[5] दयाराम साहनी ने इन गाँवों को कर हीन[6] (जिनके हाथ न हों, ऐसे) लोगों के अधीन माना है, किन्तु ऐसा मानने का कोई औचित्य नहीं दिखाई देता। वि कर शब्द का अर्थ तो करमुक्त

१ ज० ए० सो० बं०, यू० सि०, ७, ७९०, पंक्तियाँ १-९।
२ ए० इं०, ४, न० १२।
३ ए० इं०, १४ न० १५, पंक्तियाँ २३-३०।
४ वही।
५ वही, पंक्तियाँ २७-३०।
६ वही १९६।

ही हो सकता है¹ और ऐसा जान पड़ता है कि ये गाँव राज्याधिकारियों को अनुदानों में मिले हुए थे। गहड़वाल राज्य के अन्य प्रदेशों में भी ऐसे हों तो कोई आश्चर्य नहीं लेकिन उनका उल्लेख कर्णाविप स्पष्टतः नहीं हुआ है कि पूरा परगना दान किये जाने का कोई अन्य उदाहरण सामने नहीं आता।

एक गाहड़वाल अभिलेख में ८४ गाँवों की राजस्व इकाई का उल्लेख हुआ है, लेकिन चाहमानों और परमारों के राज्यों में ऐसी कई इकाइयों की चर्चा है। शायद ऐसी इकाई शासक-वंश के सदस्यों के बीच में बाँटे गए राज्य खण्ड से बनी थी। यद्यपि गाहड़वाल अभिलेखों में कुटुम्बियों और परिजनों को अनुदान दिये जाने का कोई प्रमाण नहीं मिलता, तथापि भूमि अनुदानों में जिन राजपुरुषों और राज्याधिकारियों को अनुदान की सूचना दी गयी है, उनमें रानियों, राजियों तथा युवराजों के स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण हैं।² लेकिन चाहमानों के कई अभिलेखों से यह सिद्ध होता है कि शासक परम्परा के परिजनों के बीच भूमि बाँट दी जाती थी। इसका सबसे पहला प्रमाण भूतपूर्व जयपुर राज्य से प्राप्त ९७३ का एक शिलाभिलेख है। यह अभिलेख चाहमानों की शाकम्भरी शाखा का है।³ इसके अनुसार राजा सिंहराज, उसके दो भाई वत्सराज और विग्रहराज, दो पुत्र चन्द्रराज और गोविन्दराज तथा दूर के एक रिश्तेदार जयनराज में से प्रत्येक ने एक शिव मन्दिर को अपने अपने स्वभोग में से गाँव और पुरवे अनुदान स्वरूप दिये।⁴ स्पष्ट है कि दाता से प्रत्येक को परम्परा और राजसेवा के अनुसार अपने अपने निर्वाह के लिए जागीर मिली हुई थी। इस अभिलेख से प्रकट होता है कि राजा ही नहीं बल्कि शासक-वंश के अन्य सदस्य भी अपनी निजी जमीन में से चाहे जिसको जितना भी दे सकते थे।

ऐसे अनुदान से तनिक भिन्न उदाहरण हमें बारहवीं शताब्दी में मिलते हैं। ११४३ के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि श्रीसिंहणक नाम की एक

---

१ ए० इ०, १४, १९६ पा० टि० १। किंकर का उल्लेख एक प्रकार के भृत्य के रूप में भी हुआ है। यदि हम इस अर्थ को स्वीकार कर चलें तो मानना होगा कि ये गाँव राजा को जो सेवा देते थे उसके पुरस्कारस्वरूप कर से मुक्त कर दिये गए होंगे। न्यायपद्धति में किंकरपद शब्द का प्रयोग फुटकर खर्चों के अर्थ में हुआ है। (पृष्ठ ९९, १०१)।

२ ए० इ० ४ न० ११ ए पंक्तियाँ १५ १६।

३ ए० इ० २ न० ८।

४ वही श्लोक ४८ ९।

चाहमान रानी को गिरास (भोजन और वस्त्र प्राप्त करने के साधन) के रूप मे एक गांव मिला था।[१] इस रानी का जन्म उस परिवार के गोत्र मे नही हुआ था जिस परिवार म उसका विवाह हुआ था, बल्कि उसे उसके दर्जे के मुताबिक एक निजी जागीर दी गयी थी। राजकुल के सदस्य द्वारा अनुदान दिये जाने का एक स्पष्ट उदाहरण ११६१ के नडोल ताम्रशासन म मिलता है। इसके अनुसार राजकुल अल्हणदेव और कुमार केल्हण देव ने सयुक्त रूप से राजपुत्र कीर्तिपाल को बारह गांव समस्त अधिकारों के साथ दे दिये।[२] कीर्तिपाल को यह जागीर सदा के लिए दे दी गयी थी क्योकि हम देखते हैं कि जब वह एक जैन मन्दिर को इन बारहो गावो म से प्रत्येक से होनेवाली आमदनी म से दो दो सौ द्रम्मा का वार्षिक अनुदान देता है तब अपने उत्तराधिकारियो से कहता है कि वे सब भी उसके इस अनुदान की शर्तों का पालन करें।[३] दसवी सदी के एक चाहमान अभिलेख म बारह गावो की एक इकाई का उल्लेख मिलता है[४] लेकिन यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि यह इकाई व्यक्तिगत जागीर के रूप म किसी को दी गयी थी या नही। शासक गोत्र के सदस्यो को भूमि अनुदान देने का प्रचलन कीर्तिपाल के उत्तराधिकारियो के समय म भी जारी रहा। ११७६ के एक अनुदानपत्र के अनुसार उसके दो पुत्र राजपुत्र लखणपाल और राजपुत्र अभयपाल सिनाणव गाव के भोक्ता थे।[५] एक और गाव पर भी जिसका उपभोग ये रानी के साथ करते थे, इन तीनो भाइयो का अधिकार था क्योकि इन तीनो ने उस गाँव के अरघट(यन्त्र कूप) से लाभ उठाने वालो से प्राप्त अपने हिस्से का जो सयुक्त रूप से दान कर दिया।[६] यह बात महाराजाधिराज केल्हण के शासन काल की है।[७] स्पष्ट है कि राजपुत्र कीर्तिपाल के पिता अल्हण के बाद यह केल्हण ही चाहमान सिंहासन पर बैठा था।

रानियो और राजपुत्रो को निश्चय ही धर्म के नाम पर अनुदान नही दिये

१ ए० इ०, ११, न० ४, ५ पक्ति २।
२ वही, ९ न० ६, वी पंक्तियाँ १७ २६।
३ वही, पंक्तियाँ १७ ३०।
४ वही ?, न० ८ श्लोक ४६।
५ वही ११, न० ४ १५ पंक्ति १-५।
६ वही।
७ वही।

गए थे पर सभी चाहमानों का सम्बन्ध राजवंश से भी नहीं था। हो सकता है कि रानी प्रशासन में भाग नहीं लेती हो। हाँ यदि कोई रानी किसी राजा के अवयस्क होने पर उसकी संरक्षिका की हैसियत से राजकाज चलाती हो तो बात और है। मगर राजपुत्रों के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रारम्भ में राजपुत्रों का स्था पादान को निश्चित किसी प्रकार का भूमि पट्टा दिया जाता था। और सम्भव यही है कि इन चाहमानों का सामन्त का दर्जा दिया जाता था जिससे राज्य की कुछ सेवा करने की अपेक्षा की जाती थी। उदाहरण के लिए महाराज कीर्तिपाल के पुत्र महाराजा समरसिंह के शासनकाल में उसका मामा राजपुत्र जोजल राज्यचिन्तक का काम करता था।[1] चौहानों से सम्बन्धित एक हाल की पुस्तक में लिखा गया है कि शासन का काम राजकीय परिवार चलाता था।[2] इतना तो निश्चित है कि सामन्तों में जो मुख्य राजा के सम्बन्धी कुटुम्बी हुआ करते थे राजा की सहायता करें ऐसी आशा की जाती थी और बदले में राजा उन्हें जागीरें दिया करता था। यह सहायता किस प्रकार की हुआ करती थी यह कहना मुश्किल है। परवर्ती काल में तो यह चलन था कि शासक-वंश के लोगों को उनका सरदार जागीरें देता था और बदले में उनके लिए यह लाजिमी होता था कि युद्धकाल में वे अपने सरदार की सहायता करें और जब कोई जागीरदार मरे तो उसका उत्तराधिकारी उस जागीर का अधिकार प्राप्त करने से पूर्व उसे कुछ नजराना दे।[3] वे इन कर्तव्य निभाने के अलावा वे अपनी अपनी जागीरों में छोटे छोटे राजाओं की तरह लगभग अक्षुण्ण अधिकार का उपभोग करते थे।[4] सम्भव है कि पूर्ववर्ती चाहमानों के अधीन इसी से मिलती जुलती स्थिति रही हो। लेकिन इस अनुमान की पुष्टि करने के लिए हमारे पास कोई ठोस प्रमाण नहीं है।

परन्तु यह सोचना गलत होगा कि चाहमानों के अधीन पूरा राजकाज शासक परिवार के ही हाथों में था। ऐसा मानने का पर्याप्त कारण उपलब्ध है कि राज्य में कुछ ऐसे पदाधिकारी भी थे जिनका राजपरिवार से कोई

---

१ ए० इ० ११ नं० ४ १८ पृष्ठ ५३।

२ कल्हण के राजत्व काल में राज्य के सीमान्त क्षेत्रों का शासन उसके पुत्र और सम्बन्धी चलाते थे। दशरथ शर्मा कृत अर्ली चौहान डाइनेस्टीज पृ० २०२।

३ बेडेन पॉवेल कृत द इंडियन विलेज कम्युनिटी पृ० १९६ २०२।

४ वही।

सम्बन्ध नहीं था। बहुत पहले ही ६७३ में महाराजाधिराज सिंहराज के दुस्साध्य धधुक ने अपने स्वामी की अनुमति से सप्टकूप विषय स्थित अपना एक गाँव अनुदान स्वरूप शिव मन्दिर को दे दिया था।[1] धधुक इस मन्दिर को अनुदान देनेवाले उन सात दाताओं में एक था, जिनमें एक तो स्वयं राजा था और शेष पांच राज-परिवार के सदस्य। यही कारण है कि इन छहों दाताओं को अनुदान देने के लिए किसी की अनुमति नहीं लेनी पड़ी।[2] स्पष्ट है कि इस पुलिस अधिकारी को और भी गाँव मिले हुए थे। लेकिन इन पर उसे सीमित अधिकार ही प्राप्त थे क्योंकि हम देखते हैं कि वह दाता की अनुमति लिये बिना धार्मिक अनुदान भी नहीं दे सकता था। मारवाड़ में प्राप्त १११० के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि अश्वराज के शासन काल में अश्वशालाओं के मुख्य अधिकारी उप्पलराव ने अरघट्ट कर के रूप में प्राप्त होनेवाला अपने हिस्से का जौ एक मन्दिर को अनुदान में दे दिया।[3] जाहिर है कि ये गाँव, *जिनमें प्राप्त होनेवाले कर का कुछ हिस्सा यह अधिकारी अपनी इच्छानुसार* किसी को दान दे सकता था, उसे राजा ने सम्पूर्ण अधिकारों के साथ दे दिये थे। ऐसा जान पड़ता है कि चाहमान शासन के अंतिम दिनों में मन्त्रियों को बड़ी-बड़ी जागीरें दी जाती थीं। तृतीय पृथ्वीराज के प्रमुख परामर्शदाता को मण्डलेश्वर की उपाधि प्राप्त थी, जिससे प्रकट होता है कि या तो उसने वेतन के रूप में या उसकी प्रतिष्ठा को ध्यान में रख कर उसे एक सम्पूर्ण मण्डल दे दिया गया था।[4] इन तीन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि जो अधिकारी राजकुल से सम्बद्ध नहीं थे, उन्हें भी भूमि अनुदान दिये जाते हैं।

परमार अभिलेखों में शासक कुल के सदस्यों का भूमि अनुदान दिये जाने का उल्लेख शायद ही कहीं मिलता हो। एकमात्र परमार अभिलेख का ऐसा अर्थ लगाया जा सकता है वह भोज के समय (१०११) का एक भूमि-अनुदानपत्र है।[5] इसमें वत्सराज को, जो सम्भवतः किसी राज परिवार में उत्पन्न हुआ था, भोक्तारमहाराजपुत्र कहा गया है जो स्पष्टतः भोक्तमहाराज-

---

१ ए० इ० २, न० ८ श्लोक ६९।

२ वही।

३ ए० इ०, ११ न० ४ ३, पंक्तियां १ ३।

४ दशरथ शर्मा स० अ० पु० पृ० १९८। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि शायद वह कुछ क्षेत्रों का वंशानुगत शासक था (वही पा० टि० ३५)।

५ ए० इ० ३३, न० ३८।

पुत्र का अनुदान है।[1] पता चलता है कि इस मोहडवासक नाम की एक जागीर भी मिली हुई थी[2] जो तब से लगभग एक सौ गांव की निजी सम्पत्ति थी।[3] परवर्ती परमार अभिलेखों में पहले से बढ़कर अधिकतर गांवों की इकाइयों का उल्लेख उपलब्ध हुआ है। कम से कम चार इकाइयों का उल्लेख भी मिलता ही है। इनमें से चार बारह बारह या बारह के अनुपातवाली बयालीसवाली इकाइयों की और सबसे बड़ी इकाई में ८४ गांव शामिल थे। इन दो इकाइयों सोलह सोलह अथवा सोलह के अनुपातवाली बत्तीसवाली थीं।[4] अनुमान है कि ये इकाइयां नागदा गांव के चारों तरफ राजस्थान के प्राचीन स्वतंत्र राज्य के समान थीं और यह पद्धति निश्चित रूप से नागर परिवार के सदस्यों द्वारा शासन में और भूमि के बंटवारे का परिणाम थी।[5] ११वीं सदी के उत्तरार्ध के एक परमार अभिलेख में ८४ परमार गांवों के उल्लेख[1] से इस अनुमान की कुछ पुष्टि होती है। पास ही स्थित राजपूताना में चौरासी गांवों की जो इकाई देखने को मिलती है उससे प्रकट होता है कि यह नागर-परिवार के किसी सदस्य की जागीर थी। लेकिन यह कहना मुश्किल है कि प्रशासन की दृष्टि से सारे प्रान्तों को शासक वर्ग के सदस्यों के बीच बांटने की पद्धति परमार राज्य के अधिकांश हिस्से में प्रचलित थी अथवा नहीं। न यही सिद्ध किया जा सकता है कि राजवंश के लोगों को जागीरें दी जाती थीं व प्रशासनिक इकाइयां हुआ करती थीं अथवा जागीर पानेवालों की ऐसी निजी सम्पत्ति

---

१ वही १९३।

२ वही नं० ३८ पंक्तियां ५ ६।

३ वही १९ नं० ३६ दान ए, पंक्तियां ८ १४।

४ डी० सी० गांगुली हिस्ट्री ऑफ दि परमार डाइनेस्टी पृष्ठ २३६ ८। परमार भोज के १०१९ के एक दानपत्र में "भूमिगृहदशिमनहिरपाणक नाम की क्षेत्रीय इकाई का उल्लेख है। यह ५२ गांवों की इकाई का संकेत देता है किन्तु यह न १२ और न १६ में ही विभाज्य है। ए० इ० ३३, नं० ४२ पंक्तियां ५ ६।

५ बेडेन-पॉवेल, लैण्ड सिस्टम ऑफ इंडिया १ पृष्ठ, २२१, इंडियन विलेज कम्युनिटी, १९६ २०२, यू० एन० घोषाल दि हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृष्ठ २३९, पा० टि० २, ६५६।

६ ए० इ०, १९, नं० १०, पंक्तियां ८ १७। आर० डी० बनर्जी ने 'मान्यपट्ट' शब्द का अर्थ करमुक्त लगाया है।—वही, पृष्ठ ६४।

जो उन्हें बृहत्तर क्षेत्रों के प्रशासन की देख रेख करने के एवज में वेतन के रूप में मिलती थी। शायद दूसरा अनुमान अधिक ठीक है। परमार राजा द्वितीय सीयक के ६४९ के एक अनुदानपत्र में उसकी निजी सम्पत्ति के रूप में एक दूसरे विषय का उल्लेख हुआ है, जिसमें से उसने एक गांव अनुदान में दिया।[1] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि युवराज के रूप में उसे कुछ निजी जागीर प्राप्त हुई थी, यद्यपि अब राजा की हैसियत से वह अपनी निजी जायदाद में भी और राज्य की जमीन में से भी अनुदान दे सकता था। जो भी हो, उपलब्ध अभिलेखों से यह स्पष्ट नहीं होता कि चाहमानों के समान परमार राजवंश के सदस्य जागीर लेकर प्रशासन चलाते थे।

हम परमार राज्याधिकारियों के लगभग आधे दर्जन पदों की जानकारी है लेकिन उनमें से बहुत थोड़े से अधिकारियों का भूमि अनुदान देने की चर्चा है। इनमें से एक तो था महासाधनिक श्री महाइक, जिसका काम शायद अपराधियों को दण्डित करना और अपराधों की रोकथाम करना था। निश्चय ही इसे एक गांव अनुदान में मिला हुआ था, जो ६८० में उसकी पत्नी की प्रार्थना पर धार के वाक्पतिराज ने उज्जैन में भट्टेश्वरी देवी को पुनः दान कर दिया।[2] ग्यारहवीं सदी में ऐसा कोई अनुदान देने का उदाहरण नहीं मिलता। ११९० के एक अनुदान पत्र से जिसके अनुसार मण्डलेश्वर राजदेव ने दो और उसकी पत्नी ने एक भूमि अनुदान दिया[3] प्रकट होता है कि जिस गांव में से उन्होंने ये क्षेत्र दान किये उसका भोक्ता वह मण्डलेश्वर ही था,[4] और हो सकता है कि पत्नी का भी निर्वाह के लिए कुछ जमीन दी गई हो। इस अनुदानपत्र से स्पष्ट है कि मण्डलेश्वर को यह गांव परमार राजा ने दिया था, क्योंकि हम देखते हैं कि मण्डलेश्वर और उसकी पत्नी द्वारा दिये अनुदानों की सूचना सम्बन्धित अधिकारियों, ब्राह्मणों और पट्टकिलों को राजा ही देता है।[5] स्पष्ट है कि ग्रहीता मण्डलेश्वर

---

१ 'स्वभुज्यमानमोहडवासकविषयसम्बद्धकुम्भारोटकग्राम', ए० इ० १६, नं० ३६ दान ए पंक्तियां ८ १४।

२ इ० ए०, १४, १६०, पंक्तियां ६ १४।

३ ए० इ० २० नं० ११। यहाँ मैं इस दानपत्र के आर० डी० बनर्जी द्वारा लगाये गए अर्थ के बजाय एन० पी० चक्रवर्ती द्वारा लगाये गये अर्थ मानकर चला हूं।

४ वही, पंक्तियां ५ ६।

५ वही पंक्तियां ४ ७।

अपने पुराने दाता की अनुमति के बिना अपनी जागीर का कोई हिस्सा धार्मिक अनुदान के रूप में भी किसी को नहीं दे सकता था। धार सम्वत् १२६० ई० के एक ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि द्वितीय जयवर्मन ने अपने प्रतीहार (द्वारपाल) गंगदेव से तीन ब्राह्मणों को एक गांव अनुदान में दिलवाया।[1] इस अनुदान की धार्मिक विधियां स्वयं गंगदेव ने ही सम्पन्न कीं।[2] जिसका मतलब यह हुआ कि यह अनुदान वास्तव में उसी ने दिया। इससे प्रकट होता है कि यह गांव उसकी निजी जागीर में पड़ता था। यह अनुदान वह अपने स्वामी की अनुमति के बिना नहीं दे सकता था क्योंकि राजा ने इस पर अपने हस्ताक्षर करके इसे राज शासन के रूप में जारी किया।[3] यदि इस गांव का स्वामी स्वयं राजा होता तो अनुदान का धार्मिक अनुष्ठान भी स्वयं उसी ने सम्पन्न किया होता। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रतीहारों को सेवा वृत्ति के रूप में भूमि अनुदान दिए जाते थे। शायद परमारों के राज्य में अन्य राज्याधिकारियों को भी भूमि अनुदान दिये जाते थे किन्तु अभी तक इस सम्बन्ध में और अभिलेख नहीं मिले हैं।

परमार अभिलेखों में कतिपय अधीनस्थ सरदारों और सामन्तों का भी उल्लेख हुआ है। इनमें से कुछ को प्रशासन के लिए बड़े बड़े क्षेत्र दिए गए थे। इसका एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण सामन्त ([illegible]) नराधिप है। यह सामन्त कन्नौज के श्रवणभद्र के परिवार का था और इसे भोज या उसके पिता सिन्धुराज ने संगमखेट का मण्डलेश्वर नियुक्त किया था।[4] इस राजकृपा के बदले वह अपने प्रभु को सैनिक सहायता देता था।[5] हो सकता है कि यह सदा कर अथवा नियमित रूप से राजा को कुछ कर भी देता रहा हो लेकिन अभिलेखों में इस तरह का कोई जिक्र नहीं है। सैनिक सेवा के बदले सूरादित्य तथा उसका पुत्र और उत्तराधिकारी यशोराज दोनों शायद अपने मण्डल की सारी जमीन के सम्पूर्ण स्वामित्व का उपभोग करते थे क्योंकि हम देखते हैं कि भोज के शासन-काल में सन १०४७ में यशोराज ने अपने प्रभु की अनुमति लिए बिना एक शैव देवता घण्टेश्वर को एक पूरा गांव और एक अन्य गांव में

---

१ ए० इ० ६ नं० १३ की पंक्तियाँ २३ २७।

२ वही पंक्तियाँ २८ ३६।

३ वही पंक्तियाँ ३७ ४३।

४ ए० इ० १६ नं० ३६ दान ए, पंक्तियाँ ११ १२।

५ वही।

सौ एकड़ भूमि अनुदान में दी।[1] १०६१ और ११०० के बीच[2] नासिक में यशोवमन नामक एक सामन्त था जिसे भोज से आधा सल्लुक नगर प्राप्त हुआ था[3] और जो अपने इसी प्रभु की कृपा से प्राप्त १,५०० गाँवों का भी भोक्ता था।[4] निश्चय ही यशोवमन को इतना बड़ा अनुदान अपने प्रभु की बहुत ही महत्त्वपूर्ण सेवा करने के बदले मिला होगा। शायद उसने किसी ऐसे क्षेत्र को जीतने में परमार राज की सहायता की थी जो मालवा का हिस्सा नहीं था।[5] वह सम्पूर्ण मौद्रहादि विषय का मण्डलेश्वर था शायद इसलिए भोज ने उसकी प्रशासनिक सेवाओं के लिए उसे उक्त १५०० गाँव दिये थे। यशोवमन के अधीन उपसामन्तीकरण की प्रक्रिया में तेजी आयी। उसके विषय में गग परिवार का अ[म्म] राणक नामक एक सामन्त था जिसने एक जैन मन्दिर को अलग-अलग रकबों के चार क्षेत्र अनुदान में दिये।[6] इनमें से एक टुकड़ा तो उसे वक्कपराज नामक एक कुमार से और दूसरा कतिपय नगरवासियों से प्राप्त हुआ था। वक्कपराज को परमार राजकुमार समझा जा सकता है किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि इस सामन्त को अपने प्रत्यक्ष स्वामी यशोवमन् से कोई भूमि अनुदान प्राप्त हुआ था अथवा नहीं।

गुजरात के चौलुक्यों के राज्य में त्रिलोचनपाल के १०५१ के एक अनुदान-पत्र में नौ नौ सौ और बयालीस बयालीस गाँवों के एकाशों का उल्लेख मिलता है।[7] यह उदाहरण भी हमें विजेता परिवार के सदस्यों द्वारा पतक सम्पत्ति

---

१ प्रोसिडिंग्स ऑफ (लटर ऑल इंडिया) ओरियंटल कांग्रेस ९, ३२४ ६।

२ वही।

३ "श्रीभोजदेव प्रसादावाप्त नगर स[ल्लुकार्द्ध]।" वही, न० १०, पंक्ति ७।

४ 'सार्द्धसहस्रग्रामानाम भोक्तारो। —वही पंक्ति ८। डॉ० सी० गांगुली का विचार है कि सल्लुक एक मण्डल था (हिस्ट्री ऑफ दि परमार डाइनेस्टी, पृष्ठ २३६ पा० टि० १)। लेकिन ए० इ० १९, १० पंक्तियों ७ ८ को देखने से यह निष्कर्ष ठीक नहीं जान पड़ता।

५ सन ११६७ में गुहिल सरदार पर्यासिंह द्वारा भी सैनिक सेवा के बदले भूमिदान देने का उल्लेख मिलता है। ए० इ० २० न० ३७ श्लोक ३८ ५।

६ ए० इ० १४ न० १० पंक्तियाँ ८ ३१।

३ इ० ए०, १२, १९६, श्लोक ३२।

आपस में बाँट लेने की प्रथा का स्मरण कराता है। लेकिन ऐसा लगता है कि चाहमानों और परमारों की ही तरह चौलुक्यों में प्रधीर भी शासक-परिवार और उसके कुटुम्बियों के व्यक्तिगत निर्वाह के लिए कुछ कुछ क्षेत्र अलग कर दिये जाते थे। इस प्रकार १०६१ के एक अनुदानपत्र से ज्ञात होता है कि प्रथम भीम आनन्दपुर का भोक्ता था और आनन्दपुर के साथ ही १२६ गाँवों का एक एकांग भी संयुक्त था।[1] इस प्रकार यहाँ हम ४२ के अनुगामनपद गाँवों के एकांग का परिचय मिलता है। इस पर से ऐसा माना जा सकता है कि किसी समय शायद यह एकांग भी शासक परिवार के किसी सदस्य को स्वभाग के रूप में दिया गया होगा।

एक बात में चौलुक्य राजवंश अन्य समकालीन राजवंशों से भिन्न था। चौलुक्य राजाओं ने अपने सामन्तों और उच्च पदाधिकारियों को अनुदान-स्वरूप बहुत बड़े बड़े क्षेत्र प्रदान किये और धीरे धीरे इन पदाधिकारियों की स्थिति भी सामन्तों की तरह ही हो गयी। इस निष्कर्ष का एक आधार तो १०वीं १३वीं सदियों के चौलुक्य ताम्रपत्र हैं और दूसरा है लेखपद्धति नामक एक संकलन। लेखपद्धति का संकलन १५वीं शताब्दी में हुआ था और यह पुराने राजकीय दस्तावेजों के नमूने प्रस्तुत करती है। जिन प्राचीनतम दस्तावेजों में महामात्यों और राणकों द्वारा अनुदान देने का उल्लेख मिलता है उनका काल लेखपद्धति में ७४५ ईस्वी (वि० सं० ८०२) बताया गया है। इन दस्तावेजों के अनुसार महामात्यों और राणकों ने अपने अपने सामन्तों को बड़ी-बड़ी जागीरें दीं और बदले में उन सामन्तों ने अपने अपने प्रभुओं को एक निश्चित संख्या में घोड़े देने और अपनी अपनी जागीरों में शान्ति सुव्यवस्था कायम रखने का दायित्व अपने सिर लिया।[2] लेखपद्धति में अन्य बहुत से अनुदानपत्रों का काल भी ७४५ ईस्वी ही बताया गया है।[3] इस पर से तो यही निष्कर्ष निकलता है कि ८वीं सदी में गुजरात में सामन्तवाद की यह प्रवृत्ति खूब

---

१ ए० इ० १ न० ३६ पंक्तियाँ १४। चौलुक्य अनुदानपत्रों में स्वभुज्यमान शब्द का प्रयोग बार बार हुआ है। इसका मतलब ऐसा क्षेत्र लगाया जा सकता है जो राजा की निजी सम्पत्ति था। मूलराज के ९९५ के एक अभिलेख में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है (ए० इ०, १० न० १७ पंक्ति ३)।

२ पृष्ठ ७।

३ वही पृष्ठ २, ८, १० १५।

विकसित हो चुकी थी। किन्तु इस निष्कर्ष की पुष्टि किसी अन्य प्रमाण से नहीं हो सकती है। दूसरी ओर, ऐसा मानने का आधार मौजूद है कि जिस शासन-पत्र को लेखपद्धति में ७४१ ईस्वी का बताया गया है वह वास्तव में उससे ५०० वर्ष बाद की शैली में लिखा गया है। सो इस तरह कि इस शासनपत्र में एक राजा के लिए गजनिकाधिराज (महमूद गजनवी) विजेता[1] विशेषण का प्रयोग हुआ है और इस विशेषण का प्रयोग १२०६[2] और १२२३[3] के अभिलेखों में भी हुआ है। फिर भी लेखपद्धति में संकलित सबसे पुराने दस्तावेज का काल १२वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है क्योंकि इस दस्तावेज में दो ऐसे शब्द समुच्चयों का प्रयोग हुआ है जो इस काल के चौलुक्य अभिलेखों में विशेष रूप से पाये जाते हैं। इनमें से एक तो है 'सन्नियुक्तमहामात्य श्रीकरणादिसमस्तमुद्राव्यापारान परिपन्थयति सति' और दूसरा है नियुक्त दण्डनायक"।[4] इसलिए इस संकलन में जिन अनेक दस्तावेजों का वि० सं० १२८८ (१२३१ ईस्वी) बताया गया, वे इससे बहुत बाद के नहीं हो सकते। इनमें से एक दस्तावेज से महासामन्त लवणप्रसाद के जीवन और कार्यों पर काफी प्रकाश पड़ता है। सामन्त के रूप में इसका उल्लेख सबसे पहले अजयपाल के ११७३ के एक अभिलेख में मिलता है। उसे भल्लस्वामी महाद्वादशकमण्डल-स्थित उदयपुर का दण्डनायक नियुक्त किया गया, और वहाँ उसने ६४ गावों के एक पथक एकाश में शिव को एक गाँव दान किया।[5] लवणप्रसाद के अधिकार में चाहे जितना भी क्षेत्र रहा हो इतना तो स्पष्ट ही है कि वह राजा की अनुमति लिये बिना अपने क्षेत्र में भूमि अनुदान दे सकता था। इससे प्रकट होता है कि उसकी हैसियत सामन्त राजा के समान थी, और राजा के प्रति

---

१ ए० इ०, पृष्ठ २।

२ इ० ए० ६, १९८ पंक्तियाँ ११। यह विशेषण द्वितीय मूलराज के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसका राजत्व काल ११७५–८ है।

३ वही, पृष्ठ १९७ पंक्तियाँ १४–१५।

४ इ० ए०, १८, ३४८, पंक्तियाँ ५–६। अभिलेख के आरम्भ के कुछ अक्षर मिट गये हैं।

५ वही, ३४७, पंक्ति ६।

६ इ० ए० १८, ३४७ पंक्तियाँ ११। इस अभिलेख में प्रयुक्त 'लूण-पसाक' शब्द संस्कृत के लवणप्रसाद का ही जो लेखपद्धति के पाँचवें पृष्ठ पर आता है प्राकृत रूप है।

अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुए वह अपने राज्य में धाक जमा कर सकता था। लेखपद्धति में संकलित १२३१ के एक दस्तावेज से ज्ञात होता है कि भीम के शासन काल में वह महामण्डलाधिपति राणक था और उसे अपने प्रभु से जागीर (प्रसादपत्तला) के रूप में सटवाधार का पथक मिला हुआ था।[1] निस्सन्देह, इस जागीर के मिल जाने से उसकी शक्ति और प्रभाव में खूब वृद्धि हुई क्योंकि जहाँ ११७३ के उपर्युक्त अभिलेख के अनुसार वह अजयपाल द्वारा नियुक्त मात्र एक दण्डनायक (तन्नियुक्त दण्डनायक) था[2] वहाँ अब उसने लेटवाधार में खुद अपना दण्डनायक नियुक्त किया (तन्नियुक्तदण्डनायक श्री माधव)।[3] अजयपाल के शासनकाल में ११७५ में हम एक अन्य शक्तिशाली सामन्त का भी उल्लेख मिलता है। यह था चाहमान महामण्डलेश्वर वजल्लदेव जो राजा की कृपा से नर्मदा-तट के प्रदेश के शासन का उपभोग कर रहा था (अजयपालदेवप्रसादीकृते)।[4] इसने अपने मण्डल में अपने प्रभु की अनुमति लिए बिना एक गाँव दान किया।[5] इससे प्रकट होता है कि वजल्लदेव को अपने उपसामन्त बनाने का अधिकार प्राप्त था। यह स्पष्ट नहीं है कि उसने जिस पथक में यह अनुदान दिया वह उसे अजयपाल ने किसी पत्तला (लेखपद्धति के अनुसार पत्तला शब्द का अर्थ है वह अनुशासनपत्र जिसमें राजा कतिपय निर्धारित सेवाओं के बदले किसी को कोई जागीर दे) के रूप में दिया था अथवा नहीं। गुजरात में पत्तला का सबसे पुराना अभिलेखीय उदाहरण १२०६ में महामात्य प्रतीहार सोमराजदेव के नाम जारी किया गया वह अनुशासनपत्र है। जिसके अनुसार उसे भीमदेव से शायद समस्त सौराष्ट्र मण्डल जागीर के रूप में प्राप्त हुआ।[6] बहुत आगे चलकर १२६० में एक पत्तला का उल्लेख मिलता

---

१ प्रभोः प्रसादान्महामण्डलाधिपतिराणकश्रीलावण्यप्रसादेन प्रसादपत्तलायाम् भुज्यमानवटवाधारपथके तन्नियुक्तदण्डनायक श्रीमाधवप्रभृतिपञ्चकुल प्रतिपत्तौ ताम्रशासनम् लिख्यते यथा। ले० प०, पृष्ठ ४।

२ इ० ए० १८ ३४७, पंक्तियाँ १ ११।

३ लेखपद्धति, पृष्ठ ४।

४ इ० ए० १८, ८४ ८५ पंक्तियाँ ७ ८।

५ वही पंक्तियाँ ९ २१।

६ अस्मत्प्रभोः प्रसादावाप्तपत्तलायाम् भुज्यमानश्रीसौराष्ट्रमण्डल---।' इ० ए०, १८, ११३ पंक्तियाँ १६ २३। लेखपद्धति के पाँचवें पृष्ठ पर १२३१ के एक ताम्रशासन के नमूने में ठीक इन्हीं शब्दों का प्रयोग हुआ है।

है। इस पमला मे किसी महामण्डलेश्वर राणक को जागीर के रूप मे शायद एक पथक दिया गया।[1]

ऊपर दिए गए उदाहरणो से स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरी भारत विशेष कर उत्तर प्रदेश मध्य भारत राजस्थान और गुजरात के प्राय सभी राजवंशो के शासक अपने अपने सामन्तो और राज्याधिकारियो की सेवाओ के बदले उन्हे अनुदानस्वरूप गाँव दिया करते थे। बहुत से अनुदान पत्थरो या ताम्रपटो पर अंकित करवाये गए थे जिससे भूमि अनुदान देने के बढते हुए चलन का संकेत मिलता है और साथ ही राज्य के धर्मेतर अधिकारियो का बढता हुआ महत्त्व दिखाई पडता है, अब ये लोग शायद राजा से स्थायी स्वामित्वपत्र प्राप्त करने का आग्रह करते थे।

११वी और १२वी सदियो मे राज्याधिकारियो को वेतन देने का एक खास तरीका यह था कि नियमित करो का कुछ अंश अथवा कोई विशिष्ट कर उनके लिए अलग कर दिया जाता था। बघलखण्ड के कलचुरियो के अधीन छोटे छोटे अमलो को—जैसे पट्टकिलों (कर वसूल करने के लिए जिम्मेदार ग्राम प्रधानो) और दुष्टसाध्यो (अपराधियो को पकडने और दण्डित करने वाले पुलिस अधिकारियो) को—वेतन देने के लिए यही व्यवस्था थी। जयसिंह (११६३ ८८) द्वारा एक ब्राह्मण को दिये गए अनुदान से ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है, क्योंकि उसे जिन विभिन्न अधिकारो के साथ एक गाव दान किया गया उनमे पट्टकिला और दुष्टसाध्यो के लिए निर्धारित आदाय (कर) वसूल करने का अधिकार भी शामिल था।[2] पट्टकिल अपने राजकीय कर वसूल करने के अलावा अपने वेतन के लिए निश्चित कर वसूल करते थे। इस स्थिति मे कमजोर शासको के अधीन वे गाँव की जमीन पर किसी हद तक अपना नियन्त्रण रखते हो तो इसमे आश्चर्य नही। किन्तु दुष्टसाध्यो के सम्बन्ध मे ऐसा नही कहा जा सकता, क्योंकि उनका सरोकार तो केवल उतने ही कर से रहता था जितना उनके वेतन के लिए निर्धारित था। इन दो प्रकार के अधिकारियो के अतिरिक्त विशेणिको, वणयिको और अधपुरुषारिको को भी करो के रूप मे ही वेतन दिया जाता था।[3] वैसे इन तीनों प्रकार के अधिकारियो के कर्तव्य क्या क्या थे यह हमे ज्ञात नही है। गाँव की जमीन से

१ ए० इ०, १८ २१० पंक्तियाँ ८ १०।
२ कॉ० इ० इ०, ४, न० ६३, पंक्तियाँ १९ २५, परिशिष्ट ८।
३ वही।

इन अधिकारियो के चाहे जो सम्बन्ध रहे हो इसम कोई शक नहीं कि उनके वेतन के रूप म उनके लिए कुछ कर अलग कर दिए जाते थ । और ऐसा भी नही है कि वेतन देने की यह पद्धति केवल गाहडवालो म ही राज्य म प्रचलित रही हो । चन्देलो के अधीन छोटे छोटे अमला और गाहडवालो के अधीन तो बडे बडे अधिकारियो के भी निर्वाह के लिए कुछ विशिष्ट कर अलग कर दिए जाते थ ।

चन्देलो के राज्य म सरकारी अमला को गावो म कुछ अधिकार दिए जाते थ । यह चलन बारहवी सदी के उत्तरार्ध म परमर्दिन के समय से शुरू हुआ । उसके ११७२ और ११७८ के अनुदानपत्रो म सामन्तो राज्याधिकारियो वन अधिकारियो मठो आदि को अनुदान म दिए गावो म दस्तूर भत्ते के अधिकारो का त्याग करने का निर्देश दिया गया है ।[1] १२०८ म त्रैलोक्यवर्मन ने एक वंशानुगत ब्राह्मण राउत को एक अनुदान दिया जिसम सामन्तो और राज्याधिकारियो को उक्त अधिकारो का त्याग करने का आदेश दिया गया है ।[2] यह स्पष्ट नही है कि राजकीय अधिकारियो को ये दस्तूर भत्ते लेने का अधिकार (नकद अथवा भूमि अनुदानो के रूप म मिलने वाले) नियमित वेतन के साथ प्राप्त था या उनके वेतन के साधन केवल यही थे । किन्तु इसके परिणाम स्वरूप एक ऐसे बीच के वर्ग का उदय होना अनिवार्य था जिसके काश्तकारो की जमीन म कुछ निहित स्वार्थ कायम हो जाते थ । हम यह भी ज्ञात नही है कि जिन अधिकारियो से ये हक छिन जाते थे उनकी क्षतिपूर्ति अन्य प्रकार से की जाती थी या नही । फिर भी राजा द्वारा बीच बीच म ये अधिकार वापस ले लेने से जमीन पर इन सरकारी अमला का आधिपत्य कमजोर होता होगा । इसके अतिरिक्त काश्तकारो की उपज म बहुत से और लोगो का हक-हिस्सा होता था जिससे सरकारी अमला का अकेला प्रभाव नही जम सकता था ।

गाहडवालो के राज्य म अधिकारीगण राजस्व के कुछ निश्चित साधनो का उपभोग करते थ । अक्षपटलिक (लेखा और राजस्व अधिकारी) उपज के एक हिस्से का हकदार था । उसका हिस्सा सम्भवत प्रति घर एक प्रस्थ होता था ।

---

१ राजराजपुरपालविकचाटान्तिन स्व स्वभामाज्य परिहर्तव्यम ।—ए० इ० १६ न० २, पंक्तिया २८ २६ वही २० न० १४ प्लेट बी पंक्तिया ७१ २३ ।

२ का० इ० इ० २१ न० ११ पंक्ति १० ।

इस हिस्से के लिए कहीं अक्षपटलप्रस्थ[1] और कहीं अक्षपटलाय[2] शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी तरह प्रतीहार भी ग्रामवासियों की उपज के इतने ही हिस्से का अधिकारी था।[3] इनके अलावा विंशतिग्रहप्रस्थ[4] नाम के भी एक कर का उल्लेख मिलता है। अक्षपटलप्रस्थ और प्रतीहारप्रस्थ से इस शब्द का जो साम्य है उससे प्रकट होता है कि यह भी किसी अधिकारी को दिए जानेवाले अनाज के तौल का नाम था। मगर गाहड़वाल राज्याधिकारियों की जो छोटी सी सूची उपलब्ध है उसमें तो विंशतिग्रह जैसे किसी अधिकारी को ढूंढ पाना मुश्किल ही है। मदनपाल के एक ताम्रपत्र में ८४ गांवों के एक एकाग का उल्लेख हुआ है[5] और चूँकि २८ चौरासी का तीसरा हिस्सा है इसलिए यह अधिकारी सम्भवतः २८ गांवों के एकाग का राजस्व अधिकारी था। मगर निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। इस अधिकारी का दर्जा और काम चाहे जो रहा हो, यह स्पष्ट नहीं है कि प्रस्थ प्राप्त करनेवाले उक्त तीनों अधिकारियों के वेतन का जरिया केवल यह प्रस्थ ही था या उन्हें कुछ और भी मिलता था। यहां भी स्थिति वही है जो चन्देलों के राज्य में थी। चूँकि एक ही किसान को कई अधिकारियों को अपनी उपज में से कुछ कुछ हिस्से देने पड़ते थे इसलिए कोई भी उसकी जमीन पर अपना हक नहीं जता सकता था। इसके अतिरिक्त अधिकारियों को वृत्ति के रूप में अनाज का हिस्सा देने का कोई व्यापक चलन भी नहीं था क्योंकि ऊपर जिन तीन शब्दों की चर्चा हुई है उनका उल्लेख केवल महाराजपुत्र गोविन्दचन्द्र के ताम्रपत्रों में ही हुआ है।[6] अक्षपटलप्रस्थ, प्रतीहारप्रस्थ और विंशतिग्रहप्रस्थ इन तीनों शब्दों का प्रयोग ११०४ के बसाही ताम्रपट में हुआ है।[7] अकेला अक्षपटलप्रस्थ ११०९ के एक

१ इ० ए०, १८ १०३ पंक्ति १२।

२ ए० ए० १८, १७ पंक्ति २१।

३ इ० ए० १४ १०३, पंक्ति १२ ए० इ० २ न० २६।

४ इ० ए० १८ १०३ पंक्ति १२ मिलाइए ए० इ०, २ न० २६ पंक्तियाँ १५ १६ में।

५ जनल ऑफ यू० पी० हिस्टोरिकल सोसाइटी १८, ६६ और उत्तरवर्ती पृष्ठ पंक्तियाँ १० ११। नियोगी ने इसका सुधार कर पढ़ा है स० प्र० पु० परिशिष्ट बी न० ८ पृष्ठ २८७।

६ नियोगी, स० प्र० पु० पृष्ठ १६७।

७ इ० ए० १४ १०३ पंक्ति १२।

ताम्रपत्र में आता है और फिर ११०३ के एक ताम्रपट्ट में विंशतिपुरुष का प्रयोग हुआ है[1] जो शायद विंशतिपुरुषम्य का ही दूसरा रूप है। ऐसा जान पड़ता है कि १२वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में गाहड़वाल राजाधिराज इतने प्रबल हो गए थे कि वे इस प्रकार के दस्तूर को अपने एक अधिकार के रूप में बरतते थे।

चाहमानों के प्रदेश में यह प्रथा बहुत सीमित हो गई थी। कुछ बलाधिपों के लिए, जो एक प्रकार के सैनिक अधिकारी थे, सीमा पर एक विशेष कर लगाया। ११६ में एक ताम्रपट्ट में चौलुक्य राजा कुमारपाल के सामन्त ने एक गाँव का बलाधिपप्राभाव्य एक मन्दिर को, कुछ मन्दिरों[3] और दूसरे को दूसरे को।[4] इस कर को चुंगी कर अथवा मण्डपिका में होनेवाली सरकारी आय का एक हिस्सा माना गया है क्योंकि बलाधिप मण्डपिका से सम्बन्धित अधिकारी था।[5] किन्तु इन दोनों उदाहरणों में यह शुल्क ग्रामवासियों पर भी लगाया गया है इसलिए ऐसा जान पड़ता है कि यह किसानों से ही लिया जानेवाला एक कर था और यह अपपट्टकप्रभ्य और अनौदारप्रस्थ की कोटि का ही था। सैनिक अधिकारियों में सेनापति के बाद बलाधिप का ही दर्जा आता है किन्तु हमें कोई ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिससे यह तय कर सकें कि इसके वेतन का एकमात्र साधन बलाधिपप्राभाव्य ही था अथवा यह उसके वेतन का एक अंशमात्र था।

विभिन्न राज्याधिकारियों के निमित्त प्रजा से विशिष्ट कर लेने के चलन का प्रारम्भ और विकास हमारे विषय के अध्ययन में काफी महत्व रखता है। इस बात की शुरुआत ईसवी सन की प्रारम्भिक सदियों में हुई[6], जब कि ग्रामीण क्षेत्रों में अपराधों की रोक थाम के लिए समय समय पर जानेवाले चाटों और भटों (पुलिस अधिकारियों और सैनिकों) के रहने खाने की व्यवस्था ग्रामवासियों को करनी पड़ती थी। इसी चीज ने कालक्रम से पट्टकिलों, दुष्ट साध्यों, अरपटलों, प्रतीहारों, बलाधिपों तथा अन्य राजपुरुषों के निमित्त विशेष रूप से वसूल किये जानेवाले शुल्कों का रूप ले लिया। वाकाटकों, पल्लवों

---

१ वही १८ १८ ६ पंक्तियाँ २० ८।
२ ए० इ० २ न० २६ १, पंक्तियाँ १५ १६।
श्रला चाहमान न्यूजियम पृष्ठ १८७ प्लेट २, पंक्तियाँ ९ ११।
४ वही पंक्तियाँ १३ १४।
५ वही पृष्ठ २९७, पा० टि० ८५।

और कदम्बो के अनुदानपत्रो से ज्ञात होता है कि दौरो पर जानेवाले अधिकारियो के खाने रहने की व्यवस्था करने के लिए ग्रामवासियो को साधन जुटाना पडता था।[१] इस उद्देश्य से उन पर वसति दण्ड नामक एक छोटा सा कर भी लगाया जाता था, जो शायद जिन्सो मे वसूल किया जाता था।[२] छठी शताब्दी मे मध्य प्रदेश के कुछ हिस्सो मे राज्याधिकारियो के भोजन की व्यवस्था करने के लिए ग्रामवासियो को जेमक कर भर नामक एक कर भी देना पड़ता था।[३] लेकिन प्रारम्भिक अनुदानपत्रो मे राजपुरुषो के वेतन भत्ते के रूप मे किसी नियमित शुल्क का उल्लेख नही हुआ है। जिस एकमात्र कर को इस कोटि मे रखा जा सकता है वह है मध्य भारत म प्राप्त कतिपय गुप्तकालीन अनुदानपत्रो म उल्लिखित राजामात्य अर्थात राजपरिवार के सदस्यो के खर्च के लिए लिया जानेवाला शुल्क।[४] परवर्ती काल मे पालो के अधीन राजपरिवार के खाने खर्चे के लिए राजामात्य राजकुलीय राजकुलामात्य या राजकुलप्रत्येय नाम का कर वसूल किया जाता था। दसवी सदी के बाद से ऐसे कर आम तौर पर नही ही देखने को मिलते क्योकि अब तो राजपरिवार के कुमारो, रानियो आदि को अपने अपने निर्वाह के लिए जागीरें दी जाने लगी थीं। किन्तु शायद सभी राजपुरुष इस पद्धति के अन्तर्गत नही आते थे और उनमे से कुछ के निर्वाह के लिए कुछ विशेष कर अलग कर दिये जाते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो चीज छोटे छोटे सरकारी अमलो को यदा कदा दिये जानेवाले अंशदान और राजपरिवार को शायद नियमित रूप से दिये जानेवाले कर के रूप मे आरम्भ हुई उसी ने अब कलचुरियो चन्देलो, गाहडवालो तथा चाहमानो के अधीन कतिपय अधिकारियो के निर्वाह के लिए निर्धारित नियमित शुल्कों का रूप ले लिया था। महाराष्ट्र के शिलाहारो के राज्य मे भी वेतन देने की इस प्रथा का चलन था। वहा नालगावुण्ड नामक एक वशानुगत पद के अधिकारियो को वतन स्वर्ण के रूप म नही दिया जाता था बल्कि उनके कार्यकाल तक के लिए उनके निमित्त कुछ कर अलग कर दिये जाते थे।[५] तात्पर्य

---

१ कॉ० इ० इ० ४ १५६ पा० टि० २।
२ वही।
३ वही न० १२०, पक्तिया १८ २०।
४ का० इ० इ० ३ न० २६ पक्तियाँ ११ १२ न० २७, पक्ति १३, न० २८ पक्ति २०।
५ ए० इ० २७ १७६ और पा० टि० १।

यह कि अधिकारियों को पारिश्रमिक देने के लिए राजस्व की कुछ मात्रा का
अलग कर देने की प्रथा इसी काम की एक विशिष्ट देन थी।
यद्यपि सामन्तों और राज्याधिकारियों दोनों को जागीरें तथा का पुरस्कार
भूमि अनुदानों के रूप में दिया जाता था किन्तु दानों में कुछ प्रकार का अन्तर
थ। पुरोहित ज्योतिषी सान्धिविग्रहिक सचिव प्रनागार महासाधनिक
महामात्य आदि असैनिक तथा सैनिक अधिकारियों का प्रयोग उनके निर्णय
निर्धारित कर्तव्यों के निर्वाह का अवेक्षा करने लिए जाते थे और इन कर्तव्यों
का सम्बन्ध उन अधिकारियों के अपने अपने पदों से हुआ करता था। चाहमान
और परमार राजवंशों के सदस्यों को प्रशासन के लिए जो दो न गाँव जाते थे
उन क्षेत्रों में उन्हें कार्यपालिका तथा न्यायपालिका-सम्बन्धी उपाधियों के निर्वाह
के साथ साथ सैनिक कर्तव्य भी पूरे करने पड़ते थे और इन सेवाओं के बदले
उन्हें जागीरें दी जाती थीं जिनमें से प्रत्येक में कई कई गाँव शामिल हुआ करते
थे। इसी प्रकार के मिले जुले कर्तव्य शायद बहुत से ऐसे सामन्तों को भी निभाने
पड़ते थे जिनका राजा से कोई रक्त सम्बन्ध नहीं होता था। वैसे तो अभिलेखों
में सामन्तों की अनेक श्रेणियों का उल्लेख हुआ है—जैसे राजा, राजराजनक
राणक राजपुत्र ठक्कुर सामन्त महासामन्त, महासामन्ताधिपति महासामन्त
राणक, सामन्तक राजा भोक्ता भोगिक भोगिजन, भोगपतिक बृहद्भोगिक[1]
आदि लेकिन उपलब्ध अभिलेखों में केवल पाँच ही कोटि के सामन्तों को भूमि
अनुदान देने का जिक्र हुआ है। वे हैं—सामन्त महासामन्त राणक राजपुत्र
और माण्डलिक। यह कहना मुश्किल है कि इनमें से प्रत्येक कोटि के सामन्त
को प्रशासनार्थ कितना बड़ा क्षेत्र दिया जाता था। शुक्रनीतिसार में, जिसमें
११वीं १२वीं सदियों के अभिलेखों में प्रयुक्त कतिपय शब्दों का उल्लेख हुआ
है सामन्त की परिभाषा करते हुए ऐसा बताया गया है कि यह १०० गाँवों का
शासक होता है और इस पूरे क्षेत्र से प्रति वर्ष १३ ००,००० कर्ष राजस्व
प्राप्त होता है।[2] उसी सूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि माण्डलिक की वार्षिक
आय ३ ००,००० से लेकर १० ०० ००० कर्ष तक होती थी।[3] इन बातों

---

१ इनमें से कुछ का उल्लेख राधाकृष्ण चौधरी ने ज० इ० हि० (२७
३८९) में लिखे एक निबंध में किया है।
२ अनु० बी० के० सरकार १ ३६५ ७ ३८१ २। हाल में एल गोपाल ने
दिखाया है कि इसका संकलन १९वीं सदी के पूर्वार्ध में किया गया (बी०
एस० ओ० ए० एस० २५ भाग ३ १९६२)।
३ वही १ ३६८ ७४।

से सामंतों के तुलनात्मक दर्जों का कुछ अंदाजा तो मिल सकता है, किन्तु इसे अक्षरशः स्वीकार नहीं किया जा सकता। इन सामंतों को चाहे जितने बड़े क्षेत्र दिये जाते हों, कुछ राणक और मण्डलेश्वर को जो क्षेत्र सौंपे जाते थे उनके वे प्रायः पूर्ण स्वामी हुआ करते थे, यद्यपि हम जानते हैं कि वे अपने अपने प्रभुओं की अनुमति के बिना ही धार्मिक अनुदान किया करते थे। उनके विपरीत राज्याधिकारियों को—यहाँ तक कि प्रान्तीय शासकों को भी—उसे अनुदान देने के लिए अपने प्रभु की अनुमति लेनी पड़ती थी। इसके अलावा बहुत से सामंतों का अपने प्रभु से रक्त सम्बन्ध हुआ करता था किन्तु राज्याधिकारियों का राजा से आम तौर पर ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं होता था और सभी सामंतों का राजा से ऐसा सम्बन्ध रहता हो, सो भी नहीं है। पालों ने कइयों को भूमि अनुदान दिये यद्यपि उनसे पालों का कोई रक्त सम्बन्ध नहीं था। इसी प्रकार ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता है जिससे उड़ीसा में सामंतों का और गुजरात में राणकों का राजा से इस तरह का कोई सम्बन्ध सिद्ध हो सके। देश के अन्य हिस्सों में भूमि अनुदान पानेवाले अधिकांश सरकारी अमले ऐसे थे जो शासकों के सम्बन्धी नहीं थे। राजस्थान और गुजरात में राजपूत शासन व्यवस्था का यह एक खास खूबी थी। अभिलेखों से प्रकट होता है कि भारत में भूमि अनुदान प्रारम्भ में पुरोहितों को दिये जाते थे और आगे चल कर ही ब्राह्मणों, कायस्थों तथा राजवंश से रक्त सम्बन्ध न रखनेवाले क्षत्रिय राज्याधिकारियों और सामंतों आदि गृहस्थ भोक्ताओं को अनुदान दिये जाने लगे। तात्पर्य यह कि अनुदान रक्त सम्बन्ध के कारण ही नहीं दिये जाते थे। उनका मुख्य कारण यही होता था कि दाता को ग्रहीता की सेवाओं की आवश्यकता रहती थी।

इस काल में उत्तरी भारत में सामंत और प्रभु का सम्बन्ध अंशतः वैसा ही था जैसा कि उनका सम्बन्ध फ्रांस तथा जर्मनी में था। इन दोनों देशों में सामंत का मुख्य दायित्व अपने प्रभु की सैनिक सेवा करना था।[1] इसी प्रकार भारत के साहित्यिक तथा पुरातत्त्वीय साक्ष्यों से यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है कि यहाँ के सामंत का भी सबसे महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य अपने प्रभु की सैनिक सहायता करना ही था। धनपाल कृत तिलकमंजरी में अनेक ऐसे

१ इंगलैंड में उन्हें राज काज में अपने प्रभु को परामर्श भी देना पड़ता और साथ ही न्याय प्रशासन में भी हाथ बटाना पड़ता। भारत में सामंतों को कोई ऐसा कर्त्तव्य नहीं निभाना पड़ता था।

अनन्तवर्मा को स्नेह में एक द्वार में बाद में पड़ा रह जाता कि रावतों को सैनिक सेवा के बदले ही भूमि अनुदान दिए जाते थे। गाहड़वाल नृपति जयच्चन्द्र के अधीन क्षत्रिय रावत माणरमन को सादर सैनिक सेवा के पुरस्कार स्वरूप ही भूमि अनुदान दिए गए थे। ऐसा ज्ञात पड़ता है कि रावत तथा सामन्तों के जिनका मुख्य कर्तव्य राजा को सैनिक सेवा करना था, और सैनिकवृत्ति के अनुसार राजपुत्रों का भी स्थान महत्त्वपूर्ण स्थापित नहीं था। सैनिक सामन्तों का एक एक ही वर्ग पूर्वी भागों के अधीन भी था। ये नायक कहे जाते थे और इनमें कुछ अन्य लोग भी शामिल थे। इन राजाओं ने इन्हें अनेक भूमि अनुदान दिये। शुक्रनीतिसार में नायक को दस गाँवों के प्रशासनार्थ नियुक्त अधिकारी बताया गया है किन्तु अभिलेखों से ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि उनके अधीन कितना बड़ा क्षेत्र होता था। एक और भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कुछ परिवार तो एक के बाद एक तीन-तीन पीढ़ियों तक नायक और विषयपति रावत के पदों का उपभोग करते थे। परिणामस्वरूप धीरे धीरे एक वंशानुगत सैनिक वर्ग उत्पन्न हो गया जिसकी जीविका का साधन उनके सदस्यों को दी गई जागीरें थीं।[1] यह विशेषता जो पूर्ववर्ती काल में देखने को नहीं मिलती यूरोप में वंशानुगत सैनिक परिवारों का स्मरण कराती है।

अभिलेखों का देखने से प्रकट होता है कि इस काल में सामन्त लोग राजनीति और प्रशासन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। अनिवार्य उत्तराधिकार सम्बन्धी विवादों में उनका हस्तक्षेप निर्णायक सिद्ध होता था। इससे पहले के काल में हम गांगेय का मामला तो जानते हैं ही। और अब उत्तराधिकार का निर्णय सामन्त लोग ही करते पाए जाते हैं। यहाँ हम प्रमाण में शालस्तम्भ उड़ीसा में सोमवंशी नरेशों और राजस्थान में चाहमानों के दृष्टान्त ले सकते हैं। जब द्वितीय पृथ्वीराज पुत्रविहीन ही चल बसा तो उसके मन्त्रियों ने, जो सामन्तों से भिन्न नहीं थे, गुजरात से सोमेश्वर को लाकर अजमेर के सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया। उसकी मृत्यु के बाद विधवा रानी कर्पूरदेवी को उन्होंने उसके अल्पवयस्क पुत्र तृतीय पृथ्वीराज की संरक्षिका के पद प्रतिष्ठित किया।[2] इसी प्रकार कश्मीर में राजा का चुनाव करने के लिए तन्त्रियों और

१ जर्नल ऑफ द आन्ध्र हिस्टॉरिकल सोसाइटी (२८, ३०-३६) में लिखे 'फ्यूडल कम्पोजिशन ऑफ दि आर्मी इन अर्ली मिडिएवल इंडिया' शीर्षक निबन्ध में डा० श्रीमती के० के० गोपाल ने इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है।

२ दशरथ शर्मा स० प्र० पु० पृष्ठ १९९।

एकाग्रा के साथ सन्दर्भ सदा सामन्तों को भी आमन्त्रित किया जाता था।[1]

१२वीं और १३वीं शताब्दियों में कुछ क्षेत्रों में राजा की भूमि अनुदान देने की सत्ता उतनी अक्षुण्ण नहीं रह गई थी जितनी कि पूर्ववर्ती काल में थी। चौलुक्य राज्य में महामात्य का बड़ा दबदबा था। वह एक प्रकार का सामन्ती मन्त्री ही था। चौलुक्य राजाओं को अनुदानपत्र जारी करने के लिए इन महामात्यों की सहमति प्राप्त करनी पड़ती थी। यह प्रथा हमें पूर्ववर्ती काल में कहीं नहीं देखने को मिलती। इस प्रथा के कारण राजकीय दाताओं के हाथ बंध गये हों, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता किन्तु उन्हें भूमि अनुदान के सम्बन्ध में महामात्यों से पूरा परामर्श तो करना ही पड़ता था।

पूर्ववर्ती अनुदानपत्रों में सिर्फ उन्हीं अधिकारियों का उल्लेख मिलता है जो इन अनुदानों का दस्तावेज तैयार करवा कर इन्हें कार्यान्वित करते थे। इनमें सांधिविग्रहिक तथा दूतक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये अधिकारी अनुदानपत्रों का अनुमोदन नहीं करते थे। लेकिन हम जिस काल पर विचार कर रहे हैं उस काल के—विशेष रूप से १२वीं तथा १३वीं सदियों के—कुछ अनुदानपत्रों में उनकी सहमति का भी उल्लेख है। परमार राज द्वितीय जयवर्मन के एक अनुदानपत्र में (१२६०-६१ ई०) उस राजा द्वारा कुछ ब्राह्मणों को दिये एक ग्राम अनुदान का सांधिविग्रहिक पण्डित मालाधर ने अनुमोदन किया है।[2] भूमि अनुदानों के मामलों में सामन्तों और राज्याधिकारियों के बढ़ते हुए महत्त्व का आभास कतिपय सेन अनुदानपत्रों से भी मिलता है। पूर्ववर्ती सेन अनुदानपत्रों में केवल दो अनुदानों की पुष्टि किये जाने के दृष्टान्त मिलते हैं। इनमें से एक की पुष्टि स्वयं राजा ने की और दूसरे की सांधिविग्रहिक ने। लेकिन लक्ष्मणसेन के राजत्व काल के २५वें और २७वें वर्षों के अनुदानपत्रों से उच्चाधिकारियों के बढ़ते हुए प्रभुत्व का संकेत मिलता है। इन अधिकारियों में से अधिकांश सामन्ती ढंग के थे और अनुदानों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए इनकी सहमति और अनुमोदन आवश्यक समझा जाता था। एक अनुदानपत्र में तो पांच राजपुरुषों के अनुमोदन का उल्लेख है जिनमें से एक शायद स्वयं राजा था।[3]

---

१ राजतरंगिणी, ५ २५०।

२ ए० इ०, ६ ११६।

३ ज० रा० ए० सा० बि० शृंखला ३ ८ ३४-३५। अनुमोदन करनेवाले ५ राजपुरुष हैं। (१) श्री नि (२) महासम नि (३) श्रीमदराज नि (४) श्री मल्लाकर नि और (५) श्री मन साहममाल्ल नि।

यद्यपि राजनीति और प्रशासन मे सामन्तो का बडा प्रभाव था, किन्तु वे कभी भी इंग्लैंड के सामन्तो की तरह अपना कोई सगठन या समिति नही बना पाये। अभिलेखो और साहित्यिक कृतियो मे साम न्तचक्र शब्द का बहुधा प्रयोग हुआ है। पर इससे किसी सगठित सस्था का भान नही होता है। शायद इसका प्रयोग चक्रवर्ती के समान होता था।[१] सामन्तो का कदाचित कोई दरबार होता होगा जिसका प्रमुख उन सब का प्रभु था। लेकिन इसे हम विभिन्न विषयो पर विचार करनेवाली ऐसी कोई सभा नही मान सकते जिसके माध्यम से सामन्त लोग अपना अपना विचार पेश करते हो या अपनी अपनी बात कहते हो। अधिक से अधिक इसे मुस्लिम शासन काल के दरबारों की कोटि मे ही रखा जा सकता है। यह मध्यकालीन इंग्लैंड की उस सामन्ती सस्था के समान नही था जो पार्लियामेंट की जननी साबित हुई। सम्भव है सामन्तगण अपने अपने क्षेत्रो मे न्याय प्रशासन शासन-व्यवस्था और विधि निर्माण का काम अलग अलग करते रहे हो लेकिन उन्होंने एक सस्था के रूप मे सयुक्त रूप से ऐसा कभी नही किया। फिर भी सामन्तो को एक वशानुगत सामाजिक वर्ग के रूप मे स्वीकार कर लिया गया था। इसका प्रमाण हमे वाक्पतिराज सूरि के लिए प्रयुक्त सामन्तजन्म विशेषण के रूप मे मिलता है। ऐसा कहा जाता है कि यद्यपि वह जन्म से सामन्त था किन्तु उसने प्रमुख कवियो मे सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया था।[२]

इस काल मे राज्याधिकारियो के सामन्ती बाने मे ढलने की सामान्य प्रवृत्ति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई। अधिकारियो को वेतनस्वरूप भूमि-अनुदान तो दिये जाते ही थे, साथ ही उन्हे बडी बडी उपाधियाँ भी दी जाती थी। इन उपाधियो का उनके कार्यों से कोई सम्बन्ध नही होता था। ये मात्र उनके दर्जे का बोध करानेवाली होती थी। यह प्रवृत्ति हम सबसे अधिक बगाल और बिहार मे देखते हैं। उदाहरण के लिए पालो का एक साधारण सा सामन्त महामाण्डलिक ईश्वरघोष अपने एक अनुदानपत्र मे चार दर्जन से अधिक अधिकारियो को सम्बोधित करता है और इन अधिकारियो मे से १३ के

१ उदयसुन्दरिकथा पृष्ठ २७।

२ सामन्तजन्मापि कविवराणाम महत्तमो वाक्पतिराजसूरि। वही, पृष्ठ १५४।

पदनामों के साथ महा उपसर्ग जुड़ा हुआ है।[1] इसी प्रकार दक्षिणी मुंगेर का एक अन्य महामाण्डलिक संग्रामगुप्त अपने अनुदान की सूचना बहुत से राज्याधिकारियों और राजपुरुषों को देता है और इनमें १८ के पदनामों के साथ महा उपसर्ग संयुक्त है।[2]

पाल, सेन तथा बंगाल और बिहार के अन्य राजवंशों के अनुदानपत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि महा उपसर्ग से युक्त पदनामों वाले राज्याधिकारियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। प्रारम्भ में धर्मपाल और देवपाल के अधीन ऐसे चार पाँच अधिकारियों का उल्लेख हुआ है, इसके आगे चल कर नारायणपाल, वल्लालसेन और लक्ष्मणसेन के अधीन नौ का उल्लेख हुआ है, फिर ईश्वरघोष के अधीन सत्रह का और अन्त में संग्रामगुप्त के काल में, जब राज्याधिकारियों का सामंतीकरण चरमसीमा पर पहुंच चुका था, ऐसे अट्ठारह अधिकारियों के नाम आये हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि जिस प्रभु की शक्ति जितनी कम थी उसके राज्य में महा उपसर्गधारी राजपुरुषों की संख्या उतनी ही अधिक थी और इसी प्रकार जैसे जैसे समय बीतता गया वैसे वैसे ऐसे अधिकारियों की संख्या बढ़ती गई।

विचित्र बात यह है कि भारत के दूसरे हिस्सों के सामंतों में बड़ी-बड़ी उपाधियों के प्रति ऐसा मोह देखने को नहीं मिलता। इसका एकमात्र अपवाद कलचुरि राज्य है जहाँ चौदह ऐसे अधिकारियों का उल्लेख हुआ है जिनके पदनामों के साथ महा उपसर्ग जुड़ा हुआ है।[3] लेकिन राणक और ठक्कुर ये दो सामंती उपाधियाँ उत्तर भारत में खूब प्रचलित हुईं और विभिन्न जातियों तथा श्रेणियों के अधिकारियों के लिए इनका अन्धाधुन्ध प्रयोग किया गया है। इसके सबसे अच्छे उदाहरण कायस्थ लिपिक हैं, जिन्हें ये उपाधियाँ उनके कर्तव्यों को ध्यान में रख कर नहीं बल्कि सामंती और सामाजिक पद को दृष्टि में रख कर दी गई थीं। ऐसा लगता है कि अधिकारियों को उनके

१ ये अधिकारी थे : महासान्धिविग्रहिक, महाप्रतीहार, महाकरणाध्यक्ष, महापादमूलिक, महाभोगपति, महातन्त्राधिकृत, महाव्यूहपति, महादण्डनायक, महाकायस्थ, महाबलकोष्ठिक, महाबलाधिकरणिक, महासामन्त, महाकटुक। ए० इ० ३, १५६-७, पंक्तियाँ १०-२१।

२ ज० बि० ओ० रि० सो० ५, ५९३-४, पंक्तियाँ ६-८।

३ का० इ० इ०, ४, नं० ४८, पंक्तियाँ ३२—३५। इस सूची में महादेवी और महाराजपुत्र भी शामिल हैं।

अपने अपने राजनीतिक दर्जे और महत्त्व के अनुसार विभिन्न सामंती श्रेणियां प्रदान की जाती थीं।

भूमि अनुदान पहले पहल पुरोहितों और मंदिरों को दिए गए और मध्य-काल के प्रारम्भ में अधिकांश अनुदान इन्हीं को मिलते रहे। इसलिए स्वभावतः राज्याधिकारियों और सामंतों को दिए गए अधिकांश अनुदानों में भी धार्मिक विधि विधानों का निर्वाह किया गया है—यहां तक कि शापात्मक श्लोकों को भी दोहराया गया है। सैनिक व गैरसैनिक पदों पर प्रतिष्ठित ब्राह्मणों को अनुदान देने में तो धार्मिक अनुदानों के मसौदे का उपयोग मजे में किया जा सकता था क्योंकि अपनी वंशानुगत धार्मिक स्थिति के कारण वे अपनी निजी हैसियत से भी दान पाने के हकदार थे। लेकिन अब्राह्मण सामंतों और अधिकारियों को दिए गए अनुदानों में प्रचलित मसौदे का उपयोग इसलिए किया जाता था क्योंकि दूसरे ढंग का मसौदा अभी तक नहीं बन पाया था। धीरे-धीरे धर्मेतर अनुदानों के लिए भी एक मसौदा चल पड़ा जिस पर से धार्मिक प्रभाव घटता गया। उदाहरण के लिए उड़ीसा में एक कायस्थ मंत्री को ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों के आस पास दिए एक अनुदान में इसकी चर्चा नहीं है कि अनुदान की अवधि सूर्य चन्द्र के अस्तित्व पर्यन्त हो,[1] हालांकि अनुदान से दाता को होने वाले पुण्य लाभ का उल्लेख है। चंदेल राजाओं द्वारा राउतों को दिए गए अनुदानों में भी हम ऐसा ही देखते हैं।[2] एक वंशानुगत ब्राह्मण राउत को दिए गए अनुदान में तो स्थायी स्वामित्व प्रदान करनेवाली धारा भी छोड़ दी गई है।[3] किंतु ११११ के एक शिलाहार अनुदानपत्र में यह धारा बरकरार रखी गई है। इसमें गण्डरादित्य ने अपने सामन्त नोलम्ब को दो गांव इस शर्त के साथ अनुदान में दिए कि वह और उसके वंशज सूर्य चन्द्र के अस्तित्व पर्यन्त उनका उपभोग करें।[4] अलबत्ता इस अनुदान के फल-स्वरूप होनेवाले किसी पुण्य लाभ का उल्लेख नहीं किया गया है। इस सबके बावजूद वास्तविकता यही है कि अभिलेखों में ऐसा कोई अनुदानपत्र देखने को नहीं मिलता जो पूर्ण रूप से धर्मेतर शब्दावली में तैयार किया गया हो। विशुद्ध

---

१ ए० इ०, २६ नं० २६।

२ वही १६, नं० २०, २० नं० १ सी।

३ ए० इ० ३१, नं० ११। यह एक वंशानुगत सैनिक परिवार था, जो चार पीढ़ियों तक इस दर्जे का उपभोग करता रहा।

४ ए० इ०, २६, नं० ३२ पंक्तियां ३८ ६१।

धर्मेतर शब्दावली म तयार किय गय अनुदानपत्रो की सक्षिप्त चर्चा गुप्त कालीन स्मतियो म मिलती है। आग चलकर लेखपद्धति म एस अनुदानपत्रो क विषय म विस्तार स लिखा गया है। इस पुस्तक म राजाओ महामात्यो और राणको द्वारा जारी किय जाने वाले अनुदानपत्रो क नमूना म धार्मिक अनुदानपत्रोवाली श दावली का स्थान नही दिया गया है। इन अनुदानपत्रो (पत्तलाओ) की कोई पुरालखीय प्रतिलिपि अब तक नही मिली है यद्यपि यह निश्चित है कि चौलुक्य शासको ने ऐस अनुदान दिय। पत्तला श द की व्युत्पत्ति अज्ञात है। कि तु यदि इसे हि दी श द पत्तन (गुजराती पातल) का प्रारम्भिक रूप माना जा सके तो इसका मतलब होगा भोजन अथवा भरण पोषण का साधन। १३वी शताब्दी क प हले अनुदानपत्रो म प्रमाद्ेन प्रदत्त श द का प्रयोग हुआ है।[1] इन श दो का अथ हुआ राजा की कृपा से प्रदान किया हुआ। पश्चिमी भारत म १२वी और १३वी शताब्दियो म जारी किय गये अनुदानपत्रो म प्रभुप्रसादावाप्त—प्रधान प्रभु की कृपा स प्राप्त—श द समुच्चय का प्रयोग हुआ है।[2] मन्दिरो तथा पुरोहितो को दिय गये अनुदानपत्रो म एसी श दावली का प्रयोग साधारणत नही हुआ है और इसस यह सकेत मिलता है कि कानूनी दृष्टि स देखें तो ग्रहीता को अनुदान उसकी सवाओ या योग्यता क कारण नही बल्कि उसक प्रभु की कृपा से ही मिलता था। विचित्र बात यह है कि किसी भी धर्मेतर अनुदानपत्र म ग्रहीता के दायित्वो का वणन नही किया गया है। इनका वणन केवल लेखपद्धति म ही हुआ है। इसलिए पूरे देश के लिए कोई एक वधानिक प्रतिमान नही था जिसस कि दोनो पक्ष कोई विवाद उठन या किसी एक के द्वारा दोनो के बीच हुए करार के तोड जान पर उसका सहारा लत।

नीति उपदेश से सम्ब धित कृतियो म आम तौर पर न सामन्तो के दायित्व निर्धारित किय गये है और न उनके प्रभुओ के। वास्तविकता यह है कि उन दिनो राजनीतिक अनुभवो को सिद्धा तबद्ध किया ही नही गया। जिस एकमात्र सद्धान्तिक कृति म सामन्तो के कर्त्तव्यो का निर्धारण किया गया प्रतीत होता है वह है अग्नि पुराण। यह शायद १०वी ११वी शताब्दी की रचना है। इसम इस सम्ब ध म जो कुछ कहा गया है उसका आधार मुख्यत कामन्दक नीतिसार है जो शायद आठवी सदी म लिखी गई थी। इस कृति म सामन्तो को परामश

---

१ ए० इ० १६ न० २० पक्ति ११ ३० न० १८ सी पक्ति १४।

२ वही १८ न० १० पक्ति १७। इसका एक दूसरा रूप प्रमादीकृत' इ० ए० १८ ८४ ८५ पक्ति ८ म मिलता है।

किया गया है कि वे जन भावना का ध्यान रखें, युद्ध में अपने प्रभुओं की सहायता करें, उनके मित्रों तथा सहायकों को प्रभु की सहायता के लिए प्रेरित करें और शत्रु मित्र में भेद करें। आगे चल कर उन्हें जनत्राण का सुरक्षा-दुर्ग बनने को कहा गया है।[1] दूसरी ओर राजा को अपने सामन्तों से सावधान रहने का परामर्श दिया गया है। सामन्ती विद्रोह को बाहरी खतरा बताया गया है और राजकुमारों, मन्त्रियों तथा अन्य उच्चाधिकारियों के विद्रोह को आन्तरिक खतरा।[2] इसलिए अग्नि पुराण में राजा को गद्दार सामन्तों को कुचल देने की सलाह दी गई है।[3] किन्तु इस काल की किसी अन्य नीति उपदेश-सम्बन्धी कृति में राजा तथा सामन्तों के पारस्परिक दायित्व शायद ही निर्धारित किये गये हों।

लेखपद्धति ऐसी एकमात्र वैधानिक कृति है जिसमें अनुदानभोगियों के दायित्व बताये गये हैं। इस पुस्तक में १२वीं १३वीं सदियों में गुजरात की स्थिति की झाँकी मिलती है, पर हो सकता है कि राजस्थान और पश्चिम के इलाकों में ऐसी ही व्यवस्था हो। इस पुस्तक में मानपत्र पर लिखे तीन प्रकार के अनुदान पत्रों का हवाला दिया गया है। एक तो है राजभुजपत्तला जिसके द्वारा राजा किसी राणक को मन्दिरों तथा ब्राह्मणों को दान किये गये क्षेत्रों को छोड़ कर पूरा-का पूरा देश अनुदान में दे सकता था।[4] यहाँ जिस देश शब्द का प्रयोग हुआ है, उससे चौलुक्यों के अधीन शायद मण्डल का बोध होता था। दूसरा है महामात्य पत्तला, जो महामात्य द्वारा राणक के नाम जारी किया जाता था। राणक उस पत्तला को स्वीकार करते हुए वफादारी और ईमानदारी के साथ दाता को सभी कर देने का वचन देता था।[5] तीसरा है राणक पत्तला जिसमें हमें ऐसी तफसीलें मिलती हैं जो उपर्युक्त दोनों पत्तलाओं में नहीं मिलतीं। यहाँ राजपुत्र जागीर के लिए राणक से निवेदन करता है और जब उसे एक गाँव दिया जाता है तब उससे न केवल अनुदत्त क्षेत्र में शान्ति-सुव्यवस्था बनाये रखने और पुराना तथा न्यायसम्मत प्रथा के अनुसार राजस्व वसूल करने का वचन लिया जाता है बल्कि उस पर यह दायित्व भी डाला जाता है कि वह

---

१ अनु० एम० एन० दत्त, २, ८६६।
२ २२६ ११।
३ २२७ ५३।
४ लेखपद्धति, पृष्ठ ७।
५ वही।

राणक की सेवा के लिए उसकी राजधानी में १०० पदाति तथा २० अश्वारोही लाये।[1] साथ ही उस पर यह प्रतिबन्ध लगाया जाता है कि वह मंदिरों और ब्राह्मणों को अनुदान में परती जमीन नहीं दे।[2] अर्थात् वह गांव में अनुदान स्वरूप केवल आबाद जमीन ही प्रदान कर सकता था। इस प्रकार यह धारा भूमिच्छिद्रन्याय के अनुसार प्रचलित पुरानी प्रथा को उलट देती है। भूमिच्छिद्रन्याय के अनुसार प्रारम्भ में पुरोहितों तथा मंदिरों को केवल परती जमीन ही अनुदान में दी जाती थी ताकि वे उसे जोत में लायें यद्यपि पांचवीं सदी से इस शब्द का प्रयोग शास्त्रस्वरूप आबाद जमीन देनेवाले अनुशासनपत्रों में भी होता रहा।[3] उपर्युक्त धारा से प्रकट होता है कि परती जमीन को आबाद कराने में भूमि अनुदानों का जो महत्त्व था वह १२वीं शताब्दी के अंत तक गुजरात में समाप्त हो चुका था।

अभिलेखों से किसी भी अनुबन्ध के सम्बन्धित पक्षों के दायित्वों की ठीक ठीक जानकारी प्राप्त कर सकना बहुत कठिन है किन्तु लेखपद्धति में दिये गये मसौदों में उनके दायित्व बिल्कुल स्पष्ट बताये गये हैं। प्रथम पत्तलों में तो ऐसा नहीं बताया गया है लेकिन दूसरा और विशेषकर तीसरा पत्तला इस बात की साक्षी भरता है कि गुजरात में सामन्तवादी राजपद्धति तब विकसित हो चुकी थी। इन मसौदों से स्पष्ट हो जाता है कि राजा या उसका महामात्य, जिन दोनों का उल्लेख १२वीं और १३वीं शताब्दियों में सामन्तों को दिये गये चौलुक्य अनुशासनों में बराबर साथ साथ हुआ है राणकों को जागीरें दिया करते थे और ये राणक अनुदत्त क्षेत्र में से अपनी इच्छानुसार राजपुत्रों को जागीरें दिया करते थे। यह उपसामन्तीकरण का स्पष्ट उदाहरण है।

और जैसा कि ग्रामपट्टकों (गांवों से राजस्व संकलन करने के अनुबन्धों) के मसौदों से ज्ञात होता है राजपुत्र लोग भी अपने गांव उन व्यापारियों तथा उनके इष्ट मित्रों को पट्टे पर दिया करते थे जो उनसे तदर्थ निवेदन करते थे।[4] एक दस्तावेज में एक पञ्चकुल को जिसका मुखिया कोई व्यापारी था

---

१ 'ग्रामस्य ग्रस्य ग्रायपञ्च भोगवता (भुंजता) पदातिजनं १०० घोटक २० एवं घोटक मानुषं राजधा याम श्रीग्रम्पाकम मेवाकार्या। वशी।

२ नवनरभूमि शासन कस्यापि देवस्य विप्रस्य वा न शासनीय। लेख० प०, पृष्ठ ३।

३ ले० प० पृष्ठ २६ २८।

४ ले० प० पृष्ठ ८९।

महत्तक (लखपाल) है इस गांव पर राजस्व एकत्र करने का अधिकार दिया गया है कि वह ३००० द्रम्म मुख्य राजस्व के रूप में २१६ द्रम्म पवकुल के पुरस्कारस्वरूप और चालीस द्रम्म फुटकर खर्च के तौर पर प्राप्त करे।[1] मुख्य राजस्व की अदायगी तीन किस्तों में करनी है।[2] इसके अतिरिक्त उस व्यापारी और उसके इष्ट मित्रों की जिम्मेवारी है कि यदि लगान में कोई वृद्धि की जाये तो वे उसे भी चुकायें और साथ ही किसी व्यक्ति को सम्मानित करने के लिए राज परिवार या सरदार के परिवार में किसी कुमार का जन्म होने पर और ऐसे ही अन्य अवसरों पर गांवों पर लगाये जानेवाले करों की अदायगी करें, और थान पर होने वाले खर्च का भी बोझ उठायें।[3] गांव में राजस्व एकत्र करनेवाले इन लोगों को गांव से होकर गुजरनेवाली सड़कों की देखभाल का भार भी सौंपा गया है। इस अनुबन्ध के सम्बन्ध में एक अन्य राजपुत्र की गारंटी की भी आवश्यकता बताई गई है। वह इस बात की जिम्मेदारी अपने सिर लेता है कि उक्त व्यापारी और उसके इष्ट मित्र सारी राशि विधिवत प्रदान करेंगे। जिस दस्तावेज में ये तमाम विवरण दिये गये हैं उसका काल ७४५ ईस्वी बताया गया है, लेकिन निस्सन्देह इससे १२वीं १३वीं सदियों की राजस्व व्यवस्था पर ही प्रकाश पड़ता है। ग्राम पटटक की प्रथा से प्रकट होता है कि बहुत से राजपुत्रों के हाथों में कई गांव थे, और इन सभी गांवों से वे स्वयं राजस्व एकत्र नहीं कर सकते थे। इसलिए नकद राशि में राजस्व का अनुमान लगा कर वे लगान एकत्र करने का काम व्यापारियों को सौंप देते थे। गुजरात में व्यापारियों का कारोबार बहुत अच्छा चलता था। अतः उनके लिए यह दायित्व स्वीकार करना आसान था। वे लगान देकर जमीन की जोत का हक प्राप्त करनेवाले किसान नहीं बल्कि ऐसे एजेंट थे जो अपने प्रभु के साथ हुए इकरारनामे की शर्तों से बंधे हुए थे। गांव का असली मालिक राजपुत्र था, जो न केवल भूमि अनुदान दे सकता था बल्कि करों में वृद्धि भी कर सकता था और अपनी जमीन लगान वसूल करने के लिए चाहे जिसे दे सकता था।

ग्रामपटटकों की अवधि स्पष्टतः एक साल होती थी लेकिन राजाओं

---

१ ले० प० पृष्ठ ६।

२ वही।

३ चम्पकमलमागणमागलीयकचतुरकपलितम दशाचारेन दात यम। ले० प०, पृष्ठ ६।

४ ले० प०, पृष्ठ ६।

महामात्यों और राणक द्वारा जारी किये गये अनुदानपत्रों में समय सीमा का कोई संकेत नहीं दिया गया है। शायद ये अनुदान ग्रहीता के जीवन भर के लिए अथवा जबतक उसका व्यवहार ठीक रहे तबतक के लिए दिये जाते थे, और दो परीक्षा में से किसी भी एक की मृत्यु होने पर उन्हें नया कराना पड़ता था। यह स्पष्ट नहीं है कि राणक और उसके राजपुत्र सामन्त के बीच कोई विवाद होने पर राजा बीच बचाव करता था या नहीं। ये अनुबन्ध भोजपत्र पर तैयार किये जाते थे इसलिए इनमें से एक भी उपलब्ध नहीं है लेकिन इनकी प्रामाणिकता में सन्देह करने का कोई कारण दिखाई नहीं देता।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रभु और सामन्त के सम्बन्ध मुख्यतः समाज में प्रचलित रीति रिवाजों पर ही आधारित थे और १३वीं सदी के पहले का उनका लिखित रूप अभी तक नहीं मिला है। पूर्ववर्ती काल में जब राज्य बड़े बड़े हुआ करते थे तब लिखित कानून न होने का लाभ उठा कर प्रभु अपने सामन्त पर परम्परागत कर्त्तव्यों के अलावा और भी कर्त्तव्य थोप सकता था लेकिन अभी हम जिस काल पर विचार कर रहे हैं उस काल में प्रभु के बजाय सामन्त द्वारा इस स्थिति का लाभ उठाने की अधिक सम्भावना थी। तुर्कों के आक्रमण से पूर्व उत्तर भारत जिस प्रकार अनेक छोटे छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था उस स्थिति में सामन्तों के लिए अपने प्रभु पर हावी होना आसान था।

सामन्तों और बड़े बड़े राज्याधिकारियों को भूमि अनुदानों के रूप में वेतन देने की बात १२वीं शताब्दी में सिद्धान्ततः भी भली भाँति स्वीकार कर ली गई। पूर्ववर्ती साहित्य में धार्मिक उद्देश्यों से ग्राम अनुदान देने की महिमा तो विस्तार से बताई गई है किन्तु धर्मेतर प्रयोजनों से बड़े पैमाने पर भूमि अनुदान देने की सिफारिश नहीं की गई है। मगर १२वीं सदी में रचित मानसोल्लास में इस अनुदान देने का विधान बहुत स्पष्ट शब्दों में किया गया है। इसमें राजा को सलाह दी गई है कि वह अपने प्रमुख सामन्तों (सामन्त मान्यका) और विभिन्न स्तरों के मंत्रियों (यथा मन्त्री अमात्य सचिव आदि) को तरह-तरह के भेंट पुरस्कार दे, जिनमें भूमि अनुदान भी शामिल है।[१] आगे कहा गया है कि मंत्रियों बान्धवों तथा राजा को सैनिक सहायता एवं परामर्श देनेवाले अन्य लोगों को भी उस उपहार देना चाहिए।[२] कुल मिलाकर १६ प्रकार के उपहारों का उल्लेख है। इनमें गाँवों नगरों और खनिज क्षेत्रों के साथ-

१ वही २००६।

२ वही १००७।

साथ छत्र चँवर आदि सम्मान सूचक उपहार तथा वाहन तो शामिल हैं ही, इनके अतिरिक्त कुमारी कन्याएँ और वारांगणाएँ भी भेंट करने को कहा गया है।[1] इसमें जिन भूमि अनुदानों का उल्लेख हुआ है वे इस प्रकार हैं—देयम, अर्थात राज्य (सर्वाडवीजर्नो) का दान, जिन पर राजा शायद कर नहीं लेता था, करजम, जो देयम से मिलते जुलते ढंग का अनुदान था, किन्तु जिसके लिए ग्रहीता को कर देना पड़ता था,[2] और तीसरा है ग्रामजम, अर्थात करयुक्त अथवा कर मुक्त ग्राम अनुदान।[3]

मालवा और गुजरात में तो भूमि अनुदान लगभग सर्वत्र दिया जाता था। इसका प्रमाण हमें मेरुतुंग कृत प्रबन्धचिन्तामणि में मिलता है जिसमें लेखक ने परमार भोज और चौलुक्य भीम के विषय में लिखा है। मेरुतुंग कहता है कि दशाधीश अनुदान में गांव देता है ग्रामाधीन क्षेत्र और क्षत्राधीन साग सब्जियां हर सुखी-सम्पन्न व्यक्ति अपनी सम्पत्ति दान करता है।[4] इससे यह ध्वनि निकलती है कि १३०४ तक जब कि मेरुतुंग ने अपनी यह रचना पूरी की गांवों पर व्यक्तियों के स्वामित्व का सिद्धान्त भली भांति प्रतिष्ठित हो चुका था। उसने जिन ग्रामाधीनों का उल्लेख किया है, उनमें शायद जैन और ब्राह्मण मन्दिरों तथा पण्डित पुरोहितों की संख्या काफी रही होगी, लेकिन शेष ग्रामाधीन शायद ऐसे सामन्त या राज्याधिकारी रहे होंगे जिन्हें परमार और चौलुक्य राजाओं ने ग्राम दान किये थे। अक्सर ऐसा भी होता होगा कि पट्टकिल[5] लोग जिन्हें राजा राजस्व वसूल करने के लिए पट्ट अर्थात सनद प्रदान किया करता था कालान्तर में ग्रामाधीन बन जाते होंगे और केन्द्रीय कोष को वसूल किये गये राजस्व का छोटा हिस्सा देते होंगे।

यों तो पूर्ववर्ती साहित्य में भी सामन्त और उसके पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख बार-बार हुआ है लेकिन उसमें राजनीतिक सामन्तवाद के लिए कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं प्रस्तुत किया गया है। इससे प्रकट होता है कि ११वीं सदी

---

१ २ १०१० ११

२ वही १०१८

३ वही १०१६

४ 'दशाधीनो ग्राममेक ददाति, ग्रामाधीनः क्षेत्रमेव ददाति, क्षेत्राधीशः निम्बका सम्प्रदत्त, सर्वस्तुष्ट सम्पद स्वा ददाति। प्रबन्धचिन्तामणि, पृष्ठ ५७।

५ ए० इ० ६, नं० १३, पंक्ति १८, इ० ए० ६, ४८।

सम्पूर्ण राजनीतिक सामन्तवाद की जड़ लोगों के मन-मानस में बहुत गहरी नहीं जम पाई थी। स्मृतियों के मानस में भी इन नई प्रवृत्तियों के प्रति मान्यताओं की समग्रता परिलक्षित नहीं होती क्योंकि विधानात्मक ग्रन्थ दान का प्रधान पक्ष भी पट्टाओं के वस्तुगत पक्ष में ही लिया गया है। लेकिन बात यह है कि राजनीतिक सामन्तवाद का सर्वाधिक आधार इस वास्तु और शिल्पकला विषयक साहित्य में मिलता है। सामन्ती श्रेणियों का एक मजबूत चित्र हमें मानसार में मिलता है जो इसी सदी की कृति है। इस कृति के ४२ वें अध्याय में ऊपर से नीचे तक राजाओं की नौ श्रेणियों का उल्लेख किया गया है। सबसे ऊपर है चक्रवर्ती और उसके बाद क्रमशः महाराज अथवा अधिराज, नरेन्द्र, पार्थिव, पट्टधर, मण्डलेश, पट्टभाज, प्रहारक और अस्त्रग्राही आते हैं।[1] इन राजाओं की महत्ता के अनुसार यह भी निर्धारित किया गया है कि ये कितने घोड़े, कितने सैनिक, कितनी सेविकाएँ और कितनी रानियाँ रख सकते हैं। इन राजाओं में सबसे नीचे अस्त्रग्राही ... ८०० घोड़े, ८०० हाथी, ५०,००० सैनिक, ५०० स्त्री सेविकाएँ और एक रानी रख सकता है।[2] जैसे जैसे राजा की श्रेणी ऊँची होती जाती है वैसे वैसे इन संख्याओं में भी वृद्धि होती जाती है और स्वभावतः चक्रवर्ती को सबसे अधिक हाथी, घोड़े, सैनिक, सेविकाएँ और रानियाँ रखने का अधिकार दिया गया है।[3] मानसार में विभिन्न श्रेणियों के राजाओं के योग्य नौ प्रकार के राजमुकुटों और नौ प्रकार के राजसिंहासनों का भी वर्णन किया गया है।[4] हमारे लिए सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें राजा की स्थिति के अनुसार उसके राजस्व की घटती बढ़ती दर का भी वर्णन किया गया है। चक्रवर्ती उपज का केवल दसवाँ हिस्सा लेता है जबकि महाराज छठा हिस्सा, नरेन्द्र पाँचवाँ हिस्सा, पार्थिव चौथा हिस्सा और पट्टधर केवल एक तिहाई ही लेता है।[5] मण्डलेश, पट्टभाज, प्रहारक तथा अस्त्रग्राही इन चार श्रेणियों के राजाओं में राजस्व की दरें नहीं बताई गई हैं किन्तु संदर्भ को देखते हुए ऐसा माना जा सकता है कि ये उपज का अर्धांश या उससे भी अधिक लेते होंगे। इस वर्गीकरण का महत्व क्या है?

---

१ पी० के० आचार्य, मानसार सिरीज, ६, १२५।

२ वही।

३ वही।

४ वही, १२६। इनका वर्णन ४५वें और ४९वें अध्यायों में किया गया है।

५ वही।

इस विधान के पीछे यह मान्यता काम करती दिखाई देती है कि निचली श्रेणी के राजा पर यह जिम्मेवारी थी कि वह ऊपर की श्रेणी के राजा को कर दे। राजा की श्रेणी जितनी अवर हो वह प्रजा से उतना ही अधिक राजस्व वसूल करे इस विधान का तो कारण यही प्रतीत होता है कि अवर श्रेणी के राजा को अपने से ऊपर की श्रेणीवाले राजा को सामन्ती कर देना पड़ता था। यदि वह प्रजा से अधिक कर नहीं वसूल करता तो उसका राजकाज नहीं चल सकता था।

१२वीं सदी में[1] भट्ट भुवनदेव ने भी अपनी कृति अपराजितपृच्छा में महत्त्वक्रम से नौ प्रकार के शासकों का वर्णन किया है। वे इस प्रकार हैं : महीपति राजा नराधिप महामण्डलेश्वर माण्डलिक महासामन्त, सामन्त, लघु सामन्त और चतुरंशिक।[2] इनमें से प्रत्येक के पास कितना क्षेत्र हो, यह भी बताया गया है। जहाँ महीपति को सम्पूर्ण धरित्री का स्वामी बताया गया है वहाँ चतुरंशिक को १,००० गाँवों का स्वामी कहा गया है।[3] निम्नतम श्रेणी के शासकों के पास कितना बड़ा क्षेत्र हो यह तो कहीं नहीं बताया गया है किन्तु स्पष्टतः २० से लेकर १०० गाँवों तक के स्वामी इसी श्रेणी में आते थे।[4] वास्तु-कला सम्बन्धी इन दो कृतियों में शासकों का जो वर्गीकरण किया गया है व्यवहार में उसका पालन भी किया जाता रहा हो ऐसा प्रतीत नहीं होता फिर भी यह श्रेणी विन्यास मध्य काल के सामन्तवादी राजनीतिक ढाँचे को देखते हुए सर्वथा उपयुक्त जान पड़ता है क्योंकि उस राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत हमें इस बात के बहुत से उदाहरण मिलते हैं कि शासकों की अनेक श्रेणियाँ होती थीं, और इनमें से निम्नतर श्रेणी का शासक अपने से ऊपर की श्रेणी के शासक के अधीन हुआ करता था तथा वह उसे कर देता था और उसकी आवश्यक सेवा-सहायता किया करता था और यही सिलसिला नीचे से ऊपर तक श्रेणी दर श्रेणी चला जाता था।

अपराजितपृच्छा में सामन्ती दरबार के गठन का भी वर्णन किया गया है। इसके अनुसार सम्राट (जिसका विरुद महाराजाधिराज परमेश्वर बताया गया है) के दरबार में ४ मण्डलेश, १२ माण्डलिक १६ महासामन्त, ३२ सामन्त १६०

१ स० पी० ए० मनकड, गा० ओ० सि०, न० ११५, प्रारम्भिक पृष्ठ १२।
२ ८१ २-१०।
३ वही।
४ ८१ ११-१२।

लघुसामन्त और ८०० चतुरंशिक होने चाहिए।[1] चतुरंशिक से नीचे के समस्त राजपुरुषों को राजपुत्र कहा गया है।[2] इसमें कुछ एक राजपुरुषों की आय के बारे में भी बताया गया है। इसके अनुसार लघुसामन्त की आय ५,०००, सामन्त की १०,००० और महासामन्त की आय २०,००० होनी चाहिए। इस योजना की पुष्टि वास्तुकला-सम्बन्धी १५वीं शताब्दी की एक कृति राजवल्लभमण्डन से भी होती है।[3] अपराजितपृच्छा में इन सरदारों द्वारा प्रजा से वसूल किए जानेवाले राजस्व और कर के विषय में कुछ नहीं कहा गया है लेकिन इसमें राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ता की दृष्टि से एक श्रेणीबद्ध समाज का चित्र अवश्य देखने को मिलता है।

प्रारम्भिक धर्मशास्त्रों और तत्सम्बन्धी अन्य कृतियों में केवल वर्णों के आधार पर राजनीतिक सत्ता, आय, घर-सम्पत्ति आदि में विभिन्नता की कल्पना की गई है, लेकिन वास्तुकला पर लिखी पुस्तकों में स्थिति बदल जाती है। इनमें किसी को अपने पैतृक वर्ण के आधार पर कोई सुविधा नहीं दी गई है। इसके विपरीत वर्ण पर आधारित दर्जे को सामन्ती श्रेणी-विन्यास पर आधारित दर्जे के साथ सामंजस्य करने का प्रयत्न किया गया है। यह बात मयमत और वराहमिहिर कृत बृहत्संहिता में वास्तुकला पर लिखे कुछ अध्यायों में लक्षित होती है। वराहमिहिर ने विभिन्न श्रेणियों के शासकों के अनुसार इमारतों का वर्णन किया है और साथ ही चारों वर्णों के उपयुक्त निवासस्थानों का भी। मयमत के अनुसार सम्राट का निवासस्थान ग्यारह मंजिलों का होना चाहिए, ब्राह्मण (द्विजाति) का नौ मंजिलों का, सामान्य राजा (नर) का सात मंजिलों का, वैश्य तथा सामान्य सेना-नायक (बाणगन्ध) का चार मंजिलों का और शूद्र का निवासस्थान एक से तीन मंजिलों का तथा सेना के प्रमुख व्यक्ति का पाँच से सात मंजिलों का होना चाहिए।[4] मयमत की यह योजना में विभिन्न श्रेणियों के राजाओं तथा सामन्तों के उपयुक्त आवासों का वर्णन बृहत्संहिता की अपेक्षा अधिक स्पष्टता से किया गया है। किन्तु अपराजितपृच्छा में निवासस्थानों का आकार-प्रकार निर्धारित करने में वर्णों का

ख्याल नहीं किया गया है। उसमें इसका निर्धारण केवल सामन्तों तत्वों के पारस्परिक दर्जों के आधार पर ही किया गया है। इसमें नौ श्रेणियों के सरदारों में से प्रत्येक के आवास का आकार निर्धारित किया गया है। इन सरदारों में महामण्डलेश्वर, माण्डलिक, महासामन्त और लघुसामन्त के अतिरिक्त कुछ और भी शामिल है, जिनका दर्जा उक्त सरदारों से नीचे है।[1] किन्तु सिंहद्वार बनवाने की अनुमति केवल चक्रवर्ती, महामण्डलेश्वर, महासामन्त और सामन्त को ही दी गई है।[2] मानसार के अनुसार सबसे नीचे की दो श्रेणियों के शासक, अर्थात् प्रहारक तथा अस्त्रग्राही, चारों वर्णों के लोग हो सकते हैं और इनके अधिकार तथा सुविधाएँ इस बात पर निर्भर करती हैं कि किसे प्रहारक अथवा अस्त्रग्राही का दर्जा दिया गया है। इस प्रकार ये कृतियाँ समाज में महत्त्व और स्थान का निर्धारण केवल वर्णों के आधार पर ही नहीं करतीं, बल्कि उभरती हुई सामन्तवादी सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था के लिए, जिसकी उपेक्षा करना अब असम्भव हो गया था, एक नया आधार प्रस्तुत करती हैं।

इस अध्याय के अन्त में हम निष्कर्ष स्वरूप कह सकते हैं कि इस काल में उत्तर भारत में अनेक छोटे छोटे राज्य थे, जो या तो भूमि अनुदान की व्यापक प्रथा अथवा शासक परिवार के सदस्यों द्वारा अपना पैतृक राज्य आपस में बाँट लेने के चलन के परिणाम थे। बेशक पुरोहितों तथा मन्दिरों को अनुदान दिये जाने के जितने प्रत्यक्ष प्रमाण मिलते हैं उतने सैनिक तथा प्रशासनिक सेवाओं के पुरस्कार स्वरूप दिये जाने के नहीं मिलते। सच तो यह है कि जिन प्रमाणों के आधार पर हमने यह निष्कर्ष निकाला है कि राज्याधिकारियों तथा सामन्तों को अनुदान दिये गये, उनमें भी ज्यादा संख्या इन राजपुरुषों द्वारा दिये गये धार्मिक अनुदानों की ही है। भारत में हम राज्य और धार्मिक मुखिया के बीच वैसे किसी झगड़े का सबूत नहीं मिलता जैसा कि यूरोप में पोप तथा राज्य के बीच चलता था। जहाँ ९वीं शताब्दी के मध्य में करोलिंग राजवंश ने चर्च की सम्पत्ति छीनकर अपने गृहस्थ सामन्तों को दे दी[3] वहाँ भारत के राजवंश का स्वरूप और रवैया चाहे जो रहा हो, वे धार्मिक अनुदान देने में एक दूसरे के साथ स्पर्धा सी करते जान पड़ते हैं। सरकारी अमले का बोलबाला कम होता गया और धार्मिक तथा गृहस्थ सामन्तों का बोलबाला

१ ८१ २ १२।

२ ८१ २१ २४।

३ गनशाफ, फ्यूडलिज्म, पृष्ठ ३५ ३६।

बढ़ता गया बल्कि वास्तविकता यह है कि भूमि अनुदान मिलने के कारण खुद सरकारी अमले भी सामंती दर्जा प्राप्त करते जा रहे थे। हां पूर्वी भारत में स्थिति गुजरात तथा राजस्थान से भिन्न थी। इन दो प्रदेशों में प्रभु और सामंत के सम्बन्ध अनुबंधों पर आधारित होते थे। पालों और सेनों के राज्यों में ताम्रपत्रों पर दिए गए धर्मेतर अनुदानों का अपेक्षाकृत अभाव है। इससे प्रकट होता है कि इन राज्यों में सामान्य राज्याधिकारियों तथा सामंतों को कभी भी इतना शक्तिशाली नहीं होने दिया गया कि वे अपने अपने अनुदानों के लिए स्थायी आधार का आग्रह कर सकें। चौलुक्यों, परमारों, चाहमानों, गाहड़वालों, चन्देलों तथा उड़ीसा के राजवंशों के राज्यों में स्थिति इससे भिन्न थी।

इस काल की एक विशेषता यह भी है कि बघेलखण्ड, उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान में अधिकारियों के लिए राजस्व के कुछ हिस्से अलग कर दिए जाते थे। मुस्लिम शासन काल में भी यह प्रथा जारी रही क्योंकि हम देखते हैं कि शेरशाह ने कुछ कर अपने कर उगाहनेवाले अधिकारियों को वेतन देने के लिए सुरक्षित कर दिये थे। और आखिरी बात यह है कि इस समय तक सामंती प्रथा इतनी सुप्रतिष्ठित हो गई कि अब इसे संस्कृत ग्रंथों में भी स्थान दिया जाने लगा यद्यपि इन ग्रंथों की प्रवृत्ति परम्परा पोषण की थी और ये धर्मशास्त्रों में बताई गई चार वर्णों में विभक्त सामाजिक व्यवस्था से मेल न रखनेवाली किसी चीज को सहज ही स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। मानसोल्लास, लेखपद्धति तथा कला एवं स्थापत्य से सम्बन्धित कई कृतियों में सामंती श्रेणी विन्यास का वह चित्र प्रस्तुत किया गया है जो हमें पूर्ववर्ती कृतियों में कहीं नहीं मिलता। इस काल की कुछ पुस्तकों में धर्मेतर प्रयोजनों से अनुदान देने की साफ साफ सिफारिश की गई है और कुछ में ग्रहीताओं के दायित्व स्पष्ट शब्दों में बताए गए हैं। इन तमाम बातों ने दिल्ली के सुलतानों द्वारा जागीर की प्रथा प्रारम्भ करने के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार कर दिया था।

परिच्छेद–६

सामन्तवादी अर्थव्यवस्था का चर्मोत्कर्ष और ह्रास

(लगभग १०००—१२०० ई०)

तुर्कों की भारत विजय से पहले की दो सदियों के जो भूमि अनुदानपत्र हमें उपलब्ध हैं उनके आधार पर इस काल में उत्तरी भारत में पुरोहितों मन्दिरों सामन्तों तथा राज्याधिकारियों को दिये गये ग्राम अनुदानों का क्षेत्रगत विवरण विस्तार से दिया जा सकता है। किन्तु यहाँ संक्षेप में यह दिखलाने की चेष्टा की गई है कि असम से गुजरात और हिमालय से विन्ध्य पर्वतश्रेणी तक ग्राम-अनुदान देने की प्रथा व्यापक बन गई थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि असम में आर्थिक रूप से स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर ऐसे गाँव नहीं थे जो किसानों एवं शिल्पियों के बल पर चलते हों। इस प्रदेश में ब्राह्मणों को अनुदान-स्वरूप मुख्यतः ऐसे बड़े बड़े जंगली एवं पहाड़ी क्षेत्र दिये जाते थे जिनके बीच से नदियाँ बहा करती थीं और इसलिए आर्थिक दृष्टि से एक दूसरे से स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर गाँवों का कायम होना असम्भव था। उदाहरण के लिए बलवर्म्मन के ताम्रपत्र (९७५) में ४००० मापक धान्य पैदा करने योग्य क्षेत्र दान किया गया है[1] और रत्नपाल (१०१० ५०) के ताम्रपत्र में २,००० मापक धान्य उत्पन्न करने लायक भूमि दान की गई है।[2] इसी प्रकार इन्द्रपाल के गौहाटी ताम्रपत्र में धार्मिक अनुदान के रूप में ४००० मापक धान्य पैदा करने लायक जमीन दी गई है।[3] इन तीनों उदाहरणों से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि बड़े-बड़े उपजाऊ भू क्षेत्र अब भी धार्मिक उद्देश्यों से दान किये

---

१ ज० ए० सो० बं० ६८, भाग १, २९१ २।

२ वही, ६७, भाग १, १२०।

३ वही, ६६, भाग १, १३० १, पंक्तियाँ ६ ९।

जाते थे।

अब हम बंगाल की ओर आयें, जहाँ पालों और सेनों का शासन था। इस प्रदेश में बड़े-बड़े भू-क्षेत्रों की बजाय गाँव ही अनुदान में दिये जाते थे। विचाराधीन काल के पाल शासकों में से तृतीय विग्रहपाल ने आधुनिक सहरसा जिले में किसी स्थान पर आधा गाँव एक ब्राह्मण को दान में दिया।[1] इसी प्रकार मदनपाल (११४०-५५) ने उत्तर बंगाल में चम्पाहिट्टि के किसी ब्राह्मण को एक गाँव दिया।[2] पालों के अधीनस्थ छोटे-छोटे राजाओं ने भी इस तरह के अनुदान दिये। ईश्वरघोष ने, जो शायद तृतीय विग्रहपाल का सामन्त था, दक्षिण बंगाल में चन्दवार के किसी ब्राह्मण को एक गाँव दिया।[3] एक अन्य पाल सामन्त भोजवर्मन ने पूर्वी बंगाल में ११वीं सदी के अन्त में अथवा १२वीं सदी के प्रारम्भ में किसी समय मध्यदेश के एक पुरोहित को एक भू-क्षेत्र अनुदान स्वरूप दिया।[4]

चन्द्रों ने भी, जो कदाचित् पूर्वी बंगाल में पालों के सामन्त थे, कई अनुदान दिये। श्रीचन्द्र ने एक अनुदानपत्र में धार्मिक प्रयोजनों से कई भू-खण्ड दान किये। ये सब पुण्ड्रवर्धनभुक्ति के पाँच गाँवों में बिखरे हुए थे।[5] श्रीचन्द्र इस भुक्ति में एक ही स्थान पर कोई बड़ा क्षेत्र शायद इसलिए दान नहीं कर पाया कि वहाँ गुप्त काल से ही जमीन की बहुत कमी हो चली थी। उसके पौत्र लाडहचन्द्र ने ११ पाटक और कई द्रोण भूमि के साथ एक गाँव भी लाडहमाधव देवता को अनुदान में दिया, और फिर तेरहवीं शताब्दी में वीरधरदेव ने इस देवता को शायद सिलहट जिले में, किन्हीं दो स्थानों में १७ पाटक भूमि दी।[6] बंगाल के सेन शासक भी धार्मिक प्रयोजनों से ग्राम दान करते रहे। अन्तर केवल इतना था कि कभी-कभी नकद अथवा जिन्सों के रूप में गाँव की वार्षिक उपज का भी उल्लेख कर दिया जाता था। एक अनुदानपत्र में लक्ष्मणसेन ने उत्तर बंगाल में एक गाँव दान किया और साथ ही चार गाँवों में जमीन के कुछ

---

१ ए० इ० २९, नं० ७ पंक्तियाँ २४-४२।

२ ज० ए० सो० बं०, ६९, भाग १, ६६ से आगे पंक्तियाँ २७-४९।

३ इ० क०, ३, नं० १६ पंक्तियाँ २१-२९।

४ वही पृष्ठ २३-२४, पंक्तियाँ २४-५१।

५ वही पृष्ठ १६५-६।

६ वीरधरदेव का मैनामती ताम्रपत्र। यह पहले डा० ए० एच० दानी के पास था, किन्तु अब पाकिस्तान के पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग के कब्जे में है।

टुकड़े भी।[1] विश्वरूपसेन के शासन काल में ६ गांवों बिखरे ११ भूखण्ड, जिनके कुल क्षेत्रफल का योग ३३६[?] उन्मान था और जिनसे सालाना ५०० पुराण की आमदनी होती थी, ब्राह्मणों को दान किये गये।[2] ११वीं और १२वीं सदियों के भूमि अनुदानों को देखने से ऐसा लगता है कि बंगाल में भूमि अनुदान मुख्यतः उसी क्षेत्र तक सीमित था जिसे आज पूर्वी बंगाल कहा जाता है। मगर वहां शायद जमीन की कमी के कारण बड़े पैमाने पर अनुदान देना मुश्किल था।

बिहार में पुरोहितों और मंदिरों को पहले की ही तरह खूब ग्राम अनुदान मिलते रहे यद्यपि अभी तक मिथिला के कर्णाटों का कोई ताम्रपत्र प्राप्त नहीं हो पाया है। फिर भी संग्रामगुप्त नामक शासक ने १२वीं अथवा १३वीं शताब्दी में दक्षिण मुंगेर में एक गांव अनुदान में दिया। १३वीं सदी के प्रारम्भ में जपला के खयरवाल शासक ने पलामू में कुछ गांव दान किये और साथ ही ब्राह्मणों को यह चेतावनी भी दी कि कोई भी ब्राह्मण जाली अनुदान पत्रों के बल पर किसी गांव का उपभोग न करे।[3] कुछ समय तक बिहार का पश्चिमी क्षेत्र खयरवालों के प्रभु गाहड़वालों के हाथों में भी रहा था और तभी एक गाहड़वाल शासक ने ११२६ में मनेर में एक ब्राह्मण को दान में एक गांव दिया था।[4]

गाहड़वालों ने अपने प्रभुत्व के केन्द्र उत्तर प्रदेश में सबसे अधिक अनुदान दिये। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं एक ही ब्राह्मण परिवार को राज्य के कुल साठ पत्तलाओं में अठारह पत्तलाओं में मुख्यतः सांसारिक सेवाओं के पुरस्कार स्वरूप अठारह गांव अनुदान में दिये गये।[5] इसी प्रकार एक क्षत्रिय राउत को छः जागीरें दी गईं और एक अन्य राउत को तीन गांव।[6]

---

१ ए० इ० २६, नं० १, पृष्ठ ५७ ६।

२ इ० क० ३, नं० १५, पंक्तियां ४२ ६८।

३ हाल में इस तरह का एक जाली अनुदानपत्र प्राप्त हुआ है, जो श्री एस० वी० साहिनी, आई० सी० एस०, के पास सुरक्षित है।

४ ज० बि० ओ० रि० सो० २ ४४३ ४४, पंक्तियां ८ ११।

५ काल निर्धारण रमा नियोगी-कृत हिस्ट्री ऑफ द गहड़वाल डाइनेस्टी, परिशिष्ट 'बी' नं० १० १३ १५ १६ २१ २३, २६, ३७ ५०, ५२ ५६, ५८ के आधार पर किया गया है।

६ उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ १७३ ४।

धर्मेतर अनुदानों के अतिरिक्त गाहड़वाल राजाओं ने बहुत से धार्मिक अनुदान भी किये। इस तरह के सबसे अधिक अनुदान चन्द्रदेव ने किये। १०९३ में तो उसने ५०० ब्राह्मणों को एक पूरी पत्तला दे डाली।[1] पत्तला का क्षेत्र कितना बड़ा था, इसका तो हम कोई ठीक अन्दाजा नहीं है, लेकिन इसमें शायद कम से कम १०० गाँव तो होते ही थे। ११०० में इन्हीं ५०० ब्राह्मणों को उसने ३२ और गाँव दिये। जब उसने १०९३ में पूरी पत्तला प्रदान की थी, उस समय दो गाँव अपने पास ही रख लिये थे। अब जो ३२ गाँव दान किये गये उनमें दो तो यही गाँव थे और शेष ३० एक अन्य पत्तला में पड़ते थे। पूरी पत्तला दान करने का उद्देश्य क्या हो सकता था, यह पत्तला की अवस्थिति से कुछ पता चलता है। यह कठहली पत्तला बनारस के निकट पड़ती थी और इसके तीन ओर गोमती, भागीरथी तथा वरुणा ये तीन नदियाँ बहती थीं।[2] वास्तव में यह क्षेत्र गाहड़वालों की सत्ता के दो प्रमुख केन्द्रों में से एक था, दूसरा केन्द्र कन्नौज था। इसलिए ऐसा मानना समीचीन नहीं जान पड़ता कि यह क्षेत्र ५०० ब्राह्मणों को इसलिए दान किया गया कि वे वहाँ बसें और उसे आबाद करें, क्योंकि आबाद तो वह पहले से ही रहा होगा। यह अनुदान शायद पुरोहितों को सन्तुष्ट करने की नीति का परिणाम था क्योंकि गाहड़वालों के अधीन उत्तर प्रदेश की समाज-व्यवस्था में पुरोहितों का स्थान काफी महत्वपूर्ण था। जो भी हो इतना तो स्पष्ट है कि ५०० ब्राह्मणों को १३० गाँव दान में दिये गये। अन्य भी पुरोहितों और ब्राह्मणों को ग्राम समूह दान करना जारी रहा। गोविन्दचन्द्र ने कुछ ब्राह्मणों को ६ गाँव दिये[3] और जयच्चन्द्र ने भी।[4] इसके अतिरिक्त गाहड़वाल परिवार के राजकुमारों अथवा रानियों ने भी राजा की अनुमति से दो या तीन गाँव दान किये।[5] उपलब्ध प्रमाणों से प्रकट होता है कि गाहड़वाल राजाओं ने सामाजिक प्रयोजनों की अपेक्षा धार्मिक प्रयोजनों से बहुत अधिक गाँव दान किये। किन्तु हमारे अध्ययन की दृष्टि से ज्यादा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि यद्यपि गाहड़वालों के राज्य में पूरा आधुनिक उत्तर प्रदेश भी शामिल नहीं था और दक्षिण में

---

१ ए० इ० १४, नं० १९।

२ रमा नियोगी, स० प्र० पु०, पृष्ठ १८७।

३ ए० इ०, ११ नं० ३ पंक्ति १२।

४ इ० ए० १८, पृष्ठ १३१ पंक्ति २०।

५ पी० नियोगी दि इकनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नॉर्दर्न इंडिया पृष्ठ ५१२।

उसकी सीमा शायद यमुना में भाग भी नहीं पहुंचती थी, फिर भी उस राज्य का एक पूरी परगना, जिसमें कम-से-कम १०० गाँव रहे होंगे, तथा ११० अन्य गाव[1] गृहस्थ एवं धार्मिक ग्रहीतात्मा के हाथों में थे। ये अनुदानभागी केंद्रीय सत्ता को किसी प्रकार का कर नहीं देते थे और प्रजा तथा राजा के बीच महत्त्वपूर्ण वर्ग का काम करते थे।

अब हम गाहड़वालों के पड़ोसी राजवंश चन्देलों को लें। चन्देलों का राज्य यमुना से दक्षिण बुन्देलखण्ड में था। यहाँ भी स्थिति गाहड़वालों के राज्य से बहुत भिन्न नहीं थी। बुन्देलखण्ड में अधिकांश अनुदानों में एक एक गाँव ही दान किया गया, और चन्देल राजाओं ने गृहस्थ तथा धार्मिक ग्रहीतात्मा को अलग अलग कुल मिलाकर १५ गाव दिये।[2] केवल इन्हीं अनुदानों के आधार पर विचार करने से प्रतीत होगा कि मुख्यतः सैनिक सेवाओं के पुरस्कार-स्वरूप अनुदान पानेवाले ग्रहीता भी उतने ही महत्त्वपूर्ण थे जितने कि धार्मिक ग्रहीता। लेकिन ऐसा निष्कर्ष तभी निकाला जा सकता है जब परमर्दिन के एक अभिलेख को छोड़ दिया जाय। उसके ११६७ के सेमरा ताम्रपत्रों में ३०६ ब्राह्मणों को चार विषयों में बिखरे कई गाव दान किये गये हैं।[3] इन ताम्रपत्रों में केवल ११ स्थानों के ही नाम दिये गये हैं इसलिए ऐसा लगना स्वाभाविक ही है कि केवल इतने ही गाव दान किये गये। लेकिन अगर हम इन नामों पर ध्यान से विचार करें तो देखेंगे कि इनमें से कुछ से ग्राम समूहों का बोध होता है। इस प्रकार पीलिगिनी पचेल इटाव पचेल और इसरहार पचेल तीन अलग अलग गाँव नहीं, बल्कि पाच पाँच गावों के तीन समूह थे। इसी तरह वटौड-द्वादशक और टाण्टद्वादशक से बारह बारह गावों के दो समूहों का बोध होता है और हाराष्टादशक एक नहीं बल्कि अट्ठारह गावों का सूचक है। शेष पाच नामों से एक एक गाँव का बोध होता है। इस प्रकार परमर्दिन के इस अभिलेख में ६२ गाव दान किये गये। यह देखते हुए कि ग्रहीतात्मा की संख्या ३०६ थी अनुदत्त गावों की यह संख्या अधिक नहीं मानी जानी चाहिए। लेकिन इस अनुदान में

---

१ रमा नियोगी की स० प्र० पु० के परिशिष्ट 'बी' के वर्ग ए, खण्ड २ में दिये गये भूमिदानपत्रों के आधार पर अनुमानित।

२ एस० के० मित्र कृत दि अर्ली रूलर्स ऑफ खजुराहो, परिशिष्ट १ के आधार पर अनुमानित। लेकिन इनमें से १५वाँ गाव त्रैलोक्यवर्मन के टिहरी फलक के आधार पर जोड़ा गया है।

३ ए० इ० ४, नं० २०।

मन्दपुर शहर और दो गाँव तथा शहर से संयुक्त ८७० जमीन शामिल नहीं की गयी है। इनसे भी हमारी इस मान्यता की पुष्टि होती है कि ब्राह्मणों के अधिकार वाले एक एक गाँव के मकान ग्राम समूह में शुमार हैं। मन्दिरों, पुरोहितों तथा अन्य लोगों की जमीनों में और भी बड़े मन्दिर बनाने के प्रमाण मिलते हैं। हमारे अध्ययन की दृष्टि से यह तथ्य अधिक महत्त्वपूर्ण है कि इनमें तथा अन्य अभिलेखों में भी मन्दिरों को गाँव दान किया गया है। ये अग्रहार धार्मिक तथा धर्मार्थ प्रयोजनों से अनुदान में दिये गए थे और इनमें से अधिकतर ब्राह्मण और अन्य लोगों के स्वामित्व में थे। यदि हम इन गाँवों का विचार न करें तब भी अभिलेखों द्वारा दान किये गये गाँवों की संख्या लगभग ८० तक पहुँच जाती है। कुन्तलदेश की कृषि-योग्य भूमि के विस्तार (८००० वर्गमील) को ध्यान में रखते हुए यह कोई छोटी संख्या नहीं थी।

गुजरात में चौलुक्यों ने भी बहुत-से अनुदान किये। पुरोहितों तथा जैन और हिन्दू मन्दिरों आदि धार्मिक संस्थाओं को राजाओं द्वारा जो अनुदान दिये गये उनमें से अधिकतर में एक या दो गाँव का ही दान शामिल है यद्यपि कुल मिलाकर इन गाँवों की संख्या दर्जन भर से कम नहीं है।[1] लेकिन प्रबन्धचिन्तामणि में, जो एक अर्ध ऐतिहासिक साहित्यिक कृति है, बताया गया है कि वालारदन में सिद्धराज ने ब्राह्मणों के लिए सिंहपुर नामक एक अग्रहार स्थापित किया जिसमें १०६ गाँव शामिल थे। चौलुक्यों ने बहुत-से मन्दिर बनवाये जिनमें से प्रत्येक के व्यय के लिए ग्राम अनुदान दिये गये होंगे। कुमारपाल ने १४४० जैन मन्दिर बनवाये—प्रायः प्रत्येक गाँव में एक एक।[2] हमें यह जानकारी तो नहीं है कि इन मन्दिरों के निर्वाह के लिए कितने गाँव दिये गए लेकिन मुसलमान इतिहासकार ने सोमनाथ मन्दिर के अधीनस्थ गाँवों की जो संख्या बताई है उसे देखकर आश्चर्य होता है। कहा गया है कि १०,००० ऐसे गाँव जिनमें भली भाँति खेती बाड़ी होती थी, इस मन्दिर के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में थे।[3] यह संख्या भले ही अतिरंजित हो लेकिन इस कथन की सचाई में सन्देह करने का कारण नहीं दिखाई देता कि हिन्दुस्तान के विभिन्न

---

१ इ० ए०, ६ पृष्ठ १९१ १९३, १९९, १८, पृष्ठ १०८, ११ पृष्ठ ३३७ आदि।

२ ए० के० मजुमदार चौलुक्याज ऑफ गुजरात, पृष्ठ ३१८ ९। सिद्धराज ने सिंहपुर अग्रहार में अनेक गाँव दान किये। वही, पृष्ठ २११।

३ इलियट व डावसन ४ १८।

राजाओं ने इस कुल मिलाकर दो हजार गाव दान किये। जो भी हो इतना तो निश्चित ही है कि अन्य किसी भी धार्मिक संस्था के अधीन इतने अधिक गाव नहीं थे। यहा तक कि नालन्दा के पास भी केवल २०० गाव ही थे।

ऐसा लगता है कि चौलुक्यो ने जिस उदारता से धार्मिक ग्रहीताओं को ग्राम अनुदान दिये, उसी उदारता से सामन्तो और राज्याधिकारियो को भी दिये। शायद १२६ गावो की एक इकाई राज परिवार के सदस्य के रूप में राजा के उपभोगार्थ भी दिया गया था।[1] सामन्तो तथा राज्याधिकारियो को जागीरो के रूप में बड़े-बड़े क्षेत्र दिये गये। १२०६ में तो एक उच्च अधिकारी को, जिसे भीमदेव ने जागीर के रूप में शायद सारा सौराष्ट्र मण्डल दे दिया था एक सम्पूर्ण पत्तला दान किये जाने का भी उल्लेख मिलता है।[2] प्रबन्ध चिन्तामणि में ज्ञात होता है कि कुमारपाल ने आलिग नामक एक कुम्भकार को चित्रकूट नाम की पट्टिका अनुदान में दे दी, जिसमें ७०० गाव शामिल थे।[3] सम्भव है कि यह संख्या अतिरंजित हो। इसी प्रकार रासमाला में वर्णित यह अनुश्रुति भी अतिरंजित हो सकती है कि मूलराज ने बहुत सारे औदीच्य ब्राह्मणो को गुजरात बुलाकर उन्हें अनेक गाव दान में दिये। अभी तक इसकी पुष्टि किसी अभिलेख से नहीं हो सकी है।[4] लेकिन यह अनुश्रुति कि मूलराज ने ब्राह्मणो को सिंहपुर का सुन्दर और समृद्ध नगर दान में दिया और साथ ही सिद्धपुर और सिहोर के निकट बहुत-से ब्राह्मणो को अनेक छोटे छोटे गाँव भी दिये[5] सर्वथा अविश्वसनीय नहीं मानी जा सकती। ब्राह्मण लोग मुख्यत कन्नौज और उज्जैन से गुजरात में बुलाये गये थे और गुजरात आकर वे मठो के संस्थापक या प्रधान बन गये।[6] गुजरात में ब्राह्मणो की अपेक्षा मन्दिरो को अधिक गाँव दिये गये और वहाँ ब्राह्मण इन मन्दिरो के पुरोहित अथवा यासी

१ ए० इ०, १ न० ३६, पंक्तियां ३ ४। यहाँ प्रयुक्त स्वभुज्यमान शब्द का अर्थ प्रत्यक्ष रूप से राजा द्वारा भुक्त क्षेत्र हो सकता है।

२ इ० ए० १८ ११२ पंक्तियाँ १६ २३।

३ मेरुतुंगाचार्य कृत प्रबन्धचिन्तामणि स० जिन विजय मुनि, पृष्ठ ८०।

४ एच० डी० संकलिया आर्कियोलॉजी ऑफ गुजरात पृष्ठ २०८।

५ फार्ब्स, रासमाला पृष्ठ ६४ ८ लक्ष्मी शंकर व्यास कृत चौलुक्य कुमारपाल (हिन्दी कृति), पृष्ठ १७७ पर उद्धृत।

६ संकलिया, म० प्र० पु० पृष्ठ २०६।

बन गए।[1] भूमि अनुदानों के ये सारे पुरालेखीय तथा साहित्यिक प्रमाण इस बात की साक्षी भरते हैं कि गुजरात के चौलुक्यों के अधीन धार्मिक और विशेष कर गृहस्थ ग्रहीताओं के हाथों में बहुत बड़ा क्षेत्र था।

इस काल में बघेलखण्ड में अनुदत्त क्षेत्र का भी एक मोटा अन्दाजा हम ले सकते हैं। यह क्षेत्र १०वीं से १२वीं सदी तक कलचुरि राजवंश की विभिन्न शाखाओं के शासन में था। यहां गांव मुख्यतः ब्राह्मणों को ही दान किए गए जिनके सहयोग और समर्थन से कलचुरि नामक पिछड़े इलाका पर अपना नियन्त्रण रख सकते थे। अधिकांश अनुदानों में एक-एक गांव ही दान किया गया।[2] उदाहरण के लिए कर्ण (१०४१ ७३) ने वडाली के एक ग्रहीता को एक गांव दान किया।[3] लेकिन एक अनुदानपत्र से ज्ञात होता है कि राजा और राजपरिवार के सदस्यों ने नायक उस नगर के विष्णु मन्दिर से सम्बद्ध ८ ब्राह्मणों को ५ गांव दिये।[4] द्वितीय युवराजदेव के एक अभिलेख में पता चलता है कि उसकी प्रिय पत्नी नोहाला ने किसी शव सन्त को २ और शिव मन्दिर को ७ गांव अनुदान में दिये।[5] उसने एक अन्य अनुदान में शायद २३ और २६ नहीं तो कम से कम १६ गांव तो दिये ही।[6] कलचुरियों की गोरखपुर की सरयूपार शाखा ने भी भूमि अनुदान दिये। सोढदेव (११३५) द्वारा १४ ब्राह्मणों को दिये एक अनुदान से ज्ञात होता है कि दान किया गया २० नातु क्षेत्र छः गांवों में बिखरा हुआ था।[7] त्रिपुरी तथा रत्नपुर के कलचुरियों और उनके सामन्तों के अनुदान पत्रों से ज्ञात होता है कि उन्होंने धार्मिक प्रयोजनों से कुल मिलाकर ६५ गांव अनुदान में दिये। यह संख्या उतनी बड़ी नहीं है जितनी बड़ी संख्या में चन्देलों ने ग्राम दान दिये। लेकिन यदि हम एक अभि-

---

१ वही।
२ का० इ० इ०, ४ नं० ६३, पंक्तियाँ १६ २५ श्लोक २६ ३०।
३ वही नं० २८८ पंक्तियाँ ३२ ४१।
४ वही नं० ४२ श्लोक ३० ४२।
५ वही नं० ४५ श्लोक ४३ ४५।
६ वही नं० ४६ श्लोक ३६ ४२।
७ वही नं० ७४ श्लोक ३० पंक्तियाँ ३२ ४६। हाल में एक विद्वान ने यह मत प्रकट किया है कि इस अभिलेख में उल्लिखित छः स्थान नामों को एक ही गांव के छः पुर माना जा सकता है (पी० नियोगी स० प्र० पृ० पृष्ठ १६) लेकिन लगता है असल में तात्पर्य छः गांवों से ही है।

लेख में अंकित एक अनुश्रुति का विश्वास करें तो मानना होगा कि त्रिपुरी राज्य का एक बहुत बड़ा हिस्सा किसी मठ को अनुदान में दे दिया गया। इस अभिलेख के अनुसार गोलकी मठ के प्रधान सद्भाव शंभु को कलचुरी राजा प्रथम युवराज से तीन लाख गाँवों का अनुदान प्राप्त हुआ। अनुश्रुति के अनुसार प्रथम युवराज के राज्य के केंद्रीय प्रदेश डाहल में नौ लाख गांव शामिल थे।[1] इस प्रकार उसने अपने कुल राजस्व का एक-तिहाई उक्त मठ को अनुदान में दे दिया। स्पष्टतः यह अनुश्रुति अक्षरशः सत्य नहीं हो थी क्योंकि उसके राज्य में नौ लाख गांव कहां से आ सकते थे? परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि कलचुरि राजाओं ने मठों को मुक्तहस्त होकर दान दिये।[2] इनके दान दाक्षिण्य का लाभ विशेषकर शैव मठों को प्राप्त हुआ और जिस प्रकार रूप तथा पाल राजाओं के शासन-काल में बौद्ध मठ एक महत्वपूर्ण भूमिधर मध्यवर्ती वर्ग बन गये थे, उसी प्रकार कलचुरियों के राज्य में शैव मठों का उदय हुआ।

मध्य भारत का पश्चिमी हिस्सा मालवा ११वीं और १२वीं सदियों में परमारों के अधीन था। यहां हमें कुछ अलग ढंग की तसवीर देखने को मिलती है। यहां राज परिवार के लोगों, सामंतों तथा राज्याधिकारियों के हाथों में शायद ज्यादा जमीन थी और कुल मिलाकर ऐसा जान पड़ता है कि अनुदत्त भूमि के एक बहुत बड़े हिस्से की व्यवस्था पुरोहितों तथा मंदिरों के बजाय इन लोगों के हाथों में थी। परमार राज्य के सीमावर्ती क्षेत्रों में एक सामंत के हाथों में शायद १४०० गांव थे जो उसे राज्य की सेवाओं के पुरस्कार स्वरूप प्राप्त हुए थे। मालवा तथा उसके आसपास के क्षेत्रों के इस तरह अनेक जागीरों में बँट जाने का मुख्य कारण शायद यह था कि वहां का शासक परिवार सारी सम्पत्ति अपने सदस्यों के बीच बराबर बराबर बांट लेने की परम्परा में विश्वास रखता था। उन्होंने इस राजवंश की अलग अलग लगभग आधा दर्जन शाखाओं की स्थापना की थी। परमार राज्य का अधिकांश हिस्सा शायद जागीरों में बँटा हुआ था। धार्मिक प्रयोजनों से दान किये गाँवों की संख्या बहुत कम जान पड़ती है, और इस तरह के जो अनुदान दिये गये उनमें मुख्यतः एक एक गांव ही शामिल था।[3] इनके अलावा धार्मिक उद्देश्यों से जमीन के छोटे छोटे टुकड़े

---

१ मिराशी का० इ० इ०, ४ प्रारम्भिक पृष्ठ १५८।

२ वही

३ ए० इ०, ९ न० ३६ अनुदान ए इ० ए०, ६, पृष्ठ ५२ ३ पंक्तियां ७ २४, ए० इ० ८ न० २१, पृष्ठ २०६ ६ न० १३ बी।

भी दान दिये जाते थे।[1]

राज परिवार के सदस्यों के बीच गाँवों के बाँटे दिये जाने के प्रचुर उदाहरण चाहमान अभिलेखों में मिलते हैं। चाहमान राज्य का जो इलाका राजस्थान में पड़ता था, उसमें तो ऐसे गाँवों की संख्या कम ही जान पड़ती है जिनके स्वामी मंदिर और ब्राह्मण थे। इससे तो निश्चय है कि वहाँ जितने गाँव राज परिवार के कुटुम्बियों, अन्य सामन्तों तथा राज्याधिकारियों के हाथों में थे उतने मंदिरों और ब्राह्मणों के हाथों में नहीं थे। कहने का अभिप्राय यह कि राज परिवार के उन कुटुम्बियों के जो गाँव थे तथा राज्याधिकारियों ने स्वयं भी धार्मिक प्रयोजनों से कभी कभी ग्राम दान किया करते थे।

१०वीं सदी के उत्तरार्ध में और ११वीं सदी में कन्या के पहाड़ी राज्य में भी धार्मिक उद्देश्यों से भूमि अनुदान दिये गये और कभी-कभी ये अनुदान अग्रहारों के रूप में भी दिये गये।[2] लेकिन वहाँ ग्राम अनुदान दिये जाने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। शायद घाटी के सामान्य जमीन की कमी के कारण जमीन के छोटे छोटे टुकड़े ही अनुदान में दिये जाते थे। गृहस्थों को भी भूमि-अनुदान दिये जाते थे।[4] यद्यपि इस बात का कोई ठोस अन्दाजा लगाना भी कठिन है कि विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के हाथों में उपहारों या जागीरों के रूप में कुल मिलाकर कितनी जमीन थी।

८वीं से लेकर १०वीं सदी तक जब उत्तर भारत में पालों और प्रतीहारों का शासन था इस क्षेत्र में दिये गये ग्राम अनुदानों के जितने अभिलेख मिलते हैं उनसे बहुत अधिक दिल्ली सल्तनत की स्थापना से पहले की तीन सदियों में मिलते हैं। उत्तर प्रदेश और मध्य भारत में प्रतीहारों के समय में इतने अधिक गाँव अनुदान में कभी नहीं दिये गये थे। वास्तव में ११वीं और १२वीं सदियों में भूमि अनुदान देने का चलन उत्तर भारत में सर्वत्र फैल गया। मालवा गुजरात और राजस्थान के अभिलेखों से ऐसा जान पड़ता है कि इन क्षेत्रों में जमीन का अधिकांश हिस्सा जागीरों के रूप में राज परिवार के कुटुम्बियों

---

१ ए० इ० ११, न० १८, पंक्तियाँ ७ १८।

२ ए कापर प्लेट ग्रांट आफ सल्हणस रेन वी० १२०५ ' दशरथ शर्मा अर्ली चौहान डाइनेस्टीज पृष्ठ १८१ २, पंक्तियाँ १३ १४।

३ आ० स० इ० १९०२ ३, पृष्ठ २५२ ३, पंक्तियाँ ११ २५ पृष्ठ २६० १, पंक्तियाँ १५ ३२।

४ वही।

सामन्तों तथा राज्याधिकारियों के हाथों में ही था, और ऐसा लगता है कि इन क्षेत्रों में इन गृहस्थ ग्रहीताओं को पुरोहितों तथा मन्दिरों की अपेक्षा अधिक ग्राम अनुदान दिये गये। लेकिन उत्तर प्रदेश और मध्य भारत में पुरोहितों के हाथों में गृहस्थ ग्रहीताओं की अपेक्षा अधिक भूमि थी। बिहार, बंगाल और असम में इस विषय में तथ्यों और आँकड़ों का बड़ा अभाव है। इसलिए जो थोड़ी-सी जानकारी हमें मिलती है, उसके आधार पर कोई सामान्य निष्कर्ष निकालना निरापद नहीं होगा। हाँ, हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि इन क्षेत्रों में नालन्दा जैसे मठ और विहार मुसलमान विजेताओं के आगमन के समय तक फूलते-फलते रहे और अनेकानेक गाँवों का उपभोग करते रहे।

धार्मिक अनुदानों अथवा धर्मेतर जागीरों के रूप में भोगियों के हाथों में जो गाँव थे उनकी संख्या और अनुपात के विषय में कुछ कह सकना असम्भव है। ऐसा कोई अध्ययन अभी तक यूरोप के सम्बन्ध में भी नहीं हुआ है, यद्यपि यूरोपीय देशों में इस विषय में काफी साक्ष्य प्रमाण उपलब्ध हैं। उत्तर भारत में यदि हम अभिलेखों में उल्लिखित सभी अनुदत्त गाँवों का योग निकाल भी लें तो कुल गाँवों की तुलना में अनुपात क्या था, यह कहना असम्भव होगा क्योंकि हमें कुल गाँवों की संख्या मालूम नहीं है। फिर भी, इस काल के भूमि अनुदानपत्र इस बात के निर्विवाद प्रमाण हैं कि धार्मिक तथा धर्मेतर अनुदान के रूप में गाँव देने का चलन बहुत व्यापक हो चला था, और इस कार्य के निमित्त उत्तर भारत के राज्य महासान्धिविग्रहिक, महाक्षपटलिक और धर्मलखी जैसे कई तरह के अधिकारी विशेष रूप से रखते थे। इस सब का मतलब यह था कि विभिन्न स्तरों के भूमिधर मध्यवर्ती लोगों की संख्या काफी बढ़ गयी थी—जो इस काल की अर्थव्यवस्था की विशेषता थी।

पालों तथा प्रतीहारों के राज्यों में सामान्यतया अनुदत्त गाँवों की सीमाएँ स्पष्ट रूप से निर्धारित नहीं की जाती थीं।[१] इससे एक ओर जहाँ अनुदान-भोगियों को अपने अपने निजी क्षेत्रों की सीमा में वृद्धि करने की सुविधा प्राप्त हुई वहाँ दूसरी ओर इसका एक लाभ यह हुआ कि कृषि योग्य भूमि के क्षेत्र में विस्तार हुआ क्योंकि सीमा निर्धारित न होने के कारण अनुदानभोगी अनुदत्त गाँवों के आसपास के जंगलों और परती जमीन को कोड़-कमाकर खेती के लायक बनवा लेते थे। जहाँ तक पूर्वी बिहार और बंगाल का सम्बन्ध है, ऐसा

१ लेकिन कतिपय पाल और राष्ट्रकूट अनुदानपत्रों में अनुदत्त गाँवों के परिवेशों का उल्लेख करके सीमा का स्पष्ट निर्धारण कर दिया गया है।

जान पडता है कि ११वीं और १२वीं सदियों में प्रथम महीपाल (९८८ १०३८)[१] तृतीय विग्रहपाल[२] और मदनपाल (११४० ५०)[३] के शासन-काल में अनुदत्त गांवों की सीमा अनिर्धारित छोड देने का चलन कायम रहा। इन राजाओं के अनुदानपत्रों में जो गांव दान किये गये हैं उनकी सीमाओं में इन में तिण यारा प्रार की गोचर भूमि और भाड भगना का हा उल्लेख किया गया है।[४] सीमा न निर्धारित करने के चलन का अनुसरण पूर्वी बंगाल के वमनों[५] और पाल राजाओं के कुछ साम तों[६] न भी किया। बंगाल भाग पासर भी गया के पास पीठी के सन राजाओं[७] और सग्रामगुप्त ने जो १२वीं सदी के अन्तिम वर्षों में अथवा १३वीं सदी के प्रारम्भ में दक्षिण मुंगेर में शासन करता था[८] इस चलन को कायम रखा। यद्यपि सग्रामगुप्त के अनुदानपत्र में अनु सीमावच्छिन्न[९] का प्रयोग हुआ है लेकिन वास्तव में सीमा निर्धारित नहीं की गयी है।

लेकिन सेन राजा जिन्होंने १२वीं सदी में और १३वीं सदी के प्रारम्भ में पूर्वी बंगाल में धीरे धीरे वमनों के प्रभुत्व को समाप्त कर दिया और पाल राज्य के एक बहुत बडे हिस्से पर कब्जा कर लिया अनुदत्त गांवों और जमीन के टुकडों की सीमाएँ बराबर निर्धारित कर दिया करते थे।[१०] चन्द्रों ने भी, जो पूर्वी बंगाल में शायद सेनों के समकालीन शासक थे इस चलन का अनुसरण किया। लाडहचन्द्र के मनामती ताम्रपत्रों में अनुदत्त गांवों की सीमाएँ साफ

---

१ ए० इ० २९ नं० १, 'बी' पंक्ति ४१। लेकिन बेलवा ताम्रपत्र के नाम [illegible] शात यह अनुशासनपत्र ९९२ ई० के आस पास जारी किया गया।

२ वही, नं० [illegible] पंक्ति ३२।

३ ज० ए० सो० ब० ६६, भाग १ ६६ से आग पंक्ति ३९।

४ कहीं-कहीं धृति शब्द के बदले 'पूति' का प्रयोग हुआ है।

५ इ० ब०, ३ पृष्ठ २३ ४ पंक्तियां ३७ ४१।

६ ज० बि० ओ० रि० सो०, ४ २८०, श्लोक २ ३।

७ वही पृष्ठ १५६ ७ पंक्तियां २१ ३२।

८ वही, ५ ५९३ ४, पंक्ति १०।

९ वही।

१० इ० ब० ३, पृष्ठ ७८, पंक्तियां ३७ ४४, पृष्ठ ११४ १५, पंक्तियां ३९-५१, पृष्ठ १२९ ३१ पंक्तियां ४६ ५०।

साफ बता दी गयी हैं।[1] बाद में चलकर इस प्रकार अनुदत्त क्षेत्रों की सीमाएँ, क्षेत्रफल तथा आय के निर्धारित किये जाने से ऐसा प्रतीत होता है कि अनुदाता के परिणामस्वरूप उत्तरोत्तर अधिकाधिक जमीन के खेती लायक बनाये जाने की सम्भावना अब समाप्त हो गयी थी। इस काल में असम पर यह बात लागू नहीं हो सकती थी, यद्यपि यहाँ के अभिलेखों में अनुदत्त जमीन के टुकड़ों की सीमाएँ और उनसे होनेवाली उपज स्पष्ट शब्दों में बता दी गयी है।[2] असम में सीमा निर्धारित करने का कारण शायद यह था कि वहाँ गाँवों की बजाय जमीन के टुकड़े ही दान किये जाते थे। परन्तु आमतौर पर ऐसा लगता है कि अनुदत्त क्षेत्रों की सीमाएँ निर्धारित होने के कारण अनुदानभोगी अब अपना क्षेत्र विस्तार नहीं कर पाते होंगे।

पूर्वी बंगाल के विपरीत, उत्तर प्रदेश में गाहड़वालों तथा उनके सामन्तों द्वारा अनुदान में दिये गये गाँवों की सीमाएँ आमतौर पर नहीं बतायी गयी हैं। इस सम्बन्ध में सामान्यतया 'सीमापर्यन्त ग्राम' शब्दावली का प्रयोग किया गया है पर सीमा क्या है इसके लिए चतुराघाटविशुद्ध[3] शब्द का व्यवहार हुआ है जिसका अर्थ है प्रतिस्पर्धी सीमाएँ। स्पष्ट है कि प्रतिस्पर्धी सीमाएँ कहने से किसी निश्चित सीमा का बोध नहीं होता है। वास्तव में केवल एक ही गाहड़वाल अनुदानपत्र में अनुदत्त गाँव की चारों सीमाएँ स्पष्ट रूप से बतायी गयी है। वह है गोविन्दचन्द्र का बसाही अनुदानपत्र।[4] गाहड़वालों ने अधिकांश भूमि अनुदान विकसित क्षेत्रों में ही दिये। इसलिए सीमा न निर्धारित करने का कारण समझ में नहीं आता। शायद ऐसा मान लिया जाता होगा कि अनुदत्त क्षेत्र की सीमाएँ तो सबको ज्ञात हैं ही इसलिए उनका उल्लेख क्या किया जाये ? लेकिन अगर ऐसा मानकर ही सीमाएँ निर्धारित नहीं की जाती थीं, तो भी ऐसी सम्भावना दिखायी देती है कि भोगी इस स्थिति का लाभ अपने निजी क्षेत्र के विस्तार के लिए उठाने से बाज नहीं आये होंगे।

---

१ ताम्रपत्र १ पंक्तियाँ ६ ११, ताम्रपत्र २, पंक्तियाँ ८ ११। ये ताम्रपत्र अब पाकिस्तान पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग में सुरक्षित हैं।

२ ज० ए० सो० ब ६६ भाग १ पृष्ठ २८१ ७, वही, ६७ भाग १, पृष्ठ १२० वही ६६, भाग १ पृष्ठ १३० १।

३ इ० ए०, १८ ११ १६, १३१, १३६, १३७, १३९, १४०, १४१, १४३।

४ वही।

५ इ० ए०, १८, १०३।

बघेलखण्ड के कलचुरि राज्य में भी अनुदत्त गाँव की सीमा नहीं बतायी जाती थी। त्रिपुरी तथा रत्नपुर के कलचुरियों और उनके सामंतों द्वारा जिन ६५ गाँवों के अनुदान में दिये जाने के अभिलेखीय प्रमाण मिलते हैं,[1] उनमें से एक की भी सीमा निर्धारित नहीं की गयी है। बहुत-से अनुदत्त गाँवों का तो केवल उल्लेख मात्र कर दिया गया है और उनके सम्बन्ध में कहीं कोई तफसील नहीं दी गयी है। विशेषकर कलचुरियों के सामंतों द्वारा अनुदत्त गाँवों पर यह बात लागू होती है। इस सबका एक कारण समझ में आता है। वह यह है कि बाहर से[2]—विशेषकर उत्तर प्रदेश से—ब्राह्मण लोग आ आकर मध्य भारत में बसते थे। इससे खेतीबाड़ी के नये नये तरीकों का इस क्षेत्र में चलन हुआ होगा और फलतः यहाँ की कृषि के विकास में मदद मिली होगी। लेकिन साथ ही इसका एक नतीजा यह भी हुआ होगा कि अनुदत्त गाँवों में भूमि पर किसानों का स्वामित्व स्थापित नहीं हो पाता होगा।

जो स्थिति मध्य भारत के पूर्वी हिस्से की थी, वही मालवा के पश्चिमी हिस्से की भी थी। यहाँ भी परमार राजाओं के अनुदान पत्रों में अनुदत्त गाँवों की सीमाएं निर्धारित नहीं की गयी हैं। एक अनुदान में यह कहा गया है कि इस गाँव का विस्तार एक कोस[3] है लेकिन अन्य अनुदान-पत्रों में इतना भी नहीं कहा गया है।[4] फिर भी इनमें उस शब्दावली का प्रयोग हुआ है जो पाल

---

१ का० इ० इ० ४ नं० ४२ श्लोक ३० ४२ नं० ४५ श्लोक ४३ ५, नं० ४६ श्लोक ३४ ४२ नं० ४८ पंक्तियां ३६ ४० नं० ५० पंक्तियाँ ३८ ४८ नं० ५६ पंक्ति २८ नं० ६० श्लोक २९ ३० नं० ६३ पंक्ति २७ नं० ६५ पंक्तियाँ ११ १२, नं० ६८ पंक्तियां ७ १० नं० ७० पंक्ति १३ नं० ७४ पंक्तियाँ ८ ११, नं० ७७, श्लोक ३३ नं० ८२ पंक्तियाँ १८ २०, नं० ८३ श्लोक २० नं० ८६ श्लोक १६ नं० ८८ श्लोक २३, नं० ८९ श्लोक १६, नं० ९१ श्लोक १५ १६, नं० ९४ श्लोक १५, नं० ९६ श्लोक ३९ नं० ९७, श्लोक १३ नं० ९८ श्लोक ४२, नं० ९९, श्लोक १८ नं० १०१ श्लोक २९ नं० १०२ श्लोक १९, नं० ११७ पंक्तियाँ ८ १० नं० १२३, श्लोक १५, का० इ० इ०, ४ ६५२।

२ मिराशि का० इ० ४ इ० प्रारम्भिक पृष्ठ १६६।

३ इ० ए० ६ पृष्ठ ५२ ३, पंक्तियाँ ७ ७४।

४ वही १८ पृष्ठ १६० पंक्तियाँ ९ १७ प्रासिडिंग्स ऑफ (लेटर ऑल-इंडिया) ओरियण्टल कान्फरेंस ७ ३२५ ६।

अनुदानपत्रों तथा ऐसे ही अन्य दस्तावेजों में अक्सर मिलती है। तात्पर्य 'स्वसीमातृणयूति गोचरपर्यन्त' से है। ऐसा जान पड़ता है कि मालवा में अब भी परती जमीन को आबाद करने की गुंजाइश थी, क्योंकि बाहर के बहुत से स्थानों के ब्राह्मणों को मालवा में बसने के लिए निमंत्रित किया गया।[1] लेकिन यह भी सम्भव है कि इनमें से बहुतों को परती जमीन आबाद कराने के बजाय इस उद्देश्य से बुलाया गया हो कि वे परमार राजाओं का समर्थन दें।

बहुत से चन्देल अनुदानपत्रों में भी अनुदत्त गांवों की सीमाएँ निर्धारित नहीं की गयी हैं। यह बात खासकर बारहवीं सदी से पहले दिये गये अनुदानों पर लागू होती है।[2] यद्यपि बाद के कुछ अनुदानपत्रों में भी ऐसा देखने को मिलता है।[3] चन्देल अनुदानपत्रों में इस सदर्भ में उसी शब्दावली का प्रयोग हुआ है जिसका प्रयोग गाहड़वाल अनुदानपत्रों में हुआ है। सीमा का सकेत देते हुए बस इतना कहा गया है "चारों प्रतिस्पर्धी सीमाओं तक फैला हुआ (गांव)", पर ये सीमाएँ नहीं बतलायी गयी हैं। परमर्दिन के एक अनुदानपत्र (११६७) में शायद ६२ या इतना नहीं तो कम से कम ११ गांवों के अनुदान का उल्लेख तो मिलता ही है लेकिन इनमें से किसी भी गांव की सीमाएँ नहीं बतायी गयी हैं।[4] मगर ११३४ में मदनवर्मन् द्वारा दान किये जमीन के एक टुकड़े की सीमाओं और उपज का उल्लेख हुआ है।[5] परमर्दिन के महोबा प्लेट (११७३) में भी अनुदत्त भूमि की सीमाएँ और क्षेत्रफल बताया गया है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि चन्देल राजा यदि जमीन के टुकड़े दान करते थे तब तो वे उनकी सीमाएं निर्धारित कर देते थे, लेकिन ग्राम अनुदानों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं करते थे। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि चन्देल अनुदानों से अनुदानभोगियों को इस बात की काफी सुविधा मिली कि वे प्राप्त गांवों के इर्द गिर्द अपने क्षेत्र का विस्तार करें।

गुजरात में, जहां चौलुक्यों का शासन था स्थिति इससे बिलकुल भिन्न जान पड़ती है। अनुदत्त गांव की सीमाएँ अनिर्धारित छोड़ देने की रीति का पालन शायद १०वीं सदी के अन्तिम चरण में मूलराज के शासन-काल में किया

१ डी० सी० गांगुली, हिस्ट्री ऑफ दि परमार डाइनेस्टी, पृष्ठ २४०।

२ इ ए, १६, २०४, पंक्तियां ६ ११, वही २०६ ७ पंक्तियां ६ १५।

३ ए० इ १६ न० २० पंक्ति ७ १४ इ० ए १६ पृ० २०९ १०, पंक्तियां ५ ७, १५ १७, ए० इ ३२, ११९ २०, ३१ न० ११, पंक्तियां १२ १८।

४ ए० इ० ४ न० २०, पंक्तियां ६ ११।

५ इ० ए०, १६, पृष्ठ २०९ १०, पंक्तियां ५ ७।

गया।[1] अजयपाल के एक चाहमान सामन्त ने १० ग्रामों के अपने पौत्र के लिए ११७५ में दान किये गये एक गाँव की सीमाएँ निर्धारित नहीं की गयी।[2] लेकिन प्रथम भीम के द्वारा दान किये गये एक गाँव[3] और द्वितीय भीमदेव[4] तथा उसके किसी अधीनस्थ सामन्त[5] द्वारा दान किये जमीन के कुछ टुकड़ों की सीमाएँ साफ साफ बतायी गयी हैं। लेकिन ऐसे अभिलेख अनुपात में बहुत कम हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर ऐसा ज्ञात होता है कि गुजरात में १२वीं तथा १३वीं सदियों में अनुदत्त गाँवों की सीमाएँ निर्धारित कर दी जाती थीं जो उस क्षेत्र में निर्मित सामन्ती व्यवस्था के उपयुक्त ही था। लेकिन ११वीं और १२वीं सदियों में आम तौर पर दान गाँवों की सीमाएँ नहीं बतायी जाती थीं और इस अनिश्चितता का लाभ उठाकर ग्रहीता लोग अपने अधीनस्थ क्षेत्रों का विस्तार किया करते थे।

११वीं और १२वीं सदियों के भूमि अनुदानों से ग्रहीताओं को जमीन और उसकी अन्य संपदाएँ हस्तगत करने में और भी सहायता मिली। कतिपय प्रारम्भिक पाल अनुदानपत्रों में अनुदान देते हुए सामन्तों राज्याधिकारियों तथा ग्राम्य समाज की औपचारिक अनुमति माँगी गयी है, किन्तु परवर्ती पाल अनुदानपत्रों में तो इस औपचारिकता को भी तिलांजलि दे दी गयी है। अब उनसे अनुमति माँगने के बजाय उन्हें केवल अनुदानों की सूचना भर दे दी जाती थी।[6] यद्यपि पूर्वी बंगाल के चन्द्रों के ताम्रपत्रों[7] और दक्षिण मुंगेर में प्राप्त १३वीं

---

१ इ० ए० ८ पृष्ठ १९२ ३ प्लेट १ पंक्तियाँ ६ ११।

२ इ० ए० ८ पृष्ठ ८३ पंक्तियाँ १८ २१।

३ प्रथम भीमदेव का भद्रेश्वर अभिलेख पंक्तियाँ ३ ५। इसकी एक प्रतिलिपि को पढ़ने का श्रेय स्कूल आफ ओरिएण्टल एण्ड आफ्रिकन स्टडीज, लन्दन के डा० जे० डी० कालपेरि को है और उन्होंने ही इस प्रतिलिपि को पढ़कर यह अभिलेख मुझको देने की कृपा की।

४ इ० ए० १८ पृष्ठ ११० पंक्तियाँ ७ १२।

५ वही पृष्ठ ११३ पंक्तियाँ २६ ४२।

६ अब मतमस्तु शब्द के स्थान पर विदितमस्तु शब्द का प्रयोग होने लगा था। ए० इ० २९ नं० ७ पंक्तियाँ ३१, ज० ए० सो० बं० ६९, भाग १, प्रारम्भिक पृ० ६९ से आगे पंक्ति ३१।

७ लाडहचन्द्रदेव के दो मैनामती ताम्रपत्र जो पहले डा० ए० एच० दानी के पास थे किन्तु अब पाकिस्तान पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग के अधिकार में है।

सदी के ताम्रपत्रों में पुरानी औपचारिकता का निर्वाह किया गया है।[1] किन्तु उत्तर प्रदेश, मध्यभारत और गुजरात के नपति ग्रामीण लोगों की इच्छाओं को कोई महत्त्व नहीं देते थे। वे ग्राम प्रधानों, प्रमुख ग्रामवासियों तथा यदा-कदा किसानों को अनुदान की जानकारी तो दे देते थे, लेकिन उनसे विधिवत इसके लिए अनुमति नहीं माँगते थे। इससे इस बात का कुछ संकेत मिलता है कि गाँव के साधनों और संपदाओं पर ग्रामवासियों के अधिकार क्षीण होते चल जा रहे थे।

भूमि विषयक अधिकार अनुदानभोगियों के नाम हस्तान्तरित करने की दृष्टि से इस काल के अनुदानपत्रों में भी उसी पद्धति का अनुसरण किया गया है जो पालों और प्रतीहारों ने अपनायी थी, किन्तु इनमें ग्रहीताओं को दिये गये अधिकारों और रियायतों की सीमाएँ बहुत बढ़ गयी हैं और अब गाँव के प्रायः सारे साधन सपत्ति पर उनको अधिकार दिया गया। गोचर भूमि, उससे परे घास वाली जमीन, आम और महुआ के पेड़, जलाशय, झाड़ी झुरमुट, वन-प्रदेश, परती जमीन, खाई-खड्ड में पड़नेवाली जमीन, उपजाऊ जमीन, यदा-कदा बाढ़ में डूब जानेवाली जमीन आदि तो भोगी को पूर्ववत सौंप ही दी जाती थी, लेकिन अब इनमें कुछ और भी चीजें जुड़ गई थीं। उदाहरण के लिए, पूर्वी बंगाल के भूमि अनुदानों में सुपारी और नारियल के पेड़ लगभग निरपवाद रूप से ग्रहीताओं को दे दिये जाते थे।[2] पहले के अनुदानपत्रों में इनका उल्लेख शायद ही हुआ हो। जाहिर है कि अब पेड़, जो उन्हें रोपते उगाते थे, उनकी नकदी आय के प्रमुख साधन बन गये होंगे। इसके अतिरिक्त अब कभी-कभी अनुदत्त गाँव की नमक की क्यारियाँ भी ग्रहीताभोगों को दी जाती थीं।[3] बिहार[4], उत्तर प्रदेश[5] और बघेलखण्ड के कुछ अनुदानपत्रों में 'सलाहलवणकर' का प्रयोग हुआ है।

बंगाल के अनुदानपत्रों में मछली मारने का अधिकार ग्रहीताओं के नाम हस्तान्तरित नहीं किया गया है, यद्यपि तालाबों और अन्य जलाशयों पर उनके सामान्य अधिकारों की तो बात है। हो सकता है कि उस प्रदेश

१ ज० बि० ओ० रि० सो०, ४, १९३४, पंक्ति ६।

२ इं० ए० ३, पृष्ठ २३, ८ पंक्तियाँ ३७ ४१, पृष्ठ ११४ १५, पंक्तियाँ ३६ ४१, पृष्ठ १२८ ३१ पंक्तियाँ ५० ३।

३ इ० ए० ३ पृ० २३ ४ पंक्तियाँ ३७ ४१।

४ ज० बि० ओ० रि० सो०, ४, १९३४ पंक्तियाँ १० ११।

५ ए० इ०, ८, न० ४७, पंक्तियाँ ७ १८।

के निवासियों के मत्स्यप्रेमी होने के कारण यह अधिकार ग्रहीता को नहीं दिया जाता था। किन्तु गाहडवाल अनुपत्रों में मछली मारने का राजकीय अधिकार बड़े स्पष्ट शब्दों (मत्स्याकर)[1] में ग्रहीताओं को सौंप दिया गया है। नमक की क्यारियों और लोहे की खानों के हस्तान्तरण से[2] तो ग्राम वासियों के अधिकारों पर उतना अधिक प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता होगा क्योंकि ये चीजें सभी गाँवों में नहीं मिलती होंगी, किन्तु स्पष्ट है कि मत्स्याकर के अधिकार का हरण ग्रामीणों की जीविका पर बड़ा आघात था क्योंकि मछलीगाह लगभग सभी गाँवों में होते होंगे और ग्रहीता को बिना कुछ दिये ग्रामवासी मछली नहीं मार पाते होंगे।

चन्देल अनुदानपत्रों में हमें दान किये गाँवों और उनकी उपज आदि की सबसे विस्तृत सूची देखने को मिलती है। अनेक प्रकार के पेड़ों और खानों के अतिरिक्त इनमें कुसुम (केसर बनानेवाले फूल), ईख, रुई और सन के पौधे भी ग्रहीता को हस्तान्तरित किये गये हैं।[3] कुछ में तो हिरणों, पशी-परिन्दों और जलचरों का भी उल्लेख हुआ है।[4] स्वभावतः इससे ग्राम वासियों से उनका शिकार करने और मछली पकड़ने का अधिकार छिन जाता होगा। इसी प्रकार, कुछ सेन अनुदानपत्रों में और प्रायः सभी चन्देल अनुदानपत्रों में[5] ग्रहीताओं को अनुदत्त गाँवों में पड़नेवाले मन्दिर भी दे दिये गये हैं। बहुत सम्भव है कि ये मन्दिर गाँववाले मिल-जुलकर बनवाते हों और इनका उपयोग सामुदायिक प्रयोजनों के लिए किया जाता हो, लेकिन अनुदानभोगियों के नाम इनके हस्तान्तरण के बाद गाँववालों द्वारा इनका निर्बाध उपयोग कठिन ही हो जाता होगा। विशेष रूप से ब्राह्मण ग्रहीता तो मन्दिर को अर्पित पान प्रसाद और सम्पत्ति को स्वायत्त करने का लोभ संवरण नहीं ही कर पाते होंगे।

ग्रहीताओं को हस्तान्तरित किये जाने वाले विभिन्न प्रकार के साधनों में खनिज और भूगर्भ संपदा भी शामिल थी। स्पष्ट है कि इन पर राजा अपने स्वामित्व का दावा तो रखता होगा किन्तु अपने अमला के बल पर उसके लिए इस अधिकार का उपभोग करना मुश्किल पड़ता होगा और वास्तव में इन

---

१ ज० बि० ओ० रि० सो०, २, ६४३ ६ पंक्ति १४।

२ वही।

३ ए० इ० २० न० १४, पंक्तियाँ १७-२०।

४ ए० इ० १६ न० २, पंक्ति २६।

५ वही, पंक्ति २५ (यहाँ 'समन्दिर प्रकार' शब्द समुच्चय का प्रयोग हुआ है।)

चीजों का लाभ मुख्यतः ग्राम्य समाज ही उठाता होगा। लेकिन ग्रहीता तो खुद ही जगह पर मौजूद रहते थे, और इसलिए वे अपने अधिकारों पर गाँव वालों को हाथ नहीं डालने देते होंगे। अतः अनुदानों के परिणामस्वरूप गाँव वालों के सामुदायिक अधिकार क्षीणतर होते चले गये। पहाड़ियों, नदियों और जंगलों के हस्तांतरण का मतलब भूमि से सम्बंधित सारे साधन-स्रोतों पर अनुदानभोगियों का व्यक्तिगत स्वामित्व स्थापित कर देना था। चंदेलों के राज्य में नकदी फसलों पर कर लगाया जाता था, और परमार राज्य में गाँव के साथ 'वापी कूप-तडाग' के हस्तांतरण से ऐसा प्रतीत होता है कि जनता को दी गयी सिंचाई सम्बन्धी सुविधाओं से भी राज्य को आमदनी होती होगी। सिंचाई-कर तो कौटिल्य के समय से ही चला आ रहा था। अब शायद इसका लाभ उठाने का अधिकार भी ग्रहीताओं को दे दिया जाता था। सम्भव है कि बहुत से अनुशासनपत्रों में पहाड़ियों तथा नमक और लोहे की खानों के हस्तांतरण का उल्लेख केवल औपचारिक रूप से कर दिया जाता रहा हो, क्योंकि सभी अनुदत्त गाँवों और जमीन के टुकड़ों में पहाड़ियाँ और लोहे तथा नमक की खानें तो हो नहीं सकती थीं। लेकिन जहाँ ये चीजें पायी जाती होंगी वहाँ ग्रहीताओं के तद्विषयक अधिकारों के कारगर होने की पूरी सम्भावना है। इसका मतलब यह हुआ कि अब जो लोग पहाड़ियों से पत्थर काटते होंगे या घर बनाने के लिए सामुदायिक जमीन से मिट्टी लेते होंगे उन्हें अनुदानभोगियों को कुछ देना भी पड़ता होगा। इन सम्पदाओं के हस्तांतरण के उल्लेख का और प्रयोजन भी क्या हो सकता था?

अनुदानभोगी अपने आर्थिक अधिकारों और सुविधाओं का अतिक्रमण न करें इसकी देख-रेख के लिए कोई भी शासक किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं करता था। किसान लोग पूर्ण रूप से ग्रहीताओं की—चाहे वे धार्मिक वृत्तिभोगी हों या गृहस्थ—दया पर निर्भर करते थे। शायद गृहस्थ वृत्तिभोगियों के अधीन उनकी अवस्था अधिक बुरी रहती होगी, क्योंकि ऐसे भोक्ताओं को तो अनुदत्त गाँवों में से राज्य को भी कुछ देना पड़ता था। लेकिन कुल मिलाकर उनकी स्थिति सुखी स्वतंत्र स्वामी कृषक की न होकर, ग्रहीताओं की खातिर मेहनत मशक्कत करनेवाले कृषि दासों के ही समान थी।

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं दानपत्र में अनुदत्त गाँवों के साधनों का जो विशद विवरण दिया गया है उसका यह मतलब नहीं है कि ग्रहीता को केवल उन सबके उपभोग का ही अधिकार प्राप्त होता था, वास्तव में उन पर उसका स्वामित्व भी स्थापित हो जाता था। एक विद्वान के मतानुसार कलचुरि

अनुदानपत्रों में ग्रहीताओं को स्वामित्व का अधिकार नहीं दिया जाता था, बल्कि केवल लगान तथा अन्य कर महसूल वसूल करने का राजकीय विशेषाधिकार ही दिया जाता था।[1] जिन अनुदानपत्रों में केवल गाँव के नामों और लगान का ही उल्लेख है उनके सम्बन्ध में यह बात लागू हो सकती है, लेकिन जिनमें गावों के तमाम साधन सम्पदाओं का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है उनके सम्बन्ध में यह विचार ठीक नहीं जान पड़ता। परमार अनुदानपत्रों में ग्रामीण साधन सम्पदा की अपेक्षाकृत छोटी सूची मिलती है।[2] इनमें आमतौर पर केवल गोचर भूमि और उससे परे घास फूस से भरी जमीन का ही उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार चौलुक्य अनुदानपत्रों में केवल वृक्षपंक्तियों का ही उल्लेख हुआ है।[3] सबसे छोटी सूची चाहमान अनुदानपत्रों में दी गयी है। इनमें केवल अनुदत्त गांवों का नाम भर लिखकर छोड़ दिया गया है।[4] इस प्रकार, राजस्थान मालवा और गुजरात में अनुदानभोगियों को भूमि विषयक पूरे अधिकार नहीं दिये जाते थे। लेकिन हम आमतौर पर गाहड़वाल अनुदानपत्रों और खास तौर पर चन्देल अनुदानपत्रों के बारे में ऐसा नहीं कह सकते।

फिर यह भी कहा गया है कि गांव के साधन सम्पदाओं के हस्तान्तरण से ग्रामवासियों के अधिकारों को धक्का नहीं लगता था। अनुदत्त गावों में भी वे जलाशयों, तालाबों, सामुदायिक गोचर भूमि आदि का उपभोग पूर्ववत् करते रहते थे।[5] लेकिन एक बार जब ये अधिकार ग्रहीताओं को दे दिये जाते थे तब वे गाँववालों के परम्परागत अधिकारों का सम्मान कहां तक करते होंगे, यह कहना कठिन है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है सरकारी अमलों के यदा कदा दौरे पर आने से इन सामुदायिक अधिकारों पर उतना प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता होगा, लेकिन अनुदान पाने के बाद ग्रहीता तो बराबर अनुदत्त गांवों में ही मौजूद रहते थे और इसलिए ये सामुदायिक अधिकार भी दिन दिन छीजते चले गये होंगे।

---

१ मिराशि का० इ० इ० ४, प्रारम्भिक पृष्ठ १७१।
२ इ० ए० १८ पृष्ठ १६० पंक्ति १३।
३ वही १८ पृष्ठ ८३ पंक्ति १६।
४ ए० इ० २, नं० ८ श्लोक ८८ ६ दशरथ शर्मा कृत अर्ली चौहान डाइनेस्टीज पृष्ठ १८२पर एवापर फैक्ट ग्रांट आफ ब्राह्मणस शीर्षक लेख।
५ मिराशि कॉ० इ० इ०, ४ प्रारम्भिक पृष्ठ १७१ २।

अनुदत्त भूमि में से पुनः अनुदान[1] देने की प्रवृत्ति इस काल में खूब बढ़ी। हम अन्यत्र देख चुके हैं कि राजवंश के सदस्य, सामन्त और राज्याधिकारी कभी-कभी राजा की अनुमति लेकर और कभी उसकी अनुमति लिये बिना ही अपनी-अपनी जागीरों में से पुरोहितों और मन्दिरों को अनुदान दिया करते थे[2] और यदा-कदा तो वे अपने प्रभु को अपने बनवाये मन्दिरों को ग्राम अनुदान देने को भी बाध्य कर देते थे। कभी-कभी वे अपनी शक्ति और प्रतिष्ठा के बल पर स्थानीय व्यापारियों को भी अपने बनवाये मन्दिरों को अनुदान देने को मजबूर कर देते थे। यह सच है कि धार्मिक अनुदानभोगी का दाता के प्रति कोई धार्मिक दायित्व नहीं होता था और दाता को उसमें केवल शुभेच्छाओं और नैतिक समर्थन की ही अपेक्षा थी किन्तु इन अनुदानों के कारण भूमिभोगियों की कई श्रेणियाँ कायम हो गयीं। मूल ग्रहीता अनुदान लिए राजकृपा का आभारी था, धार्मिक ग्रहीता उस मूल ग्रहीता का कृतज्ञ था, और किसान इन दोनों का मुखापेक्षी था। यह सही है कि धार्मिक लाभार्थियों को बराबर भूमि पर ऐसे विस्तृत अधिकार नहीं दिये जाते थे जैसा कि कलचुरियों के राज्य में होता था। लेकिन इतने से ही उपसामन्तीकरण की गुंजाइश खत्म नहीं हो जाती थी। जिन मठों या ब्राह्मण समुदायों के हाथों में २-२३ गाँव थे वे उनकी व्यवस्था खुद तो कर नहीं सकते थे। उन्हें इसके लिए और लोगों को नियुक्त करना पड़ता था जिन्हें वेतन के रूप में भूमि दी जाती थी अथवा राजस्व एकत्र करने का अधिकार प्रदान किया जाता था।

अब हम राजकीय सेवाओं के बदले में दिये गये अनुदानों की बात लें। इस प्रथा के अनुसार छोटी-मोटी सेवाओं के प्रतिदान स्वरूप जमीन दी जाती थी। इसका चलन हम कौटिल्य के समय से ही देखने को मिलता है। 'अर्थशास्त्र' में कहा गया है कि नये जनपद में गाँव की शासन-व्यवस्था के लिए जिम्मेदार विभिन्न कर्मचारियों को भूमि अनुदान देना चाहिए। सामन्तवादी यूरोप में तो इस प्रथा का सूत्रपात था ही, ऐसा लगता है कि प्रारम्भिक मध्यकाल में उत्तरी भारत में भी कुछ हिस्सों में वृत्ति देने की यह विधि चल रही थी। उदाहरण के लिए, गंगों के अधीन उड़ीसा में ताम्रकार, ठठेरे और तम्बोली

---

१ ए० इ०, २ नं० ८, श्लोक ४६।

२ वही। सामन्तों, महासामन्तों तथा ऐसे ही अन्य राजपुरुषों द्वारा अनुदान देने के कुछ उदाहरण पी० नियोगी ने एकत्र किये हैं: इ० प्र० पु०, पृष्ठ ५४६।

मथुरा के पास के रूप में मन्दिर से संयुक्त कर दिये जाते थे, जिनमें से कम से कम कुछ को तो निर्वाह के लिए जमीन के छोटे छोटे टुकड़े भी प्रदान किए जाते थे।[1] बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश और मध्य भारत में इसका कोई अभिलेखीय प्रमाण नहीं मिलता, परन्तु ज्ञात पड़ता है कि पश्चिम में यह प्रथा काफी अधिक प्रतिष्ठित हो चुकी थी। इस चहमान राज्य के ११वीं सदी के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि एक मन्दिर को जमीन के एक बड़े टुकड़े अनुदान में दिये गये जो पहरेदारों, मालियों, चौकीदारों (भण्डारिकों) तथा कुछ अन्य छोटे छोटे कर्मचारियों को उनकी सेवाओं के बदले में दिये हुए थे।[2] इस जमीन का एक हिस्सा विशेष रूप से उस मन्दिर के भण्डारिक की वृत्ति के लिए अलग कर दिया गया।[3] जमीन के एक टुकड़े मन्दिर की मरम्मत करने वाले लोगों के परिवारों के निर्वाह के लिए दिये जाते थे। यदि मन्दिरों के सेवकों को वृत्ति देने के लिए यह पद्धति प्रचलित थी तो राजा तथा छोटे-मोटे सामन्तों (रणकों) की सेवा करनेवाले छोटे मोटे कर्मचारियों को भी वृत्ति देने की कोई दूसरी पद्धति शायद ही रही होगी।

इस पद्धति के चलन के कुछ उदाहरण राजस्थान में भी मिलते हैं। सबसे पहला प्रमाण तो हमें उदयपुर में दो मन्दिरों को दिये गये एक अनुदान के रूप में मिलता है।[4] इसमें कायस्थ परिवारोत्पन्न बघ शीपक द्वारा कुछ खेत अनुदान किये जाने की चर्चा है। अभिलेख से ऐसा जान पड़ता है कि इस परिवार के सदस्य किसी गुहिलोत सरदार के यहाँ लिपिकों और वैद्यों के रूप में काम करते थे और शायद इसी सेवा के प्रतिदानस्वरूप उन्हें कुछ जमीन मिली हुई थी।[5] यह प्रथा नड्डूल के चाहमानों के राज्य में भी प्रचलित थी। इस निष्कर्ष का आधार ११४१ का एक अभिलेख है।[6] इसके अनुसार नाणप नगर आठ हलकों में बँटा हुआ था जिनमें से प्रत्येक की शान्ति सुरक्षा का दायित्व दो-दो ब्राह्मणों पर था।[7] यदि वे चोर का पता न लगाते और फिर भी राज्य से अपनी

१ ज० ए० सो० ब० ६५ भाग १, पृष्ठ २५४ ६ पंक्तियाँ १ २१।

२ आ० स० रि० १६०७ ३ पृष्ठ २६२ ४, पंक्तियाँ ११ ३२।

३ वही पंक्तियाँ २८ ३१।

४ ए० इ० २०, पृष्ठ १२३।

५ वही।

६ वही, ११, न० ४ ६।

७ वही।

आजीविका की मांग करते तो दण्ड के भागी बनते।[1] स्पष्ट है कि इन सोलह ब्राह्मणों का निर्वाह भूमि अनुदानों से होता था जिनके बदले में ये अपनी धर्मेतर सेवाएँ प्रदान किया करते थे।

गुजरात के एक चौलुक्य अभिलेख से भी सांसारिक सेवाओं के प्रतिदान स्वरूप भूमि अनुदान देने का संकेत मिलता है। द्वितीय भीमदेव के शासन-काल में किसी प्रवर राज्याधिकारी ने, जो शायद जाति से बनिया था, एक सिंचाई-कूप और नाला बनवाया और उनकी देख रेख के लिए प्राग्वत गोत्र के किसी व्यक्ति को, जो कदाचित् व्यापारी था, कुछ जमीन अनुदान स्वरूप दी।[2] सम्भवतः गुजरात में इस प्रकार के और भी अनुदान दिये गये जिनसे किसानों की स्थिति बिगड़ती गई।

पूर्ववर्ती काल के अभिलेखों में अनुदत्त गांव अथवा भूखण्ड के साथ किसानों और शिल्पियों के हस्तान्तरण के कुछ उदाहरण मिलते हैं। लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि अग्नि पुराण का संकलन पूरा होते होते—अर्थात् ११वीं सदी का प्रारम्भ होते होते[3]—यह प्रथा भली भांति प्रतिष्ठित हो गई। इस पुराण में किसानों (खेटकों) के समेत ग्राम अनुदान देने की सिफारिश की गई है।[4] यह भी कहा गया है कि मन्दिरों और मठों को भूमि और दास देने चाहिए[5] और साथ ही उन्हें नृत्य और संगीत की भी सुविधाएँ मिलनी चाहिए। नृत्य और संगीत की सुविधाओं का मतलब नर्तक-नर्तकी और गायक-गायिका भेंट करना लगाया जा सकता है। इस काल के अभिलेखों में तो इस प्रकार के अनुदान के अनेक उदाहरण मिलते हैं। असम के भूमि अनुदानों में घर हस्तान्तरित कर दिये[6] जाते थे जिसका मतलब है कि जमीन के साथ उस पर बने घर में रहनेवाला कृषक-परिवार गृहीता के सेवार्थ उसे सौंप दिया जाता था। इसका

---

१ वही प० ३८ ६।

२ इ० ए० १८, पृष्ठ ११३ पंक्तियाँ २५ ४५।

३ इस ग्रंथ का काल निर्धारण बी० बी० मिश्र ने *पालिटी इन दि अग्नि पुराण* में किया है।

४ २११, ३८, २१३ ६।

५ २११ ७२ २२२ १३ १८।

६ ज० ए० सो० ब०, ६६, भाग १, पृष्ठ २६५-६ मिलाइए ज० ए० सो० ब०, ९ (१८८०), ७६६ से आगे, श्लोक २४।

एक सबसे स्पष्ट व उदाहरण सिलहट जिले में प्राप्त ११वीं सदी के मध्य का एक अनुदानपत्र है। इसके अनुसार भगवान शिव के मन्दिर को राजा गोविन्द केशवदेव से ३७५ हल जमीन के साथ अलग अलग गावों में बिखरे २९६ घर प्राप्त हुए।[1] भगवान शिव को सवाथ सौंपे गये इन गृहस्थों में केवल किसान ही नहीं बल्कि चरवाहे और शिल्पी लोग भी शामिल थे। साथ ही इस देवता को जो जमीन दी गई उस पर रहनेवाले घटवार (घटा बनानेवाले लोग), धोबी नाविक दुकानदार आदि बहुत से सवर भी उसके अधीन कर दिये गए।[2]

बंगाल के अभिलेखों से १२वीं शताब्दी तक तो वहां किसानों के हस्तान्तरण के चलन का सकेत नहीं मिलता लेकिन बाद में इस प्रथा का चलन इस प्रदेश में भी हो गया। सेन अनुदानपत्रों में धार्मिक उद्देश्यों से अनुदत्त भूमि के कृषकों के नाम बताये गए हैं। टिपेरा जिले में प्राप्त लगभग १२३८ ईस्वी के ताम्र पटों में २० ब्राह्मणों को दान किये गए गांव में स्थित १२ घरों के हस्तान्तरण का उल्लेख हुआ है।[3] इस सम्बन्ध में प्रयुक्त गृहटि शब्द के अलग अलग अर्थ लगाये गये हैं।[4] हमारे विचार से टि से टिला का बोध होता है। बंगाल और बिहार में घर बनाने के लिए चुने हुए ऊंचे स्थान को अथवा इस प्रयोजन से मिट्टी भरकर ऊंची की गई सतह को अब भी टिला कहते हैं। यह अनुमान पूर्वी बंगाल में किया गया। वहां कृषक तथा अन्य कृषक जातियां आज भी ऊँची की गई सतहों पर घर बनाकर रहती हैं ताकि उनके घरों में पानी न घुस पाए। इसलिए १२ गृहों के हस्तान्तरण से यही मतलब निकलता है कि अनुदत्त भूमि पर काम करनेवाले काश्तकारों या खेतिहर मजदूरों को भी उस भूमि के साथ गृहीता को सौंप दिया गया। उड़ीसा में इससे पहले के काल में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं। नवीं शताब्दी के मध्य से लेकर लगभग अगली एक सदी तक अनुदानभोगियों को जमीन के साथ-साथ बुनकर, कल्लाल तथा अन्य ग्रामवासी भी दिये जाते रहे। इन सबके लिए प्रकृति शब्द का प्रयोग

---

1 ए० इ० १४ न० ४६ पंक्तियां २६-४१।
2 वही।
3 वही, २० न० १० (दामोदरदेव के मेहार ताम्रपत्र) पंक्तियां १७-३२, और पृष्ठ ५७-८।
4 वही, २७, १८८ पा० टि० ६, ३०, ४६।

हुआ है।[1] विचाराधीन काल में बुन्देलखण्ड के चन्देलों के राज्य में यह प्रथा व्यापक रूप से प्रचलित जान पड़ती है। यहाँ के अनुदानपत्रों में गाँवों के साथ किसानों, शिल्पियों और व्यापारियों के हस्तान्तरण के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं।[2] चाहमानों के राज्य में भी इस प्रथा का काफी चलन था यद्यपि वहाँ इसका स्वरूप कुछ अलग था। नड्डोल के कुमार साहणपालदेव के ११३८ के अनुदानपत्र के अनुसार नन्दान ग्रामवासी साहिय और असार नामक दो व्यक्ति अपने पुत्रों पौत्रों आदि के साथ साथ भगवान त्रिपुरुषदेव की सेवा में सदा के लिए सौंप दिये गये।[3] ११६८ में अल्हणदेव ने इसी देवता को उसी गाँव के उमपोनणाल और महपसीह नामक दो कृषक प्रदान किये।[4] यह स्पष्ट नहीं है कि इन दो अनुदानों में सम्बन्धित गाँव भी दान किये गये या नहीं। लेकिन जिन लोगों को भगवान शिव की सेवा में भेंट किया वे तो निश्चित रूप से किसान (कुटुम्बिक) ही थे।[5] और जिस उद्देश्य से वे देवता को समर्पित किये गये वह कृषि के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता था। इसलिए उनकी तुलना रूसी कृषि दासों या कम्मियों से की गई है।[6] १२०७ के एक चौलुक्य अनुदानपत्र से ज्ञात होता है कि चौलुक्यों के सामन्त मेहर राणा जगमल्ल ने सलाखा नामक विशाल नगर में अपने स्थापित किए दो शिव लिंगों के पास के दो गाँवों में जमीन के दो टुकड़े दान किये और यह व्यवस्था भी कर दी कि प्रमुख तीन किसान उनमें खेती करेंगे।[7] इस प्रकार की कृषि दासत्व की प्रथा का प्रमाण केवल चम्बा में मिलता है जहाँ जमीन के टुकड़ों के साथ अहीनाओं

---

१ देखिए परिशिष्ट १।

२ 'सकारू-कृषक-वणिग्वास्तव्यम्।' ए० इ० २० न० १४, वी' प्लेट पंक्ति १६। इस अभिलेख के सम्पादक हीरालाल ने कृषक को कृपक' पढ़ा है और इसीलिए इनके अनुवाद में भी त्रुटि रह गई है, वही १३१ पा० टि १ ए० इ० ३२ न० १४ अनुदान १ पंक्ति २१ भी देखिए।

३ दशरथ शर्मा-कृत *अर्ली चौहान डाइनेस्टीज,* परिशिष्ट जी, ३ पंक्तियाँ २० २१।

४ वही पंक्तियाँ २२ २३।

५ वही पंक्तियाँ २० २२।

६ वही पृष्ठ २६६।

७ इ० ए० ११, ३३७ ४०।

को दिये गये किसानों के नाम भी बताये गये हैं।[1]

यद्यपि इस विवरण में दक्षिण भारत को शामिल नहीं किया गया है, किन्तु ऐसा लगता है कि महाराष्ट्र में यह प्रथा प्रचलित थी। १२७९ के एक यादव अनुदानपत्र से ज्ञात होता है कि एक अग्रहार शिल्पियों आदि के साथ दान किया गया।[2] इस अनुदानपत्र में प्रयुक्त 'कारुकान्'[3] शब्द में स्पष्टतः किसान भी आ जाते हैं। कोंकण में भी अनुदान में शिल्पी लोग दिये जाते थे। १००८ में जारी किये गये माण्डलिक रट्टराज के खारेपाटन ताम्रपत्रों में मलमपूर गाँव के गुरुओं को तीन गाँवों के साथ-साथ परिचारिकाओं के कई परिवार, एक तेली परिवार, एक माली परिवार, एक कुम्हार परिवार और एक धोबी परिवार भी प्रदान किया गया।[4] स्पष्ट है कि इन साधकों और इनसे सम्बंधित लोगों की सेवा के लिए सेवक-सेविकाएँ तथा शिल्पी आदि देना आवश्यक समझा गया। यद्यपि यहाँ ग्रहीताओं के सेवार्थ सौंपे गये लोगों में केवल शिल्पी सेवक ही थे, किन्तु यह कृषि दासत्व की प्रथा का स्पष्ट प्रमाण है।

उड़ीसा के परवर्ती अनुदानपत्रों से प्रकट होता है कि यह प्रथा गाँवों से फैलती फैलती शहरों में भी पहुँच गई थी। १२३० में जारी किये गये तृतीय अनंगभीम के नगरी ताम्रपत्रों से मालूम होता है कि एक ब्राह्मण को एक शहर उसके निवासियों के साथ साथ (पुरजन समेत) दान किया गया।[5] इस शहर में राजप्रासाद के समान चार भवन थे, लेकिन अधिक महत्त्व की बात यह है कि इसमें दुकानदारों, पत्तारों, शस्त्र विक्रेताओं, आरावशों, सोनारों, ठठेरों आदि के भी घर शामिल थे और इन सबके नाम भी बताये गये हैं।[6] इनके अतिरिक्त ताम्बूली, मालाकार, गुड़ विक्रेता, ग्वाले, बुनकर, तेली, कुम्भकार और कैवर्त्त भी उक्त ब्राह्मण के सेवार्थ समर्पित किये गये और इस अनुदानपत्र में इन सबके भी नाम बताये गये हैं।[7] फिर एक नाई, कुछ दस्तकार और धावी भी ग्रहीता को सौंप

---

१ जा० स० रि० १९०२ ३, पृष्ठ २५२ ३, पंक्तियाँ १६ २५।

२ स० एम० जी० दीक्षित, *सिलेक्टेड इंस्क्रिप्शन्स फ्राम महाराष्ट्र*, पृष्ठ ६६।

३ वही।

४ ए० इ० ३ नं० ४० पंक्तियाँ ५८ ६।

५ वही १८ नं० ६० पंक्तियाँ १२७ २९।

६ वही पंक्तियाँ १२७ ३१।

७ वही पंक्तियाँ १३२ ३४।

न्य गये।[1] इस प्रकार यह अनुदानपत्र शहरों में गतिहीन ग्रामीण अर्थव्यवस्था के प्रवेश का सटीक उदाहरण प्रस्तुत करता है। इससे प्रकट होता है कि किस प्रकार व्यापारियों और शिल्पियों के सामने शहर की बंद और गतिहीन अर्थव्यवस्था से बँधे रहने के अलावा और कोई चारा नहीं रह गया था और शहर का स्वामी चाहे कोई हो उनकी स्थिति में कोई अंतर नहीं पड़ता था। शहरों में रहकर भी वे अपना पेशा और स्थान नहीं बदल सकते थे और उनको उन्हीं परिस्थितियों में जीना पड़ता था जिन परिस्थितियों में अनुदत्त गाँवों के किसान जीते थे।

मध्यकालीन अर्थव्यवस्था का स्वरूप ही ऐसा था कि उसमें शिल्पियों की गतिशीलता के लिए बहुत कम गुंजाइश रह जाती थी और किसानों की स्थिति तो और भी बुरी थी। जिन गाँवों के किसान और शिल्पी साथ-साथ में अनुदानभोगियों के अधीन नहीं कर दिये जाते थे उन गाँवों में भी ग्रामवासियों पर उनका नियंत्रण कम नहीं रहता था। ग्रामवासियों को स्पष्ट निर्देश रहता था कि वे ग्रहीताओं के आदेशों का पालन करें और उन्हें सभी प्रकार के कर दें, जिसका मतलब था कि अनुदत्त गाँवों के निवासी एक प्रकार से उनके हाथों में सौंप दिये जाते थे। लेकिन यदि स्थिति यह थी तो फिर कुछ अनुदानपत्रों में शिल्पियों और किसानों के हस्तांतरण का विशेष उल्लेख क्यों किया गया है? असम, उड़ीसा और चम्बा में तो इसका कारण यह जान पड़ता है कि इन पिछड़े क्षेत्रों के आर्थिक जीवन को चलाते रहने के लिए कुछ अतिरिक्त सावधानी और सख्ती बरतनी आवश्यक थी, क्योंकि यहाँ बाहरी लोग आकर नहीं बसना चाहते होंगे और इसलिए श्रम शक्ति की कमी पड़ जाने का खतरा बराबर बना रहता होगा। बुन्देलखण्ड के पिछड़े इलाकों में भी इस नीति का अनुसरण करना आवश्यक था। इस नीति के द्वारा शिल्पियों, किसानों और व्यापारियों की भी सेवाएँ सुलभ की जाती थीं क्योंकि यहाँ श्रमशक्ति का अभाव था और आबाद करने के लिए जमीन बहुत अधिक थी। लेकिन इस सबका परिणाम यह हुआ कि यहाँ कृषिदासत्व की प्रथा कायम हो गई।

ऊपर हम जो-कुछ देख आये हैं उससे स्पष्ट होता है कि उपसामंतीकरण और सेवानुदान-जैसी कुछ सामन्ती प्रथाएँ अनुदत्त गाँवों में मौजूद थीं, और परिणामस्वरूप ऐसे गाँवों में किसानों की दशा बिगड़ती चली जा रही थी। जो क्षेत्र सीधे राजा के नियंत्रण में थे उनमें भी उनकी स्थिति इससे बहुत अच्छी नहीं

---

१ ए० इ० २८, न० ४० पंक्ति १३४।

थी। गाहड़वाल अनुदानपत्रों में करों की जो सूची दी गई है[1] उससे प्रकट होता है कि उनके शासनकाल में उत्तर प्रदेश में किसानों को जितने कर देने पड़ते थे उतने पहले कभी नहीं देने पड़े थे। गाहड़वाल अभिलेखों में किसानों पर लगाये ११ करों का उल्लेख हुआ है। अगर उनसे ये सारे कर लिये जाते थे तो समझ में नहीं आता कि उनके परिवारों के भरण-पोषण के लिए उनके पास उपज का कितना हिस्सा बच रहता होगा। त्रिपुरी के कलचुरियों के ११६७ के एक अभिलेख में ११ करों का उल्लेख है। इनके अलावा परम्परा से चले आ रहे और भविष्य में लगाये जानेवाले बहुत से अन्य कर भी थे जिनका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है।[2] ११८० ८१ के अन्य कलचुरि अनुदानपत्र में भी इतने ही प्रकार के करों का जिक्र हुआ है।[3] इनमें भाग और भोग तो निश्चित रूप से शामिल थे यद्यपि इस अभिलेख में 'प्रवणि' शब्द से पहले आनेवाले छः शब्द पद बिल्कुल मिट गये हैं।[4] इस प्रकार इन करों की संख्या १३ हो जाती है। यद्यपि कलचुरि अनुदानपत्रों में स्पष्ट शब्दों में सामान्यतया केवल तीन या चार (भागभोगहिरण्यादिराज प्रत्याय)[5] करों का ही उल्लेख मिलता है लेकिन अन्त में 'राजप्रत्याय' के प्रयोग से जान पड़ता है कि लोगों से अन्य कर भी लिये जाते थे जिनका जिक्र साफ शब्दों में नहीं किया गया है। अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि ये सारे कर शायद एक ही आदमी से नहीं लिये जाते होंगे क्योंकि व्यापारी, शिल्पी, किसान अलग अलग ढंग के कर दिया करते थे। मगर सम्भावना यही है कि उपयुक्त करों में से अधिकांश किसानों से ही लिये जाते होंगे। यह साफ साफ पता नहीं चलता है कि अनुदानभोगी अपने अधीनस्थ गाँव में खुद कर लगा सकता था या नहीं, यद्यपि कभी कभी उसे भविष्य में कर

---

१ रमा नियोगी कृत हिस्ट्री आफ द गहड़वालाज (पृष्ठ १९७ ९०) में इन तमाम करों की सूची दी गई है लेकिन विभिन्न प्रकार के करों के लिए प्रयुक्त कुछएक शब्दों के अर्थ अब भी स्पष्ट नहीं हो पाये हैं।

२ कॉ० इ० इ० ४ न० ६३ पंक्तियाँ २६ ०। कुछ शब्द तो अस्पष्ट हैं किन्तु करों की सूची बहुत बड़ी है: भागकरप्रवणिवाटचगोरसचनीत्रा मत्तविषेणिभाण्यपट्टकिनात्यदुस्साध्यान्य (च) पथिकाद्यायान्वितकरदिष्य माणान्यं मह।

३ वही परिशिष्ट न० ८।

४ वही ६८६ पा० टि० १८।

५ वही ८ न० ५०, पंक्तियाँ ८३ ८४।

लगान का अधिकार (करिष्यमाण) भी दे दिया जाता था। ऐसे गावों में किसानों को इस बात का खतरा बराबर बना रहता था कि उनके करों में वृद्धि हो सकती है क्योंकि अनुदानभोगी पर यह पाबन्दी नहीं थी कि वह प्रचलित रीति परम्परा का पालन करे।

इस काल में पूर्वी भारत में किसानों की स्थिति एक और भी कारण से बहुत बिगड़ गई। वह यह था कि अब यहां अलग अलग खेतों से राज्य का कर-स्वरूप कितनी उपज दी जाय यह निर्धारित होने लगा। पूर्ववर्ती लगान पद्धति बटाइदारी के सिद्धान्त पर आधारित थी जिसके द्वारा किसान की उपज के अनुसार उसका एक हिस्सा सरकार को मिलता था। सामन्तवाद का विकास होने पर खेती की उपज में कई पक्षों का हिस्सा कायम हुआ—जैसे राज्य का, काश्तकार का और नायब काश्तकार का और इस उपज के हिस्सेदारों की ऊपर से नीचे तक कई श्रेणियां बन गई। जब जमीन की पैमाइश की पद्धति का व्यापक प्रसार हुआ और उपज सावधानी के साथ निर्धारित की जाने लगी किसानों के हितों को आघात पहुँचा। कारण जमीन की पैमाइश करने और उसकी उपज निर्धारित करने में प्राकृतिक आपदाओं का खयाल नहीं किया जाता था और उन दिनों मनुष्य के पास इन आपदाओं का सामना करने का साधन तो लगभग नहीं ही था। इस प्रकार नई लगान पद्धति से किसानों के बजाय राज्य को ही अधिक बचत होने की सम्भावना थी क्योंकि पैदा न होने पर भी राज्य और सामन्त किसानों से अपने हिस्से की मांग कर सकते थे। शायद असाधारण परिस्थितियों में राज्य लगान माफ कर दिया करता था लेकिन यह कहना मुश्किल है कि जागीरदार लोग भी ऐसी उदारता बरतते होंगे या नहीं।

कलचुरियों चन्देलों और चाहमानों के राज्यों में किसानों की अवस्था निश्चय ही बहुत खराब हो गई होगी क्योंकि वहां उन्हें सभी श्रेणियों के सरकारी अमलों के खर्च का बोझ उठाना पड़ता था। कलचुरियों के अधीन किसी काल में विपणिम् (इस अधिकारी के काम और दायित्व का ठीक पता नहीं लग पाया है) पट्टकिल दुःसाध्य और वर्षापिक इन चार अधिकारियों को अपना निर्वाह-व्यय किसानों से वसूल करने का अधिकार मिला हुआ था।[1] चन्देल अभिलेखों में ऐसे अधिकारियों की संख्या अधिक प्रतीत होती है। इनमें वन अधिकारियों (आटविका) अनियमित सैनिकों (चाटा)[2] तथा सामान्यतया सभी

---

१ कॉ० इ० इ० ४ न० ६२ पंक्तियां २९ ३०।

२ ए० इ०, ३२, न० १८ अनुदान १, पंक्ति ३३।

राज्याधिकारियों को अपना अपना दातव्य (स्व-स्वाभाभाव्यम)[1] वसूल करने की सत्ता दी गई है। लेकिन चाहमानों के अधीन यह अधिकार केवल प्रतीहारों और बलाधिपों को ही दिया गया था। यह स्पष्ट नहीं है कि आदाय और आभाव्य नाम से ज्ञात कर राज्याधिकारियों को वेतन के ऊपर से भत्ते के तौर पर मिलते थे या यही उनकी आय के एकमात्र साधन थे। पूर्ववर्ती काल में ऐसे कर केवल राज परिवार के भरण पोषण के लिए ही वसूल किए जाते थे। इसकी साक्षी हूण तथा प्रारम्भिक पाल राजाओं के अनुदानपत्रों में मिलती है। यह कर विचाराधीन काल में भी राजकुलाभाव्य[2] नाम से प्रचलित रहा। पहले शायद ऐसे कर राज परिवारों द्वारा नियुक्त अधिकारी वसूल किया करते थे। अब ऐसे करों की संख्या ही बढ़ नहीं गई बल्कि उन्हें वसूल करने का हक सम्भवतः उन्हीं अधिकारियों को मिला जिनके निमित्त ये लगाये जाते थे। यह पद्धति भारतीय सामन्तवाद की एक विशेषता बन गई और इसके अन्तर्गत किसानों का शोषण लाजिमी था।

इस काल में शिल्प और व्यापार का सामन्तीकरण राजस्थान, मालवा और गुजरात में बढ़ता गया क्योंकि इन साधनों से होनेवाली राजकीय आय मंदिरों को सौंपी जाने लगी। चाहमान अभिलेखों में इसके कई प्रमाण मिलते हैं। अल्हणदेव के ११६१ के एक अभिलेख में एक जैन मन्दिर को नड्डूल नहर के निगम क्षेत्र में स्थित एक चुंगी घर की आय में से प्रति मास ५ द्रम्म का अनुदान दिया गया है।[3] चुंगी घर की आय के अंश के अनुदान का दूसरा उदाहरण भी हमें नड्डूल में ही मिलता है। १११४ के इस अनुदानपत्र में भगवान् त्रिपुरुष को चुंगी घर से होनेवाली आय में से ६ द्रम्म (मासिक अथवा वार्षिक यह स्पष्ट नहीं है) अनुदान-स्वरूप दिये गये हैं।[4] इसी अभिलेख से पता चलता है कि भाइग ने राना नवरन्ना द्वारा स्थापित गौरी की प्रतिमा के दैनिक पान प्रसाद का खर्च चलाने के लिए उस एक चुंगी घर की आय में ४ द्रम्म का

१ ए० इ० [illegible] नं० १८ अनुदान [illegible] पंक्ति १६।
२ इं० ए० १८६/७ पंक्तियाँ १ ७।
३ ए० इ० [illegible] पृष्ठ ६५ और इसी पृष्ठ का पा० टि० ८ भी।
४ दशरथ शर्मा अ० प्र० पु० परिशिष्ट जी ३ पंक्तियाँ १८ १६। कुछ शब्दों के मिट जाने के कारण अर्थ स्पष्ट नहीं है लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि राजा ने धार्मिक प्रयोजनों में चुंगी घरों की आय का कुछ अंश अनुदान में दिया।

मासिक अनुदान सदा के लिए अर्पित किया।[1] ११५६ के एक ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि कुमारपाल के किसी सामन्त ने कुछ जैन मन्दिरों को एक मण्डपिका (चुंगी घर) से होनेवाली आय में से प्रतिदिन एक रुपक के हिसाब से एक अनुदान दिया।[2] ९७३ के एक अभिलेख के अनुसार शाकम्भरी के किसी उच्च पदाधिकारी ने प्रति मटक नमक पर एक विंशोपक के हिसाब से एक अनुदान दिया और एक दूसरे पदाधिकारी ने उसी देवता को प्रत्येक घोड़े की बिक्री पर एक द्रम्म के हिसाब से अनुदान दिया।[3] इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न वस्तुओं की बिक्री पर सरकारी महसूल से होनेवाली नकदी आय के अंश जैन और ब्राह्मण मन्दिरों को धार्मिक प्रयोजनों से अनुदान के रूप में दिये गये। इसके अतिरिक्त चाहमानों के राज्य में शिल्प उद्योग पर लगाये जानेवाले सरकारी महसूल भी धार्मिक उद्देश्य से अनुदान में दिये जाते थे। ११३२ के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि दो राजकुमारों और उनकी माता ने प्रत्येक घाणक (कोल्हू) से राज-परिवार को होनेवाली आय में से दो पलिका नाडुलडागिका (नाडलाइ) में तथा उसके बाहर रहनेवाले साधुओं को दे देने का आदेश जारी किया।[4] इस महसूलों से राज्य को होनेवाली नकदी आय के हिस्से ब्राह्मणों को भी अनुदान में दिये गये हों तो आश्चर्य नहीं। इस तरह के अभिलेख कतिपय छोटे राज्यों में भी मिले हैं। भूतपूर्व भरतपुर राज्य में स्थित बयाना नामक स्थान में प्राप्त ९५५ के एक अभिलेख से मालूम होता है कि एक देवता के निमित्त एक मण्डपिका में तीन द्रम्म वसूल किया गया और इतनी ही राशि एक अन्य मण्डपिका में भी उगाही गई।[5] इसी प्रकार वैजनाथ की प्रशस्तियों के अनुसार, एक स्थानीय सरदार ने मण्डपिका से होनेवाली अपनी आय में से प्रति दिन दो द्रम्म के हिसाब से एक अनुदान के रूप में दिया।[6]

उद्योग व्यापार का सामन्तीकरण परमारों के राज्य में भी तेजी से चलता रहा। नासिक जिले में परमारों के एक सामन्त यशोवर्मन ने ११वीं सदी के दूसरे चरण में एक जैन मंदिर को दिये गये जमीन के कई टुकड़ों और साथ ही दो

---

१ स० प्र० पु० ४ प्लेट २ पंक्तियां १५-१७।
२ इ० ए०, ४१, पृष्ठ २०३।
३ ए० इ० २ नं० ८ श्लोक ८८-८९।
४ वही नं० ४ पंक्तियाँ १-६।
५ वही २२ पृष्ठ १२०।
६ वही, १, पृष्ठ ९७।

सुविधाएँ थीं। शुल्क मण्डपिका शब्द का उल्लेख बहुत से चौलुक्य अभिलेखों में हुआ है[1] और इससे ऐसा लगता है कि अनुदान-स्वरूप राज्य की आय का एक अंश देने का वहाँ आम चलन था। ११७६ के एक अनुदानपत्र से ज्ञात होता है कि कुमारपाल ने एक मन्दिर को नड्डोल की मण्डपिका में होनेवाली आय का एक अंश—प्रति दिन एक द्रम्म के हिसाब से—अनुदान स्वरूप दे दिया।[2] एक अन्य अभिलेख से प्रतीत होता है कि द्वितीय भीमदेव ने १२३० में कुछ चीजों की बिक्री पर लगे नकद शुल्कों से होनेवाली आय को मन्दिरों के पान प्रसाद और ब्राह्मणों को खिलाने का खर्च चलाने के लिए उन मन्दिरों के नाम हस्तान्तरित कर दी।[3] ज्ञात पड़ता है सालणपुरी के कुछ व्यापारियों ने कुछ चीजों की बिक्री से होनेवाली नकद आय अनुदानों के रूप में मन्दिरों को सौंप दी, और स्पष्टतः उन्होंने ऐसा राजकीय आदेश पर ही किया।[4]

व्यापार से होनेवाली राजकीय आय को धार्मिक प्रयोजनों में अनुदान में देने की प्रक्रिया का प्रभाव विदेशी व्यापार पर भी पड़ा। इसका एक उदाहरण हमें कोंकण में मिलता है। वहाँ बाहर से आनेवाले जहाजों से स्वर्ण मुद्राओं के रूप में वसूल किये जानेवाले शुल्क अनुदानस्वरूप एक धार्मिक सम्प्रदाय के सदस्यों को सौंप दिये गये।[5] आश्चर्य नहीं कि गृहस्थों को भी ऐसे अनुदान दिये गये हों।

पश्चिमी भारत में मिलनेवाले ये सारे प्रमाण शिल्प और व्यापार के सामन्तीकरण की साक्षी भरते हैं। बिक्री-शुल्क और चुंगी से होनेवाली नकद आय का इस प्रकार अनुदान में मन्दिरों को दे देने की प्रथा की तुलना मध्यकालीन यूरोप में दी गयी नकदी जागीरों से की जा सकती है। हमें यह ज्ञात नहीं है कि भारत में गृहस्थ ग्रहीताओं को ऐसी जागीरें दी गयीं अथवा नहीं हालाँकि सम्भव है कि कलचुरि चन्देल और चाहमान राज्यों में सरकारी अमलों के निमित्त निर्धारित किये गये कुछ करों की वसूली नकद रकम में होती हो और इसलिए इन्हें हम एक प्रकार की नकदी जागीर मान सकते हैं। लेकिन यह अनुमान निश्चित तथ्यों पर आधारित नहीं है और इसलिए यूरोप के साथ की

---

१ इ० ए०, ६, २०२ पंक्ति ६।
२ ए० बी० ओ० आर० आई० २३, ३१६ ८।
३ पुण्या नियोपी स० प्र० पु० पृष्ठ २०१।
४ इ० ए०, ६ २०२ पंक्ति ८ २६ पृष्ठ २०३ की सार-सूची।
५ ए० इ०, ३ नं० ४० पंक्तियाँ ५६ ५७।

गयी इस तुलना पर बहुत जोर नहीं दिया जा सकता।

११वीं और १२वीं सदियों में उत्तर भारत में प्रचलित सामंती रीति नीतियों पर विचार करने से ऐसा लगता है कि इस काल में सामंती अर्थ व्यवस्था इस क्षेत्र में कुछ दृष्टियों से अपनी चरमसीमा पर पहुँच गयी थी। धार्मिक तथा गृहस्थ भोक्ताओं को इतना अधिक भूमि अनुदान इसमें पहले कभी नहीं दिया गया था। इसी प्रकार भूमि अनुदानों के परिणामस्वरूप सामुदायिक तथा भूमि विषयक अधिकारों का इतना अधिक ह्रास पहले कभी नहीं हुआ था और न इससे पूर्व किसी भी काल में किसानों पर इतने करों का बोझ पड़ा था और न वे उपसामंतीकरण से ही इतने अधिक प्रभावित हुए थे। फिर इस काल में हमें सरकार की सेवाओं के पुरस्कार और प्रतिदान स्वरूप अनुदान प्राप्त करने के भी सबसे अधिक उदाहरण मिलते हैं। और अंत में, उद्योग व्यापार पर लगे शुल्कों से होनेवाली सरकारी आय के अनुदानस्वरूप दे दिये जाने के भी इतने सारे उदाहरण हमें इसी काल में मिलते हैं। लेकिन साथ ही इसी काल में सामंतवादी आर्थिक ढाँचे में दरार भी पड़ने लग गई थी—विशेषकर पश्चिमी भारत में। आगे हम इसी विषय पर विचार करेंगे। जिसे इतिहास में हिंदू शासन काल कहा जाता है उस काल के अंतिम दिनों में उत्तर भारत में कतिपय नयी आर्थिक शक्तियों का उदय हुआ और उसके परिणामस्वरूप आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था, मुद्रा के चलन के अभाव और किसानों के शोषण की नींव पर आधारित पुरातन सामंतवाद की जड़ें हिलने लगीं।

इस बात का अनुमान होने लगा कि बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, मालवा और गुजरात में परती जमीन को आबाद करने की दृष्टि से भूमि अनुदानों की महत्ता समाप्तप्राय हो चुकी थी। बंगाल के अनुदानपत्रों में अनुदत्त भूमि की उपज का अनुमान नकद राशि में बताया जाने लगा था और साथ ही उन क्षेत्रों की सीमाएँ भी स्पष्ट रूप में निर्धारित कर दी जाती थीं[1] जिससे प्रकट होता है कि अब ग्रहीताओं के लिए नये-नये परती क्षेत्रों को आबाद करने की गुंजाइश बहुत कम हो गई थी। मालवा और गुजरात के अनुदानपत्रों में भी अनुदत्त गाँवों की सीमाएँ साफ-साफ बतायी गयी हैं जिससे प्रकट होता है कि अब राजाओं को इस बात की फिक्र होने लगी थी कि ग्रहीताओं को अनुदान पत्र में जो अधिकार और सुविधाएँ दी गयी हैं उन्हीं के उपभोग तक वे सीमित रहें और उनका अनुचित लाभ न उठा पायें। फलतः अब ग्रहीताओं को नये

---

[1] ए० इ० नं० ७ पंक्तियाँ ३०-३८, नं० ११ पंक्तियाँ ३६-४१।

क्षेत्र आबाद करने की सुविधा नही मिल पाती थी।

यही स्थिति हम बेगार या विष्टि के सबध में भी देखते हैं। यह सामन्तवादी अर्थव्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता थी, और वलभी के मैत्रकों, राष्ट्रकूटों तथा गुर्जर प्रतीहारों के अधीन पश्चिमी भारत में इसे उत्पादन का एक साधन माना जाता था।[1] लेकिन परमारों, चौलुक्यो और चाहमानों के अभिलेखों में इसका कोई उल्लेख ही नही मिलता। स्पष्ट है कि इन राज्यों में यह प्रथा समाप्त हो गयी थी। इसी प्रकार गाहड़वाल और चन्देल अभिलेखों में विष्टि का उल्लेख नही मिलता। लेकिन पाल और सेन अनुदानपत्रों में 'सर्वपीडा' तथा कलचुरि अभिलेखों में 'विष्टि' का जिक्र हुआ है। किंतु कुल मिलाकर बेगार की प्रथा घट रही थी। इसे पुरातन सामन्ती व्यवस्था के आर्थिक बंधनो के शिथिल पड़ने का एक लक्षण माना जा सकता है। शायद बेगार के बदले अब नक़द कर ही लिया जाने लगा हो। लेकिन इस अनुमान के समर्थन में हम कोई विशेष प्रमाण नही मिलते। इसके कुछ प्रमाण मिलते भी हैं तो कश्मीर से, जिन्हे हमने इस विवरण में शामिल नही किया है। फिर भी यहा कश्मीरी साक्ष्य का उल्लेख कर देना अनुचित नही होगा। राजतरंगिणी में कहा गया है कि बेगार के रूप में श्रमिक बोझा ढोते थे (रूढ भारोढि)। बोझ-ढोलाई के तरह प्रकार थे लेकिन उनका वर्णन पुस्तक में नही किया गया है। एक ऐसा उदाहरण मिलता है कि कुछ ग्रामवासियों ने एक साल तक बोझा ढोने का काम नही किया और फलत उन सब पर जुर्माना ठोककर उन्हें दण्डित किया गया। उन्होंने जितना बोझा नही ढोया था उतनी की कीमत के बराबर उनसे जुर्माना वसूल किया गया और पास पड़ोस के क्षेत्रों में उन वस्तुओं की जो प्रचलित कीमत थी उससे अधिक कीमत आकी गई।[2] सम्भावना यही दीखती है कि ये जुर्माने नक़द वसूल किये गये। यदि यह अनुमान ठीक हो तो निष्कर्ष यही होगा कि बेगार के बदले नक़द राशि भी ली जा सकती थी। कभी-कभी बेगार के बदले नक़द और जिन्स दोनों रूपों में अदायगी ली जाती थी। जब हर्ष के शासन-काल (१०८९-११०१) में एक मंदिर को लूटा गया तो उसके पुजारियों ने प्रार्थना की कि उनसे नक़दी और जिन्स की अदायगी के बदले उन्हें बेगार से बरी कर दिया

---

१ इनके अभिलेखों में उत्पद्यमानविष्टि शब्द का प्रयोग अक्सर हुआ है।

२ अनु० एम० ए० स्टीन, खण्ड १, श्लोक १७२ ८, देखिए, पृष्ठ १७२ ४ पर पा० टि० भी।

जाय।[1] लेकिन किसानों के बारे में ऐसा उदाहरण न तो कश्मीर और न उत्तर भारत के किसी भी अन्य हिस्से में मिलता है। फिर भी इस काल में मुद्रा में बढ़ते हुए प्रचलन को देखते हुए ऐसा सम्भव जान पड़ता है कि किसान नकद रकम चुकाकर बेठ बेगार से छुटकारा पा लेते होंगे। इसके अतिरिक्त पूर्वी बंगाल के कैवर्त विद्रोह जैसे किसान विद्रोहों के परिणामस्वरूप भी राजाओं को इस प्रथा की कठोरता को कम करने के लिए मजबूर होना पड़ा होगा। पश्चिमी भारत में नगरों की बहुलता का सम्बन्ध शायद विष्टि की प्रथा के लोप से था क्योंकि इस प्रथा के समाप्त हो जाने से किसान और कारीगर गाँवों को छोड़कर शहरों में बस सकते थे और वहाँ शिल्प कारीगरी का धन्धा कर सकते थे।

इस काल में मध्य भारत और पश्चिमी भारत में कुछ और भी ऐसी बातें हुई जिनसे ग्रामीण क्षेत्रों की आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था कमजोर होने लगी। अनुदानों के परिणामस्वरूप अवसर ऐसा होता था कि जो गाँव दीर्घ काल से एक खास आर्थिक क्षेत्र के अभिन्न अंग बने हुए थे उन्हें उनसे अलग करके नये क्षेत्र में मिला दिया जाता था। मन्दिरों को दान किये गये बहुत सारे गाँव बराबर इनके पास पहले से मौजूद क्षेत्रों के निकट ही नहीं पड़ते थे। फलस्वरूप मन्दिरों के साथ इन गाँवों को नया आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता था, और कई दृष्टियों से उन्हें आस-पास के उस ग्रामीण क्षेत्र से अपना सम्बन्ध तोड़ लेना पड़ता था जिसकी आत्मनिर्भरता में उनका इतना अधिक योगदान होता था। उदाहरण के लिए, सोमनाथ के मन्दिर के अधीन २००० गाँव थे और ये सभी किसी एक ही क्षेत्र में नहीं पड़ते थे। इस मन्दिर को विभिन्न राजाओं से दान में जो गाँव मिलते रहते थे वे स्पष्टतः एक दूसरे से अलग अलग हुआ करते थे। उत्तर प्रदेश में जागु शर्मा के प्रभावशाली पुरोहित परिवार को दिये गये विभिन्न ग्राम अनुदान इसके उदाहरण हैं। इस परिवार की भूसम्पत्ति गाहड़वाल राज्य के १८ पत्तलाओं में फैली हुई थी और इसलिए यह वह आर्थिक एकाई की आत्मनिर्भरता के लिए बाधक थी। अठारह पत्तलाओं में फैले इन गाँवों की पैदावार में अनुदानभोगी अपनी सुविधानुसार हेर फेर कर सकता था। आत्मनिर्भर आर्थिक जीवन की आवश्यकताओं की परवाह न कर वह इस बात पर आग्रह रख सकता था कि वह वही फसल उगायेगा जो अमुक गाँव की मिट्टी के लिए अथवा उसकी अपनी अभिरुचि के लिए ज्यादा ठीक है।

इस काल में गतिहीन ग्रामीण अर्थ व्यवस्था के कमजोर होते जाने का एक

---

१ राजतरंगिणि अनु० एम० ए० स्टीन, खण्ड १ १०८१ ८८।

और भी लक्षण सामने आता है। राजा तथा अनुदानभोगी शिल्पियों और व्यापारियों की सेवाओं का प्रत्यक्ष उपयोग करते नहीं दिखाई पड़ते हैं। इसके बजाय उन्हें इन लोगों से जितना लेने का अधिकार था उतना वे जिन्स के रूप में अथवा नकद ही लिया करते थे। लगता है कि इस दिशा में पहला कदम पश्चिमी भारत में उठाया गया। अब वहाँ व्यापारियों और शिल्पियों को—इन दोनों में कोई खास फर्क नहीं था—राज्य का दातव्य जिन्स के रूप में चुकाना पड़ता था। कालक्रम में उनसे नकद अदायगी की अपेक्षा की जाने लगी। खास तौर से जब वे अपना माल बेचते थे तब तो उनसे नकद महसूल ही लिया जाता था। अब कारीगरों और सौदागरों का मन्दिरों या दान किये गाँव में बंधे रहने को नहीं कहा जाता था। इसके बदले उनसे नकद कर लिया जाता था और मन्दिर के व्यवस्थापक जरूरत की चीजें या जरूरी सेवाएँ उसी राशि के बल पर प्राप्त किया करते थे। उदाहरण के लिए मालवा, राजस्थान और गुजरात में मन्दिरों को शिल्पियों और व्यापारियों की सेवाएं सुलभ कराकर इन्हें आत्मनिर्भर आर्थिक इकाइयों का रूप देना आवश्यक नहीं समझा जाता था।

यद्यपि यह बात मुख्यतः शहरों तक ही सीमित थी किन्तु शहरों की भी संख्या कुछ कम नहीं थी। विभिन्न सामग्रियों के आधार पर दशरथ शर्मा ने चाहमान राज्य में १३१ स्थानों के नामों की एक सूची तैयार की है[1] जिनमें से अधिकांश शायद शहर ही थे। डी० सी० गांगुली ने परमार राज्य में—मुख्यतः मालवा में—स्थित २० शहरों के नाम बताये हैं।[2] इसमें हम उनकी दूसरी राजधानी प्रसिद्ध नगरी अर्थूणा को जोड़ सकते हैं। पुष्पा नियोगी ने गुजरात में चौलुक्यों के राज्य में स्थित ८ शहरों के नामों की सूची दी है।[3] इसमें बन्दरगाहों में बसे वे तटीय नगर शामिल नहीं हैं जिनसे गुजरात का सारा समुद्र तट भरा पड़ा था। अरबों के लिखे विवरणों में सिंध और पश्चिमी भारत के अनेक शहरों के नामों का उल्लेख हुआ है।[4] अलबरूनी के यात्रा विवरण और सुलतान महमूद के भारत विजय अभियान के वृत्तान्त के आधार

---

१ स० ग्र० पृ०, परिशिष्ट ५०।
२ हिस्ट्री आफ द परमार डाइनस्टी पृष्ठ २३६।
३ पुष्पा नियोगी स० ग्र० पृ०, पृष्ठ १२० १।
४ वही पृष्ठ ११६ २१।

पर पुष्पा नियोगी ने उत्तर भारत के २८ नगरों की एक सूची तयार की है।[1] इस सूची को पर्याप्त नहीं माना जा सकता। इन २८ नगरों के अलावा भी बहुत से नगर इस क्षेत्र में थे। लेकिन पूर्वी भारत में नगरों की संख्या अधिक नहीं जान पड़ती, यद्यपि पाला के नौ के नौ विजय स्कन्धावार शायद नगर ही थे। इनमें हम उत्तरी और पूर्वी बंगाल में सेना की राजधानियाँ भी जोड़ सकते हैं।[2] कुल मिलाकर जो प्रमाण मिलते हैं उनसे यही लगता है कि पश्चिमी भारत में नगरों की संख्या अच्छी खासी थी और इनमें से कई काफी बड़े-बड़े थे।

पश्चिमी भारत में इतने सारे नगरों का अस्तित्व देखते हुए ऐसा मानना अनुचित न होगा कि ग्रामीण क्षेत्रों में जो चीजें उपजाई बनाई जाती थी उनमें से बहुत कुछ ग्रामवासियों के उपयोग के बाद बच जाता था क्योंकि यदि ऐसा न होता तो इन शहरों की आबादी की जरूरतें कैसे पूरी हो पाती? कुछ शहरों की आबादी बहुत घनी थी। अनहिलपाटक में तो ४८ मण्डियाँ थी।[3] इन शहरों की जरूरतों के कारण शहरों तथा गाँवों के बीच निश्चय ही अच्छे-खासे पैमाने पर आन्तरिक व्यापार चलता होगा जिससे गाँवों की गतिहीन अर्थ व्यवस्था का रूप बदलता होगा।

घोड़े तेल और नमक का व्यापार राजस्थान में पहले भी होता था। अब इन वस्तुओं का व्यापार बढ़ा और भी बढ़ गया। चाहमान अभिलेखों से यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि अश्व विक्रेताओं महाजनों सेठों और घाणक स्वामियों का व्यापार बहुत अच्छा चल रहा था।[4] विशेष रूप से घोड़े और साम्भर झील से प्राप्त नमक के व्यापार से राज्य को खूब चुंगी महसूल मिलता था। लेकिन महत्त्व की बात यह है कि ११वीं सदी से बहुत सी ऐसी वस्तुओं का भी आन्तरिक व्यापार होने लगा जिनका उपयोग आम लोग अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया करते थे। चाहमान अभिलेखों से ज्ञात होता है कि राजस्थान में गेहूँ मूंग धूना तेल पान मसाला दाल आदि का व्यापार खूब होता था।[5] इसी प्रकार हम जूते और कपड़े के व्यापारियों तथा मालवाहकों

---

१ स० प्र० पु० पृष्ठ १२१।
२ वही पृष्ठ ११८ ६ (लखनौती नदिया विजयपुर विक्रमपुर)।
३ पुष्पा नियोगी की स० प्र० पु० के पृष्ठ १२० पर कुमारपालचरित से उद्धृत।
४ म० डी० आर० भण्डारकर ए० इ० ११ न० ४।
५ दशरथ शर्मा स० प्र० पु० पृष्ठ २६८।

और बुनकरों का भी उल्लेख दखन को मिलता है।[1] सच तो यह है कि चाहमान अभिलेखों में हम मारवाड़ के उन सौदागरों की व्यापारिक प्रवृत्तियों के उदगम की झाँकी मिलती है जो बाद में मारवाड़ी व्यापारियों के रूप में प्रसिद्ध हुए।

परमार अभिलेखों से भी ऐसा संकेत मिलता है कि उस राज्य में आंतरिक व्यापार अच्छे-खास पैमाने पर होता था। राजस्थान में प्रसिद्ध अथूणा नगर में व्यापार की स्थिति बहुत अच्छी थी। यहाँ दैनिक उपयोग की वस्तुओं का व्यापार होता था—जैसे अन्न (विशेषकर जौ) सूत, रुई, कपड़ा, नमक, शक्कर[2] और तेल। ऐसा जान पड़ता है कि बंगाल से मजीठ लाकर अथूणा में बेचा जाता था।[3] नासिक के एक परमार सामन्त के अभिलेख से पता चलता है कि यहाँ बहुत सी दुकानें और बाणिज थे।[4]

ऐसा प्रतीत होता है कि गुजरात के व्यापारी जो वणिक कहे जाते थे काफी समृद्धिशाली थे। वस्तुपाल, तेजपाल और जगडू ये तीन लखपति व्यापारी तो प्रसिद्ध ही हैं।[5] इन्हें आन्तरिक और बाह्य दोनों तरह के व्यापारों से धन मिलता था, और कहने की जरूरत नहीं कि इन्हें उन साधारण सौदागरों से भी मदद मिलती थी जिनकी आर्थिक प्रवृत्तियों का सम्बन्ध आम जनता के आर्थिक जीवन से था। कणद्रो नाम से ज्ञात एक व्यापारिक समुदाय अन्न बेचता था (कणादि विक्रेता वणिक)।[6] एक साधारण व्यापारी का उल्लेख भी मिलता है जो केवल चना बेचता था (चणकविक्रयकार)।[7] इससे ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में भी कुछ लोग खाद्यान्न खरीद कर ही खाते थे।

उत्तर प्रदेश में आंतरिक व्यापार का बहुत कम संकेत मिलता है यद्यपि गाहडवाल अभिलेखों में प्रयुक्त प्रविणकर शब्द का मतलब फुटकर विक्रेताओं

---

१ दशरथ शर्मा अ० प्र० पु० पृष्ठ २६६।
२ ए० इ० १४ न० २१ ६६ ७६।
३ वही श्लोक ६१।
४ वही १६ न० १० पंक्तियाँ १७ ३१।
५ ए० के० मजूमदार दि चौलुक्याज आफ गुजरात, पृष्ठ २६७, २८८ ५।
६ हेमचन्द्र का देसीनाममाला ६ ५६।
७ मेरुतुंग-कृत प्रबन्धचिन्तामणि, स० जिनविजय मुनि पृष्ठ ७०।

पर लगाया गया शुल्क है। इसी प्रकार [illegible] कि कु[illegible] [illegible] में भी [illegible] व्यापार [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible]। [illegible] परिवार द्वारा [illegible] [illegible] से [illegible] है कि [illegible] राज्य का व्यापारी [illegible] था।[2] लगता है [illegible] [illegible] व्यापार [illegible] [illegible] विकास हुआ। [illegible] शहर और [illegible] में [illegible] था। [illegible] और [illegible] के बाजारों में जो चीजें [illegible] जाती थी उनमें [illegible] [illegible] और [illegible] शामिल था।[2]

पूर्वी भारत में [illegible] [illegible] में व्यापारिक व्यापार [illegible] समाप्त हो गया हो, ऐसा बात नहीं थी। इसकी भी [illegible] पुष्टि होती है। उपरिक (गोल्मुल्क [illegible] अधिकारी) और [illegible] अधिकारियों का उल्लेख मिलता है। यदि व्यापार नहीं होता था तो फिर इन अधिकारियों का रहने का क्या उद्देश्य हो सकता था? इस काल में [illegible] [illegible] अधिकारी का भी उल्लेख देखते हैं।[3] यह है हट्टपति अर्थात बाजारों का [illegible] अधिकारी।

कुछ विद्वान यह मानना होगा कि जहाँ गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद की चार सदियों में भारत में उद्योग व्यापार का ह्रास हुआ था वहाँ इस काल में विपरततया पश्चिमी भारत में उसका काफी विकास हुआ। वाणिज्यिक व्यापार की सतत वृद्धि का एक कारण विदेशी व्यापार का नवोत्थय था, जिस पर हम आगे विचार करने जा रहे हैं।

ऐसा मानना गलत होगा कि ७५० और १००० के बीच विदेशी व्यापार बिलकुल ठप पड गया था, लेकिन ६०० से लेकर ८०० तक विदेशी व्यापार के बहुत कम संकेत मिलते हैं। इस काल में हम विदेशी व्यापार के जो प्रमाण मिलते हैं वे सातवाहन और कुषाणकाल में रोम साम्राज्य के साथ और गुप्त काल में बजनतानी साम्राज्य के साथ भारत के व्यापार की तुलना में कुछ नहीं हैं। फिर भी अरब सागर के माध्यम से भारत तथा फारस की खाडी और अरब के बीच समुद्री व्यापार अच्छे खासे पैमाने पर चलता रहा। सातवीं सदी के अरब विवरणों में भारत के पश्चिमी तट पर स्थित कुछ बन्दरगाहों का उल्लेख हुआ

१ एस० के० मित्र दि अर्ली रूलर्स आफ खजुराहो पृष्ठ १८१ २।
२ मीराशि का० इ० इ०, ४, पारम्भिक पृष्ठ १७०।
३ ए० इ० ३, न० १६ पंक्ति १६।

है।[1] लेकिन भारत के विदेशी व्यापार के विषय में अरबों के अधिकांश विवरण का सम्बन्ध ९वीं और विशेष रूप से १०वीं सदी से है। इस काल से सम्बन्धित विवरण में अनेक भारतीय बन्दरगाहों का जिक्र है।[2] यह दसवीं सदी में पश्चिमी तट पर व्यापारिक गतिविधियों के फिर से तीव्र हो उठने का संकेत देता है। इस व्यापारिक पुनरुत्थान का सम्बन्ध चोलों द्वारा १०वीं सदी के अंतिम वर्षों से जहाजरानी और समुद्री व्यापार के क्षेत्र में प्रारम्भ किये गये उपक्रमों से भी रहा होगा। इस दिशा में रुचि रखनेवाले एक के बाद एक कई शक्तिशाली चोल राजाओं ने दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ भारत के व्यापार के विकास में बड़ा योगदान किया।

१००८ के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि कोंकण का क्षेत्र केवल तटीय नगरों के साथ ही नहीं बल्कि सुदूर विदेशों (द्वीपांतर) के साथ भी खूब व्यापार करता था।[3] और इस व्यापार के परिणामस्वरूप वहाँ के शासक माण्डलिक रट्टराज को काफी नकद आय भी होती थी। विदेशों से आनेवाले प्रत्येक जहाज से वह एक गद्यियाण स्वर्ण और तटीय क्षेत्र में कण्डलमूलीय नामक स्थान से आनेवाले प्रत्येक जहाज से एक धरण सोना वसूल करता था।[4] सम्भव है कि तटीय व्यापार स्थानीय नौकाओं से किया जाता रहा हो। ये सारी बातें कोंकण तट पर बढ़ती हुई व्यापारिक गतिविधियों की साक्षी भरती हैं। व्यापार का इतना विकास हुआ कि वहाँ मणिग्राम नामक व्यापारियों का एक शहर ही बस गया।[5]

इसी प्रकार चीन के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था। पहले इस व्यापार पर मुख्यतः अरबों का एकाधिकार था और बाद में चीनियों का हो गया। ये दोनों देश अपने ही जहाजों में व्यापार करते थे। १०वीं सदी से पूर्व भारतीय सौदागरों के विदेशों में जाकर व्यापार करने का कोई संकेत नहीं मिलता।[6] लेकिन १२वीं सदी की एक कृति *मानसोल्लास* में यह सलाह दी गई है कि राजा के बन्दरगाहों में ठहरे भारतीय जहाजों को जितने मूल्य का माल उनमें

---

१ नदवी *अरब भारत के सम्बन्ध* पृष्ठ ४६।
२ वही।
३ ए० इ०, ३ २९९ ९७।
४ वही, ३ न० ४० पंक्तियाँ ५६ ५७।
५ वही पंक्ति ४४।
६ ए० के० मजुमदार *दि चौलुक्याज* पृष्ठ २६७।

गया हो, उसका इसकी दिशा सुदूर पूर्व में उस देश थाईलैंड।[1] १३वीं सदी में जगडू नामक एक भारतीय व्यापारी था। फारस के साथ वह निरन्तर रूप से व्यापार करता था और माल की ढुलाई भी जहाज से होता था।[2] इसके अलावा पश्चिमी तट पर भारतीय समुद्री लुटेरों की गतिविधियों का भी उल्लेख मिलता है। उदाहरण के लिए, १३वीं सदी में मार्कोपोलो ने इन लुटेरों की शिकायत की।[3] इससे भी सिद्ध होता है कि भारत में उन दिनों जहाजरानी का चलन था।

इतना तो निश्चित है कि १३वीं सदी में भारत में जहाज बनाने का काम काफी बड़े पैमाने पर चलता था। मार्कोपोलो ने बड़े भारतीय जहाजों का उल्लेख किया है जो बहुत सारे सौदागर और तरह-तरह के माल लेकर कूवा (चीन का बन्दरगाह) जाया करते थे।[4] इसके अलावा पश्चिमी तट पर स्थित कई व्यस्त बन्दरगाहों की भी चर्चा है जहाँ अरब और चीनी व्यापारी आया करते थे। अरब लेखकों ने १०वीं सदी में जितने बन्दरगाहों का जिक्र किया है उनकी तादाद ७वीं सदी के अरब लेखकों द्वारा बताई गई संख्या से बहुत अधिक है।[5] इससे स्पष्ट होता है कि भारत के पश्चिमी तट पर १०वीं से लेकर १३वीं सदी तक विदेशी व्यापार फिर काफी जोर शोर से होने लगा था। इस बात की पुष्टि समकालीन अनुदानपत्रों से भी होती है। इनमें हम नगर चुंगी और विक्रय कर का अधिकाधिक उल्लेख देखने को मिलता है।

विदेशी व्यापार का स्वरूप भी अब बदल गया था। ईस्वी सन् की प्रारम्भिक सदियों में भारत मुख्यतः विलासिता की सामग्री मसाले, रेशमी वस्त्र और मलमल दूसरे देशों को भेजा करता था। लेकिन अब वह कमाया हुआ चमड़ा, चमड़े का सामान मोटा खुरदरा कपड़ा और अन्य प्रकार के कपड़े भी

---

१ गा० ओ० सि०, २८ परिच्छेद ४ श्लोक ३७४ ६ ।

२ ए० कै० मजुमदार स० प्र० पृ०, पृष्ठ २६७ । जगडुचरित नामक कृति जिसका नायक एक सौदागर है १४वीं सदी में किसी समय लिखी गई। वही पृष्ठ ४२० / १२११ में एक हिंदू व्यापारी गजनी में व्यापार करता था (वही पृष्ठ २६७) ।

३ ए० कै० मजुमदार स० प्र० पृ० पृष्ठ २६८ ।

४ मार्कोपालो २ २३११

५ नदवी, अरब भारत के सम्बन्ध पृष्ठ ४६ ।

निर्यात करने लगा था।[1] सम्भव है, मोटा कपडा सण या पटुए से ही बनाया जाता रहा हो लेकिन चीनी विवरण म बढिया किस्म के पटुए के निर्यात का भी उल्लेख हुआ है।[2] चीनी और अरब विवरणो के अनुसार इस काल म मालवा और गुजरात से ईख तथा अदरख भी बाहर भेजा जाता था। माटे कपडे, रुई स तयार की गई चीजा, पटुए और शक्कर का निर्यात बडे पमान पर होता होगा क्योकि य ऐसी वस्तुए थी जिनका उपयाग अरब और चीन के उच्च वर्गीय लोगा तक ही सीमित नही रहा होगा। ईस्वी सन की प्रारम्भिक सदियो मे बढिया किस्म के कपडो का निर्यात तो होता था, किन्तु पटुए और शक्कर का नही।[3] इस प्रकार लगता है कि विदेशी व्यापार म य माल नय नय ही दाखिल किये गये थे। इन दोनो वस्तुओ के व्यापार का परिमाण क्या था इसका हम कोई अन्दाजा नही है लेकिन इसम तो कोई सन्देह नही कि य विलासिता की सामग्री नही थी और इसलिए इनके निर्यात का असर इनके उत्पादको पर भी पडा होगा, क्योकि उन्ह अपनी कपास, पटुए और ईख के लिए नकद दाम दिये जात होग। जहाँ तक चीन का सम्बन्ध है जिस प्रकार पहली सदी म भारतीय मसाला के आयात के परिणामस्वरूप रोम को अपना बहुत सारा सोना गँवाना पडता था, उसी प्रकार १०वी १२वी सदियो म भारत की उपयुक्त वस्तुओ और विलासिता की सामग्री क आयात क कारण चीन का काफी सोना चादी भारत चला आता था। अत रोम की ही तरह चीन को भी १२वी सदी म मलाबार तथा सिलोन के साथ अपने व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाना पडा।[4]

---

१ नन्दी, अरब भारत के सम्बन्ध पृष्ठ २६५ ६६।

२ पुष्पा नियोगी, द इकनामिक हिस्ट्री आफ नार्दन इडिया पृष्ठ १३६।

३ परिप्लस म एक स्थल पर भारत से निर्यात की जानेवाली वस्तुओ म शक्कर का उल्लेख है लेकिन यह निर्यात इतना महत्त्वपूर्ण नही था कि उस पुस्तक म निर्यात की जानेवाली वस्तुओ की जो एकीकृत सूची म दी गई है, उसम स्थान प्राप्त कर सकता।

४ चाउ जू-कुआ, पृष्ठ १८ पुष्पा नियोगी की स० ग्र० पु० के पृष्ठ १४७ पर उद्धृत। अब तक भारत के पश्चिमी तट पर कोई चीनी सिक्का नही मिला है लेकिन चीनी सिक्के यहाँ हो सकते हैं इस सम्भावना को अस्वीकार नही किया जा सकता। शायद चीनी लोग भारत को सोने और चाँदी के डले भेजते थे, जिन्ह गलाकर यहाँ सिक्के या आभूषण बनाये जाते थे। लेकिन तजौर मे बहुत-से चीनी सिक्के मिले हैं जो दक्षिण भारत के साथ चीन के व्यापारिक सम्बन्धो की साक्षी भरते हैं।

तुर्कों की भारत विजय से पहले की दो सदियों के व्यापारिक पुनरुत्थान का क्या कारण था, यह कहना मुश्किल है। पूर्वी भारत में व्यापारिक गतिविधियों को उत्तेजन मिलने का एक कारण यह प्रतीत होता है कि वहाँ दो महत्त्वपूर्ण व्यापारिक वस्तुओं सुपारी और नारियल का उत्तरोत्तर अधिकाधिक उत्पादन किया जाने लगा था। बंगाल के सेनों के अनुदानपत्रों में जो अक्सर मिश्रा या उल्लेख मिलता है उसका श्रेय भी शायद इन्हीं दो तिजारती चीजों के उत्पादन को था। जहाँ ११वीं और १२वीं सदियों में उत्तरी तथा पूर्वी बंगाल में अनुदान में दी गई वस्तुओं के रूप में इन दोनों का जिक्र बार बार हुआ है वहाँ न तो गुप्त काल के अनुदानपत्रों में और न उसके बाद के पाल अनुदानपत्रों में ही इनका कोई उल्लेख हुआ है। पूर्वी बंगाल में सबसे पहले ७वीं ८वीं सदी के एक अनुदानपत्र में सुपारी का जिक्र आता है।[1] लेकिन लगता है कि अनुदानों में नारियल को दो सदी बाद स्थान मिला। चन्द्र और वर्मन अनुदानपत्रों में अनुदत्त भूमि के उत्पादनों के रूप में सुपारी और नारियल का उल्लेख तो हुआ है लेकिन इन उत्पादनों का मुद्रा के रूप में मूल्य नहीं बताया गया है। किन्तु दूसरी ओर अधिकांश सेन अनुदानपत्रों में मुद्रा के रूप में आय का अनुमान वहीं दिया गया है जहाँ इन दो पदार्थों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। इन दोनों फसलों के पेड़ स्पष्टतः दक्षिण भारत से बंगाल में लाये गये और वहाँ ११वीं सदी से इन्हें आमदनी का जरिया माना जाने लगा। वहाँ के किसान शायद इन फसलों के लिए राजा को कर देते थे, और राजा जब धार्मिक अनुदान देता था तब यह कराधिकार ग्रहीता को सौंप देता था। हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि नारियल के जो तरह-तरह के उपयोग होते हैं वे सब बंगाल के लोगों को मालूम थे, लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि सुपारी और नारियल किसानों की नकद आमदनी के मुख्य साधन थे।

मध्य और पश्चिमी भारत में व्यापार के पुनरुत्थान का महत्त्वपूर्ण कारण यह बताया जाता है कि यहाँ [illegible] [illegible] और [illegible] इन तीन व्यापारिक और नकद आय देनेवाली फसलों की खेती खूब होने लगी थी। ११वीं १२वीं सदियों के कई अनुदानपत्रों से प्रकट होता है कि मध्य भारत में इन तीनों फसलों की खेती

---

१ सर्वसिंग आर [illegible] एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल में प्रकाशित [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ? नं० ६ पृष्ठ ६० [illegible] की पंक्ति ८।

काफी बड़े पैमाने पर होती थी। स्पष्ट ही इन उपजों से जो चीजें तैयार की जाती थीं उन्हें सरीश्वर देहानी सौदागर निर्यात के लिए बन्दरगाहों को भेज देते थे। यही कारण है कि मध्यप्रदेश के किसान १३वीं सदी में नकद लगान दिया करते थे।[1] जहाँ तक ईख का सम्बन्ध है इसका उत्पादन चंदेल राज्य में ही नहीं मालवा में भी होता था और गुजरात के समुद्र-तट से शक्कर का निर्यात किया जाता था। इस काल में ईख पेरने के यन्त्र इक्षुनिपीडनयन्त्रम् का काफी प्रयोग होता था, जिसका उल्लेख हमें हेमचन्द्र की कृति देसीनाममाला में मिलता है।[2] यह तथ्य बड़े महत्त्व का है क्योंकि इससे पहले हमें ईख पेरने के यन्त्र के लिए कोई संस्कृत शब्द नहीं मिलता।[3] इस यन्त्र के प्रयोग के प्रसार से शक्कर उद्योग को बड़ा उत्तेजन मिला। हमें यह तो मालूम नहीं है कि कपास से सूत-कपड़ा आदि बनाने की प्रणाली में कोई प्रगति हुई या नहीं, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि ७वीं सदी में रहमी (विद्वानों ने इसे बंगाल के लिए प्रयुक्त एक नाम माना है) से सूती कपड़े का निर्यात होता था, और मालवा तथा गुजरात में कपास की खेती काफी बड़े पैमाने पर होती थी। भारतीय कपास की श्रेष्ठता की साक्षी मार्कोपोलो भी भरता है। उसके अनुसार गुजरात में कपास के बड़े बड़े पौधों से जो २० साल पुराने होने पर छः छः गज ऊँचे हो जाते थे काफी रुई पैदा होती थी।[4]

ईख की खेती न केवल मध्य भारत में होती थी बल्कि राजस्थान के सूखे इलाके में भी इसके उपजाये जाने के प्रमाण मिलते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि सिंचाई के कृत्रिम साधनों का भी उपयोग किया जाता था। यहाँ अरहट्टा या अरघट्टा का उल्लेख किया जा सकता है। अरहट्ट या अरघट्ट पानी निकालने का एक चक्र था जिसमें कई बाल्टियाँ लगी होती थीं और बैलों की सहायता से उसके जरिये कुएँ से पानी निकाला जाता था। यह आजकल के रहट के जैसा था। इस यन्त्र का उल्लेख पहले-पहल ८वीं शताब्दी के अभिलेखों में मिलता है और इसका उपयोग भारत ने शायद फारस से सीखा था। यहाँ इसका प्रचार होने में काफी समय लगा, क्योंकि यहाँ के लगभग गतिहीन कृषक समाज के लोग नई चीजों को जल्दी स्वीकार नहीं करते थे। लेकिन अगली

---

१ का० इ० इ० ४ न० ११६, पंक्तियाँ १ ११।

२ २ ६५ ६ ५१, ४ ८।

३ जोगेशचन्द्र राय कृत एंशिएण्ट इंडियन लाइफ पृष्ठ ८५१, ए० के० मजुमदार की स० प्र० पु० के पृष्ठ ४७८ ९ पर उद्धृत।

४ ए० के० मजुमदार स० प्र० पु० पृष्ठ ७५९।

तीन शताब्दियों में यह यंत्र काफी लोकप्रिय हो गया, क्योंकि दक्षिण और दक्षिण पूर्व मारवाड़ में प्राप्त १२वीं और १३वीं शताब्दियों के चाहमाना अभिलेखों से सिद्ध होता है कि इन कुओं का उपयोग काफी बड़े पैमाने पर होता था जिनसे उपयुक्त ढंग से चक्र द्वारा पानी निकाला जाता था। इससे ईख, कपास और सन जैसी नकद आय देनेवाली व्यापारिक फसलों की खेती को खूब उत्तेजन मिला होगा।

लगता है कि १२वीं और १३वीं सदियों में कमाये हुए चमड़े और चमड़े के सामान का निर्यात मध्य-पूर्व और चीन को काफी बड़े पैमाने पर किया जाने लगा। देश में इस उद्योग की प्रगतिशील स्थिति से निर्यात को बल मिला, और यहाँ इस उद्योग के विकास की साक्षी देशी और विदेशी लोग खूब भरते हैं। राजतरंगिणी में कश्मीर के चमकारों का उल्लेख हुआ है[1] और लक्ष्मीधर ने चमकारों के सघों का जिक्र किया है।[2] हेमचन्द्र ने कई तरह के जूते और जीन बनानेवालों का उल्लेख किया है।[3] मार्कोपोलो कहता है कि गुजरात में बहुत ज्यादा चमड़ा कमाया जाता था और यहाँ लाल और नीले चमड़े की बहुत सुन्दर चटाइयाँ बनायी जाती थीं।[4]

उद्योग-व्यवसाय को नौका निर्माण में कौशल के विकास से भी सहायता मिली। परमार भोज द्वारा ११वीं सदी में लिखी युक्तिकल्पतरु में कई तरह के जलयानों का उल्लेख मिलता है और उसमें बताया गया है कि तख्तों को लोहे की कीलों से नहीं बल्कि रस्सी से जोड़ना चाहिए क्योंकि कील होने से नौका को चुम्बकीय चट्टानें अपनी ओर खींच ले सकती हैं।[5] यद्यपि यह लेखक का अंधविश्वास ही प्रतीत होता है फिर भी इसमें एक खूबी तो थी ही कि कीलों से जोड़े गये तख्तों की अपेक्षा रस्सी से बाँधे तख्तों में आँधी-तूफान के थपेड़े झेलने की अधिक क्षमता होती।

११वीं १२वीं सदियों के व्यापार-व्यवसाय को किसी बाहरी परिस्थिति से सहायता मिली या नहीं, यह कहना कठिन है। सम्भव है क्रूसेडों (धर्मयुद्धों)

---

१ पुष्पा नियोगी स० ग्र० पु०, पृष्ठ २४७।

२ बी० पी० मजुमदार सोशियो इकनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इंडिया, पृष्ठ २०४।

३ ए० के० मजुमदार स० ग्र० पु० पृष्ठ २६१।

४ वही पृष्ठ २६० ६१।

५ पुष्पा नियोगी स० ग्र० पु०, पृष्ठ १७०।

के कारण यूरोप के साथ अरब के व्यापार में बाधा पड़ने के कारण अरबों का ध्यान भारतीय व्यापार की ओर गया हो। इधर यूरोप की भौतिक समृद्धि खूब बढ़ी थी, और उसके रहन सहन का स्तर काफी ऊँचा हो गया था। इसलिए विलासिता की सामग्री की माँग भी बढ़ी ही होगी। महमूद और मसूद के शासन काल में सिक्के बहुत बड़े पैमाने पर जारी किये गये और उनका स्तर भी बहुत अच्छा था। इससे ११वीं सदी में भारत तथा पूर्वी इस्लामी दुनिया के बीच व्यापार को बड़ा उत्तेजन मिला, यद्यपि विद्वानों का ऐसा विचार है कि इस व्यापार का संतुलन भारत के ही पक्ष में था।[1] वाणिज्य-व्यापार के पुनरुत्थान का ठीक ठीक कारण चाहे जो रहा हो, इसमें सन्देह नहीं कि इस काल में इस क्षेत्र में काफी प्रगति हुई और इस तथ्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वाणिज्य व्यापार की प्रगति के फलस्वरूप पश्चिमी भारत में भूमि पर आधारित सामंतवादी अर्थव्यवस्था की जड़ें कमजोर होने लगी थीं।

जान पड़ता है आंतरिक व्यापार को यातायात के साधनों में कुछ सुधार होने से उत्तेजन मिला। भूतपूर्व भरतपुर राज्य के बयाना नामक स्थान से प्राप्त ६५५ के एक अभिलेख से प्रतीत है कि शूरसेन शासक वंश की किसी महिला ने विष्णु को एक गाँव अनुदान में दिया था, जिसमें होकर गुजरनेवाले व्यापारिक माल से लदे प्रत्येक घोड़े पर चुंगी वसूल की जाती थी।[2] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि १०वीं सदी से यहाँ घोड़े का उपयोग माल ढोने के लिए किया जाने लगा था। एक अन्य अभिलेख में ऊँट पर लदे माल पर राज्य द्वारा चुंगी वसूल करने का उल्लेख मिलता है। भूतपूर्व जोधपुर राज्य में एक मन्दिर को अनुदानस्वरूप यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह अपने क्षेत्र में आने जानेवाले ऐसे प्रत्येक कारवाँ से जिसमें दस से अधिक ऊँट और २० से

१ सी० ई० बासवर्थ *दि गजनवाइड्स* पृष्ठ ७९।

२ यहाँ 'प्रति घोटक च दाने द्रम्मो देवस्य भागवतो विहित'' शब्दों का प्रयोग हुआ है ए० इ० २२, नं० २० श्लोक ४१। दो गाँवों तथा श्रीपथा और बुसावट की मण्डपिकाओं से होनेवाली आय में से प्रति दिन तीन तीन द्रम्म के अनुदान (वही, श्लोक ३९ ४०) के सम्बन्ध में आर० डी० बनर्जी का यह विचार कि महसूल प्रत्येक अश्व भार माल पर लगाया जाता था सही जान पड़ता है हालांकि वे यह भी कहते हैं कि जब घोड़ा बेचा जाता था तभी महसूल लगाया जाता था (वही, १२१)।

अधिक बल हो, एक एक पना वसूल करे।[1] यद्यपि ये अभिलेख १३वी सदी के अंतिम वर्षों के हैं लेकिन ऊँटों का उपयोग शायद पहले ही शुरू हो गया होगा, क्योंकि उन अभिलेखों और मानसोल्लास[2] के अनुसार सैनिक अभियानों में यातायात के लिए भैंसों, ऊँटों और बैलों का उपयोग होता था। इस प्रकार अब बैलों के अलावा माल ढोने के लिए ऊँटों और घोड़ों का भी व्यापक उपयोग प्रारम्भ हो गया था। यह सच है कि पूर्वी भारत में ऊँटों का उपयोग नहीं हो सकता होगा, लेकिन घोड़े अब वहाँ भार वाहक पशु बन गये थे। अभिलेखों में घोड़ों की बिक्री का बार बार जिक्र होने से लगता है कि अब वे सैनिक अभियानों के लिए ही नहीं बल्कि व्यापारिक प्रयोजनों के लिए भी काफी महत्वपूर्ण हो गए थे। इसलिए हम ऐसा मान सकते हैं कि इन नये साधनों के प्रयोग से यातायात की सुविधा बनी होगी जिससे व्यापार को सहायता मिली होगी।

इस काल में मुद्रा की स्थिति पर विचार करने पर हम आंतरिक और विदेशी दोनों तरह की व्यापारिक प्रगति को ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं। समकालीन अभिलेखों तथा साहित्य में अनेकानेक स्थानों पर मुद्रा का उल्लेख हुआ है, और इस काल के बहुत से सिक्के हम सुलभ भी हैं। १००० ईस्वी के बाद हम उत्तर भारत में सिक्कों की ढलाई फिर से आरम्भ होते देखते हैं, यद्यपि यह चीज अभी मुख्यतः उत्तर प्रदेश, मध्य भारत, मालवा, गुजरात और राजस्थान तक ही सीमित थी। बंगाल और बिहार में इसके बहुत क्षीण प्रमाण ही मिलते हैं। सच तो यह है कि कुछ विद्वानों द्वारा व्यक्त किये गये इस मत को सहज ही अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस काल में पूर्वी भारत में विनिमय का माध्यम कौड़ी थी। किन्तु बंगाल में सेनों और उनके समकालीन शासकों के अधीन स्थिति निश्चय ही कुछ बदल गई। सेन भूमि अनुदानपत्रों में अनुदत्त गांवों या भूमि खण्डों के राजस्व का अनुमान कपर्दक पुराणों में लगाया गया है। पालों के अधीन हम इस विनिमय माध्यम कपर्दक पुराण की कोई जानकारी नहीं मिलती। टिपरा जिले में प्राप्त ११३४ के एक अभिलेख में दामोदरदेव द्वारा २० ब्राह्मणों को दान किये गये प्रत्येक क्षेत्र की वार्षिक आय नकद राशि में कूती गई है और इन ब्राह्मणों का इन सभी क्षेत्रों से होनवाली

---

1 ए० इ० ११ न० ६ २२ पंक्तियाँ ६७।
2 अध्याय २० श्लोक १०६८।

कुल आय १०० पुराण बताई गई है,[1] हालाँकि हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि ये ग्रहीता अपना अंश नकद राशि में ही वसूल करते थे। अब तक जो सिक्के मिले हैं उनमें से किसी को भी सेन अथवा पाल राजाओं या इस काल के बंगाल के किसी अन्य शासक का नहीं माना जा सकता, लेकिन अभिलेखों के हवालों से लगता है कि पालों के राज्य में तो मुद्रा का खास चलन नहीं था, किन्तु सेनों के राज्य में उसका काफी चलन था।

जैसे-जैसे हम पश्चिम की ओर बढ़ते हैं, हम मुद्रा का अधिकाधिक चलन देखने को मिलता है। सिक्के जारी करनेवाला पहला गाहड़वाल राजा मदनपाल (११०?—११) था। द्रम्म नाम के बहुत से सिक्के उसके पुत्र गोविन्दचन्द्र (१११२—५५) के माने जाते हैं। अभी भी उसके सिक्के जिस तेजी से मिल रहे हैं, उससे प्रकट होता है कि उनका व्यापक चलन था। अन्य शासकों के सिक्कों के बारे में हमें बहुत कम जानकारी है। उत्तर भारत के प्रमुख राजवंशों में सबसे पहले सोने के सिक्कों की ढलाई डाहल के कलचुरि राजवंश ने फिर से आरम्भ की। इस राजवंश के कई शासकों के सिक्के प्राप्त हुए हैं। कलचुरि स्वर्ण मुद्राएँ सबसे पहले गांगेयदेव (१०१९—४०) ने जारी कीं। इसके बाद चन्देल शासकों ने मुद्रांकन आरम्भ किया। इस राजवंश ने अपने शासन-काल के पहले सौ सालों में कोई सिक्का नहीं ढलवाया, लेकिन कीर्तिवर्मन (१०६०—११००) ने यह काम शुरू किया और उसके उत्तराधिकारियों ने उसका अनुसरण किया। इन शासकों ने तीन प्रकार के द्रम्म जारी किये। चन्देलों के राज्य में मुद्रा के बढ़ते हुए चलन का संकेत १२१२ के एक अभिलेख से मिलता है।[2] इसमें एक विसावंध, अर्थात् जमीन रेहन रखकर मुद्रा लेने का जिक्र है, यद्यपि यह राशि कितनी थी, यह बात यहाँ नहीं बताई गई है।

ऐसे सिक्के बहुत बड़ी संख्या में मिले हैं जो प्रतीहार साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर उदित होनेवाले तथाकथित सम्बद्ध राजपूत राजवंशों के माने गए हैं। उदाहरण के लिए, चाहमानों को बहुत से सिक्के जारी करने का श्रेय दिया जाता है और ऐसे सिक्के एक खासी तादाद में प्राप्त भी हुये हैं। बहुत से ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि उनके राज्य में वाणिज्य व्यापार खूब फूल-फल रहा था। इसलिए वहाँ मुद्रांकन आवश्यक था। दुकानों और वस्तु-विक्रय से प्राप्त होनेवाले राजस्व का अनुमान नकद राशि में लगाकर मन्दिरों

---

१ ए० इ० ३० ५७ ५८।

१ ए० इ० २५ न० १ पंक्तियाँ १० १४।

को अनुदान मे दिया जाता था। और जहाँ तक गुहिला का सम्बन्ध है, 'श्री गुहिल मुद्रा चिह्न से अंकित लगभग २००० रजत मुद्राएँ १८६९ म आगरा मे प्राप्त हुई[1] लेकिन आजकल वे कहाँ किसके पास हैं, यह पता नही है। हजारा की तादाद म प्राप्त गधया सिक्का म से बहुता को गुहिला और चाहमानो का माना जाता है। जो गधया सिक्के अभरांकित हैं उन्ह ११वी सदी से पहले का नही माना जा सकता है। इसी प्रकार १०वी सदी के अंतिम चरण से लेकर १२वी सदी के प्रथम चरण तक के बहुत से सिक्को को कनिंघम ने अजमेर और दिल्ली के तोमर राजवश का माना है। यहाँ १३वी सदी म ग्वालियर के नारवार शासका द्वारा जारी किये गये ताबे के सिक्को का भी उल्लेख किया जा सकता है। दो स्थाना से प्राप्त क्रमश ७९१[2] और ९२६[3] ताम्र मुद्राआ को भी इन्ही का माना गया है।

जहा तक मालवा के परमारा का सम्बन्ध है, उनके अभिलेखो (बासवारा मे प्राप्त अथूणा अभिलेखा) म हम सिक्का का उल्लेख देखने को मिलता है। परमार राजाओ मे स्वण मुद्राए जारी करने का श्रेय केवल उदयादित्य को प्राप्त है, जो १०६० और १०८७ के बीच मध्य और उत्तरी भारत के कुछ हिस्सा पर राज्य करता था।[4]

मध्य भारत, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मालवा और गुजरात म जो हम सिक्का का चलन फिर से आरम्भ होते देखते है उसका सम्बन्ध—विशेषकर पश्चिमी भारत म—वाणिज्य व्यापार की प्रगति से जोडा जा सकता है। अभिलेखा म मण्डपिकाओ तथा दुकाना से प्राप्त नकद राजस्व के अनुदान म दिये जाने का उल्लेख बार-बार मिलता है। उनसे यह भी ज्ञान होता है कि पश्चिमी भारत म तटीय क्षेत्रा म देशी और विदेशी व्यापारिया स आयात नियात कर नकद लिया जाता था। कोकण म विदेशी व्यापारिया को गद्याण नामक स्वण मुद्राएँ देनी पडती थीं, और देशी व्यापारिया को धरण नामक स्वण मुद्राआ म सीमा शुल्क चुकाना पडता था। लेखपद्धति म ऐसे दस्तावजा के मसौदे दिये

---

१ ए० एस० आई० की १८७१ ७२ की रिपोर्ट (९ ९५) म इसकी सूचना ए० सी० एल० कालाइल न दी है।

२ सी० आर० सिघल *बिब्लियोग्राफी आफ इंडियन क्वायन्स* भाग १ पृष्ठ ९५।

३ वही पृष्ठ १०२।

४ वही, पृष्ठ ९५।

गये है जिनसे प्रकट होता है कि वाणिज्य व्यापार और वस्तुओ की खरीद बिक्री खूब चलती थी। इस पुस्तक म हमे व्यापार और टकसाल की देख रेख करन वाले विभागो की जो व्यवस्था मिलती है उसकी पुष्टि चौलुक्य राज्य के अभिलेखीय प्रमाणो से भी होती है।

मुद्राकन और व्यापार की दृष्टि से पूर्वी भारत तथा उत्तरी और पश्चिमी भारत इन दोनो के बीच बडा अतर था। पूर्वी भारत म विनिमय का मुख्य माध्यम कौडी थी, यद्यपि उडीसा के कुछ भागो म सोने के बहुत छोटे छोटे सिक्के मिलते हैं। अभिलेखो से ऐसा कुछ नही लगता कि इस क्षेत्र म कोई खास व्यापार होता था या ज्यादा शहर थे। स्पष्ट है कि आत्मनिर्भर सामन्तवादी अर्थव्यवस्था पश्चिम की अपेक्षा पूर्व म अधिक सशक्त सुपुष्ट थी। लेकिन विचित्र बात यह है कि अगर हम उडीसा को छोड दें तो सेवावृत्ति स्वरूप सामन्तो और राज्याधिकारियो को दिये गये भूमि अनुदानो की सख्या हम पूर्व की अपेक्षा पश्चिम म ही अधिक देखने को मिलती है। हो सकता है कि वास्तव मे स्थिति ऐसी नही रही हो किन्तु पूर्वी भारत म जहा प्राय बाढ आती रहती थी और अन्य क्षेत्रो के राजा आक्रमण करते रहते थे, ऐसे अनुदानो के अभिलेखीय प्रमाण नष्ट हो गये हो।

लेकिन हम मध्य भारत मे एक महत्वपूर्ण अभिलेख उपलब्ध हुआ है जिसमे एक बहुत बडे परिवर्तन का सकेत मिलता है। पूर्ववर्ती काल म देश के विभिन्न हिस्सो म राजस्व जिन्सो के रूप म निर्धारित किया जाता था, किन्तु इस अभिलेख से पता चलता है कि अब यही राजस्व नकद राशि के रूप म निर्धारित किया जाता था। १३वी सदी के प्रारम्भ (१२१३) के इस अभिलेख स ज्ञात होता है कि कदाचित रत्नपुर के कलचुरियो के सामन्त महामाण्डलिक पम्पराज द्वारा जारी किये गये एक दस्तावेज मे जयपरा गाव का राजस्व पहले से किये गए निर्णय के अनुसार १३० सराहणडामाच्छु और १४० विजयराजटक निर्धारित किया गया।[1] इसम यह भी बताया गया है कि एक दूसरे गाव का राजस्व १५० विजयराजटक निर्धारित किया गया।[2] यद्यपि यह गता लक्ष्मीधर के नाम जारी किया गया अनुदानपत्र है फिर भी इससे नकद राशि के रूप मे राजस्व निर्धारित करने के चलन का स्पष्ट सकेत मिलता है। इसे मुस्लिम प्रभाव का परिणाम मानने का प्रश्न नही उठता, क्योकि १२०६ म स्थापित दिल्ली सल्तनत म तो

---

१ का० इ० इ० ४ न० ११६ पंक्तियाँ ११।
२ वही, पंक्तियाँ ७ ८।

यह इजारा शामिल नहीं था। इसके विपरीत दिल्ली सल्तनत में सोने व चाँदी राशि के रूप में निर्धारित किए जाने के प्रयास को उस प्रक्रिया की चरम परिणति मानना चाहिए जो उत्तर भारत में ११ और १२वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुई थी।

१०वीं शती के उत्तरार्ध में पंजाब तथा पश्चिमोत्तर भारत में मुद्रा के व्यापक चलन के संकेत मिलते हैं। ऐसा हुआ तो इसका कारण अरबों की सिन्ध विजय था। सिन्ध में उनकी मौजूदगी के कारण पश्चिमी भारत के साथ अरब संसार के व्यापारिक सम्बन्ध मजबूत हुए। इसके और कारण चाहे जो रहे हों इतना तो निश्चित है कि ११वीं शती के प्रारम्भ में मुद्रा का खूब चलन था। जब १००५ ई० में महमूद ने मुलतान को जीता तो कहते हैं कि यहाँ के नागरिकों को धमकी दी गई कि यदि वे नगर को तहस-नहस किए जाने से बचाना चाहते हों तो उसे दण्डस्वरूप दो करोड़ दिरहम (द्रम्म) दें।[1] कहते हैं कि १००८ ई० में उसकी सिंधु घाटी में स्थित नगरकोट दुर्ग में स्थित मन्दिर से महमूद ढले हुए सिक्कों के रूप में सात करोड़ दिरहम ७ ००० मन सोने और चाँदी के ढले कीमती जड़ाऊ कपड़े चाँदी की बनी घर की आकृति तथा कीमती पत्थरों से जड़ा छत्र एवं सिंहासन ले गया।[2] और ऐसा बताया जाता है कि सोमनाथ मन्दिर से वह दो करोड़ दिनार मूल्य का लूट का माल ले गया। जब शाह को बन्दी बना लिया गया तब महमूद की सेना अपने साथ ४०० ००० दिनार मूल्य के आभूषण ढले सिक्कों के रूप में २६० ००० दिनार, ३० ००० दिनार से अधिक मूल्य के सोने चाँदी के बर्तन २० ००० दिनार मूल्य के कपड़े तथा जिन धर्मशास्त्र की कृतियों को नष्ट कर दिया उनको छोड़कर ५० जानवरों पर लदी पुस्तकें ले गया।[3] लूट की अन्य वस्तुओं से तो हमारे अध्ययन का कोई सम्बन्ध नहीं है लेकिन ढले हुए सिक्कों की इतनी बड़ी राशि इस बात की साक्षी भरती है कि गुजरात में मुद्रा का व्यापक चलन था। जहाँ मुस्लिम विवरणों में उल्लिखित सिक्कों की संख्याएँ इनके वास्तविक चलन का आभास देती हैं वहाँ इस तथ्य से कि सोने और चाँदी के ढले इतनी अधिक मात्रा में मौजूद थे इन धातुओं के सिक्कों के रूप में ढाले जाने की सम्भावना का संकेत मिलता है। सच तो यह है कि सुल्तान इस मन्दिर से जो सोने चाँदी के ढले और बहुमूल्य

---

१ सी० ई० बासवर्थ द गजनवीड्स पृष्ठ ७६।

२ वही पृष्ठ ७८।

३ वही।

पत्थर लूटकर ले गया। उनमें से कुछ को गजनी के कुशल जौहरियों ने ढालकर और काट तराश कर सुंदर आकृतियां प्रदान की।[1] यह सच है कि महमूद के आक्रमणों के परिणामस्वरूप पश्चिमी भारत को अपने बहुत सारे सिक्कों से वंचित होना पड़ा, लेकिन पंजाब में गजनवियों ने अपने सिक्के जारी किये, और वहां चांदी तथा तांबे के मिश्रण से बने हिंदू ढंग के सिक्कों का चलन कायम रहा।[2] तांबे और चांदी के मिश्रण से तैयार किये गये इन सिक्कों के जारी किये जाने से लगता है कि वहां आम लोगों में भी इनका चलन था।

उस काल की मुद्रा प्रणाली की विशेषता यह है कि अब धीरे धीरे सोने के स्थान पर मुलम्मा चढ़ी चांदी, शुद्ध चांदी, चांदी और कांसे का मिश्रण और अंततः तांबे के सिक्के ढाले जाने लगे थे। चंदेलों और कलचुरियों की मुद्रा प्रणालियां इसकी साक्षी भरती हैं। वैसे तो सोने के स्थान पर निम्नतर धातुओं के मुद्रांकन को कभी-कभी आर्थिक अवनति की निशानी भी माना जाता है लेकिन वास्तव में यह परिवर्तन प्रक्रिया एक गहनतर अर्थ भी रखती है। स्वर्ण मुद्राओं का उपयोग तो बड़े बड़े सौदों में ही सम्भव था। इसका मतलब यह हुआ कि उनका प्रयोग केवल धनी मानी लोग ही कर सकते थे। लेकिन चांदी, चांदी-कांसे तथा तांबे के सिक्कों का प्रयोग सर्वसाधारण के लिए भी सम्भव था और इसलिए इन सिक्कों का अस्तित्व मुद्रा के व्यापकतर चलन का संकेत देता है। इसलिए जो चीज आर्थिक अवनति की निशानी जैसी दिखाई देती है वह वास्तव में एक ऐसी युक्ति थी जिससे आम लोगों की दिन-प्रतिदिन की विनिमय माध्यम की आवश्यकता की पूर्ति होती थी। जन-साधारण के बीच तांबे के सिक्कों का चलन स्वभावतः अधिक होगा। उष्ण कटिबंध के जलवायु में दीर्घकाल तक रहने के कारण धीरे धीरे उनका क्षय होना स्वाभाविक था। फिर भी मध्य और पश्चिमी भारत में ११वीं और १२वीं सदियों के तांबे के जितने सिक्के मिले हैं वे कुछ कम नहीं हैं, और ये छोटे मोटे सामान्य सौदों में भी उनके प्रयोग का पर्याप्त प्रमाण पेश करते हैं। गाहड़वाल राजाओं में से हमें गोविंदचंद्र की ताम्र मुद्राओं की जानकारी है। ११वीं सदी में डाहल के कलचुरि राजा गांगेयदेव ने, जिनको स्वर्ण मुद्राओं की ढलाई का पुनरारम्भ करने का श्रेय प्राप्त है, तांबे के सिक्के भी जारी किए। लेकिन ज्यादातर तांबे के सिक्के १२वीं और १३वीं सदियों में रतनपुर

१ सी० ई० बासवर्थ, द गजनवीड्स पृ० ७६।

२ वही पृ० ७९।

के कलचुरि राजाओं के माने जा सकते हैं।[1] यद्यपि बिलासपुर में प्राप्त ताम्र मुद्राओं की एक राशि को ११वीं सदी के प्रारम्भ का माना जा सकता है।[2] रतनपुर के कलचुरि शासक प्रतापमल्ल (१२००-२६) के तो अब तक केवल तांबे के सिक्के ही मिल पाये हैं।[3] कलचुरियों ने हनुमान की आकृतिवाले तांबे के सिक्कों का चलन आरम्भ किया, और चन्देलों ने इस ढंग के सिक्कों को खूब लोकप्रिय बना दिया।[4] ऐसा जान पड़ता है कि ये हनुमानी सिक्के जिन्हें कभी-कभी द्रम्म भी माना जाता है, १२वीं और १३वीं सदियों में कलचुरि शासकों के अधीन विनिमय के सर्वसामान्य माध्यम थे।[5] मगर इसका मतलब यह नहीं कि इन शासकों ने सोने के और सिक्के जारी किये ही नहीं। तांबे के सिक्के चौहान राजाओं ने भी जारी किए।[6] इनके राज्य में ग्रामीण स्तर के व्यापार के काफी सबूत मिलते हैं। जान पड़ता है कि चाहमान[7] और तोमर शासकों ने बिलन के सिक्के प्रचुर मात्रा में जारी किये। पंजाब में गजनवी शासक पुराने हिन्दू सिक्कों के ही ढंग के तांबे और चांदी के मिलावटी सिक्के ढलवाते रहे।[8] भविष्य में शायद बिलन और तांबे के सिक्कों की और भी राशियां प्राप्त हों, लेकिन जितने सिक्के अब तक मिले हैं उनसे यह पता चलता है कि उत्तरी भारत और पश्चिमी भारत के एक बहुत बड़े हिस्से में जनसाधारण के बीच भी सिक्कों का चलन प्रारम्भ हो चुका था।

विनिमय के दो और भी साधनों का चलन था। एक तो था लोहे का सिक्का और दूसरा कौड़ी। जहां लोहे के सिक्के पश्चिमी भारत में चलते थे, कौड़ियां बंगाल और उड़ीसा में चलती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि सेनों के अधीन किसान लगान वगैरह कौड़ियों में चुकाते थे।

चांदी, बिलन, चांदी-कांसे और विशेषकर तांबे के सिक्कों और शायद कौड़ियों के भी उपयोग के परिणामस्वरूप जिन्स और श्रम के रूप में लगान

---

१ मीराशि, का० इ० इ० ४ पृष्ठ १८५-८७।
२ ज० न्यू० सो० इ०, १८, ११२-२।
३ मीराशि स०प्र० पु० प० १३७।
४ वही पृष्ठ १८८।
५ एस० के० मित्र द अर्ली रूलर्स आफ खजुराहो, पृष्ठ १८३।
६ दशरथ शर्मा अर्ली चौहान डाइनस्टीज पृष्ठ ३०३।
७ वही पृष्ठ ३०५।
८ सी० ई० बॉसवर्थ, स० प्र० पु०, पृष्ठ ७६।

महसूल अदा करने की प्रथा का ढीला पड़ना अवश्यम्भावी था। ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर हम निश्चयपूर्वक यह कह सकें कि जो लगान महसूल पहले जिंसों के रूप में दिये जाते थे वे अब नक्द दिये जाने लगे। लेकिन सेना और बाद के कलचुरियों के कतिपय भूमि अनुदानपत्रों से यह बात बिलकुल साफ हो जाती है कि लगान नक्द राशियों में निर्धारित किया जाता था। दिल्ली सल्तनत में सर्वत्र लगान की नक्द अदायगी का नियम लागू किया जाना इसी प्रक्रिया की चरम परिणति माना जा सकता है। हमारे पास इस निष्कर्ष के लिए भी कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है कि राज्य जो सेवाएँ श्रम के रूप में लेता था उसके स्थान पर अब वह नक्द राशि लेकर रैयतों को फुरसत दे देता था। लेकिन यह सोचना गलत होगा कि वेठ-बेगार की जो रीति मध्य और पश्चिमी भारत में दूसरी सदी से आरम्भ हुई वह दसवीं सदी में आकर बन्द क्या हो गई? उत्तर है ताँबे के सिक्कों का व्यापक चलन। हम ऐसा मान सकते हैं कि ताल-कूप, सड़क, किले आदि के निर्माण में किसानों से जो शारीरिक श्रम देने की अपेक्षा की जाती थी उसके बदले अब वे कुछ नक्द रकम दे देते थे और राज्य उन रकमों से अपने ये काम पूरा करता था। इस प्रकार जिंसों और शारीरिक श्रम के रूप में राजस्व की अदायगी के आधार पर खड़ी परम्परागत सामन्ती अर्थव्यवस्था की जड़ें मुद्रा के चलन के कारण खोखली पड़ गयी।

हमारे इस अध्ययन से जो चित्र सामने आता है वह दो विषम वास्तविकताओं के रंग में रंगा हुआ है। एक ओर हम देखते हैं कि खरख्वाह पण्डित पुरोहितों और गृहस्थों को अधिकाधिक भूमि अनुदान दिये जा रहे हैं उपसामन्तीकरण की प्रवृत्ति जोर पकड़ती जा रही है व्यापार तथा शिल्पोद्योग से प्राप्त राजस्व को पण्डित पुरोहितों की जिरात बनाया जा रहा है तरह-तरह के करों के बोझ से किसान तबाह हो रहे हैं और सामुदायिक अधिकारों को राज्य तथा व्यक्तियों द्वारा स्वायत्त किया जा रहा है। दूसरी ओर हम यह पाते हैं कि अनुदत्त भूमि की सीमाएँ ठीक ठीक निर्धारित कर दी जाती हैं उनकी उपज का अनुमान नक्द और जिंसों के रूप में पेश किया जाता है विष्टि का लोप हो चुका है आंतरिक तथा विदेशी व्यापार फिर होने लगा है। एक बहुत बड़े क्षेत्र में विनिमय साधन के रूप में मुद्रा का चलन पुन आरम्भ हो गया है। यद्यपि दूसरी अवस्था मुख्यत पश्चिमी भारत में पाई जाती है ऐसा कहना अनुचित न होगा कि भारत में पुरातन सामन्तवादी अर्थव्यवस्था ने तुर्कों की भारत विजय से पहले की दो सदियों में अपना चरमोत्कर्ष भी देखा और क्रमिक ह्रास भी।

परिच्छेद ७

निष्कर्ष

राजनीतिक सामन्तवाद के उद्भव और विकास का इतिहास ईस्वी सन् की पहली शताब्दी से ब्राह्मणों को दिये जानेवाले भूमि अनुदानों से जुड़ा हुआ है। गुप्त काल में ऐसे अनुदानों की संख्या काफी हो जाती है और तब से बराबर बढ़ती ही चली जाती है। हर्ष के शासन काल में नालंदा मठ के पास २०० गाँव थे। मन्दिरों तथा पण्डित पुरोहितों को पालों और प्रतिहारों से बहुत से गाँव मिले लेकिन राष्ट्रकूटों से प्राप्त गाँवों की संख्या की तुलना में वे कम ही हैं। राष्ट्रकूट राज्य के एक अनुदानपत्र में १४०० और एक दूसरे में ४०० गाँव देने का उल्लेख है। स्पष्ट है कि ब्राह्मणों और मन्दिरों को भू राजस्व इहलौकिक सेवाओं के प्रतिदान स्वरूप नहीं बल्कि दाता का परलोक सुधारने के लिए दिया जाता था। जो क्षेत्र उनको दान किये जाते थे उनमें उन्हें राजस्व विषयक व्यापक अधिकार दिये जाते थे और साथ ही शान्ति सुव्यवस्था कायम रखने और अपराधियों से जुर्माना वसूल करने-जैसे प्रशासनिक अधिकार भी। कुछ लोगों का कहना है कि राज्य के बड़े बड़े अधिकारियों को वृत्तिस्वरूप भूमि अनुदान दिये जाते थे। किन्तु समकालीन अभिलेखों से उनके इस कथन की पुष्टि नहीं होती। लेकिन यदि ब्राह्मणों को राजस्व अनुदान के रूप में वृत्ति मिलती थी तो औरों के लिए किसी अन्य पद्धति का प्रयोग क्यों किया जाता होगा? इसका कोई विशेष प्रमाण नहीं है कि अधिकारियों तथा राजसेवकों को सामान्यतः नकद वेतन दिया जाता था। यदि इहलौकिक सेवाओं का प्रतिदान नकद राशियों में किया जाता रहा हो तो फिर धार्मिक सेवाओं का प्रतिदान अन्य प्रकार से क्यों दिया जाता था? सच तो यह है कि धर्म तत्कालीन जीवन के सभी

क्षेत्रों को प्रभावित करता था और इसलिए यदि पण्डित पुरोहितों को धर्मकार्य के लिए वृत्ति दान की पद्धति अन्य सेवाओं का पुरस्कृत करने के लिए अपनायी गयी हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। वृत्ति के रूप में भूमि-अनुदान देना व्यावहारिक ही नहीं था इसे शुभ और पुण्य कार्य भी माना जाता था। अभिलेखों से वृत्ति स्वरूप भूमि अनुदान देने के चलन की पुष्टि मुख्यतः १००० ईस्वी से होती है। शासक सरदार अपने कुटुम्बियों तथा सामन्तों और राज्याधिकारियों को भी भूमि अनुदान देते थे। १००० ईस्वी से पहले के काल में बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश का अपेक्षा उड़ीसा तथा दक्षिण भारत में ऐसे अनुदानों के अधिक उदाहरण मिलते हैं। किन्तु ११वीं और १२वीं सदियों में उत्तर भारत में—विशेष रूप से गाहड़वालों चन्देलों कलचुरियों चौलुक्यों तथा परमारों के राज्यों में—इस तरह के मामलों की एक खासी बड़ी संख्या देखने को मिलती है।

सामन्तों के लिए कई संज्ञाओं का प्रयोग होता था। वे इस प्रकार हैं—भूपाल, भोक्ता, भोगी भौमिक भोगिजन भोगपतिक भोगिरूप, महाभोगी बृहद्भोगी, बृहद्भोगिक राजा राय, राजराजनक राजपुत्र राणक राजपुत्र, राजवल्लभ ठक्कुर सामन्त महासामन्त महासामन्ताधिपति, महासामन्त राणक सामन्त राजा माण्डलिक और महामण्डलेश्वर। अभिलेखों में महासामन्तों राणकों, राजपुत्रों माण्डलिकों तथा कुछ अन्य सामन्तों को भूमि अनुदान दिये जाने का उल्लेख मिलता है। लेकिन जान पड़ता है कि दूसरे सामन्तों को भी ऐसे अनुदान दिये जाते थे। इनमें से बड़े-बड़े सामन्तों को पंचमहाशब्दों के प्रयोग का अधिकार भी दिया जाता था।

प्रारम्भिक भारतीय सामन्तवाद की एक विशेषता यह थी कि राजस्व की दृष्टि से राज्य को अनेक इकाइयों में विभक्त कर दिया जाता था। ये इकाइयाँ दाशमिक द्वादशमिक अथवा षष्ठदशमिक प्रणाली पर गठित होती थीं। दाशमिक प्रणाली पर गठित इकाई में आनेवाले गाँवों की संख्या १० अथवा ऐसी कोई भी संख्या होती थी जो १० से विभाज्य हो। यही बात द्वादशमिक तथा षष्ठ दाशमिक प्रणाली पर गठित इकाइयों पर भी लागू होती थी। मनु स्मृति में जो पहली या दूसरी सदी में किसी समय लिखी गई कहा गया है कि दस गाँवों की इकाइयों अथवा दाशमिक प्रणाली पर गठित बड़ी इकाइयों में राजस्व एकत्र करनेवाले अधिकारियों को वृत्ति स्वरूप भूमि अनुदान देने चाहिए। ऐसी इकाइयाँ राष्ट्रकूटों और किसी हद तक पालों के राज्यों में भी कायम रहीं। लेकिन गुर्जर प्रतीहारों तथा उनके सामन्तों और उत्तराधिकारियों—चाहमानों

परमारों और चौलुक्यों— के राज्यों में द्वादशमिक या षष्ठदशमिक इकाइयों का चलन था। ऐसी कुछ इकाइयाँ शासक परिवार के लोगों को निजी जागीरों के तौर पर दी गयी, लेकिन शेष शायद राजस्व एकत्र करने के लिए गठित की गयी थीं और ये उन राज्याधिकारियों के हाथों में रहती थीं जिन्हें वृत्तिस्वरूप भूमि अनुदान दिये जाते थे। स्पष्ट है कि राजपूतों ने अपने विजित क्षेत्रों को इस तरह की इकाइयों में बाँट दिया था। यह तो अनुमान का ही विषय है कि ऐसी इकाइयों के गठन के पीछे मध्य एशिया में प्रचलित व्यवस्था की कोई प्रेरणा थी अथवा नहीं और जिस प्रकार जर्मनों के आक्रमण के परिणामस्वरूप यूरोप में सामन्तवाद को उत्तेजन मिला था उसी प्रकार हूणों तथा गुर्जरों के भारत आगमन से यहाँ भी सामन्ती व्यवस्था के विकास को बढ़ावा मिला या नहीं।

एक चीज से भारतीय सामन्तवाद के आर्थिक पहलू का बड़ा गहरा सम्बन्ध था। वह यह थी कि गुप्त काल से शूद्र लोग जिन्हें ऊपर के तीन वर्णों का सेवक और दास माना जाता था, किसान बनते जा रहे थे और पुराने किसान अर्ध-दासत्व की अवस्था में पहुँच गये थे। पहली प्रक्रिया का संकेत हम ह्वेनसांग के विवरण में मिलता है। उसने शूद्रों को किसान कहा है। उसके इस कथन की पुष्टि चार सदी बाद अलबरूनी के विवरण से भी होती है। गुप्तोत्तर काल की कई कृतियों में शूद्रों को किसान बतलाया गया है।

जहाँ तक प्रारम्भिक मध्य काल में भारतीय किसानों की अवदशा का सम्बन्ध है उसके पीछे बहुत से कारण काम कर रहे थे। इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण यह था कि ग्रामवासियों के सिर पर करों का बोझ बहुत बढ़ गया था। गाहड़वाल अनुदानपत्रों में गावों पर आरोपित ग्यारह करों का उल्लेख हुआ है। यदि राज्य सचमुच ये सारे कर वसूल करता था तो किसानों के पास किसी प्रकार अपना जीवन यापन करने को भी कुछ बच रहता होगा इसमें सन्देह ही है। ग्रहीताओं को ये कर वसूल करने का अधिकार तो दे ही दिया जाता था कभी कभी उन्हें इनके अतिरिक्त निश्चित अनिश्चित, उचित अनुचित कर लगाने और वसूल करने का भी अधिकार मिल जाता था। बहुत से अनुदानपत्रों में— उदाहरणार्थ पाल अनुदानपत्रों में—करों की पूरी सूची नहीं दी जाती थी और ग्रहीताओं को ऐसे अनेक अन्य कर भी वसूल करने का अधिकार दे दिया जाता था जो आदि शब्द सवाय-समेत अथवा समस्त प्रत्याय शब्द समुच्चय के अन्तर्गत आते थे। इस सब का मतलब यह है कि वे नये कर भी लगा सकते थे। किसान लोग सरकार को राजस्व के रूप में जो कुछ देते थे, अनुदान दिये जाने के

बाद उन्हें वह सब ग्रहीताओं को लगान के तौर पर देना पड़ता था, और इन अनुदानभोगियों में से अधिकारों को दाताओं को कोई कर नहीं देना पड़ता था।

किसानों की अवदशा का दूसरा कारण बेठ बेगार की प्रथा थी। मौर्य काल में बेगारदासों और कर्मकरों से कराया जाता था। लेकिन ईस्वी सन् की दूसरी सदी से इस तरह का श्रम शायद सभी प्रजाजनों से लिया जाने लगा। मध्य और पश्चिमी भारत में प्रारम्भ से लेकर १०वीं सदी तक दिये गये अनुदानों से विष्टि के चलन का पर्याप्त संकेत मिलता है। बंगाल और बिहार में सर्वपीड़ा को झेलना किसानों की सामान्य नियति थी। जब राज्य कोई क्षेत्र अनुदान में दे देता था तो अपना यह अधिकार भी छोड़ देता था जो स्वभावतः ग्रहीता के हाथों चला जाता था। शासक सरदार तो ग्रामवासियों से यदा-कदा ही बेगार लेते थे, किन्तु ग्रहीताओं के साथ ऐसी बात नहीं थी। गाँव की जमीन तथा अन्य प्राकृतिक साधनों से अधिक से अधिक लाभ उठाना उनका उद्देश्य होता था, और इसलिए वे लोगों से बेगार भी कसकर लेते थे।

किसानों की अधोगति इसलिए भी हुई कि अनुदानभोगी अनुदत्त भूमि को फिर से किसी को अनुदान में अथवा खेती करने के लिए देता था। ग्रहीता को यह अधिकार दिया जाता था कि वह अनुदत्त भूमि का स्वयं उपभोग कर सकता है अथवा स्वयं किसी और को दे सकता है, उसमें खुद खेती कर सकता है अथवा किसी अन्य से करवा सकता है। मध्य-काल के प्रारम्भ के कतिपय धर्मशास्त्रों से ज्ञात होता है कि राजा के नीचे और असली जोतदार के ऊपर जमीन के एक ही टुकड़े पर किसी-न-किसी प्रकार का हक रखने वाले लोगों की चार चार श्रेणियाँ हुआ करती थीं। इस बात की पुष्टि अभिलेखों से भी होती है। खुद खेती करने अथवा दूसरों से करवाने के अधिकार में किसानों को बेदखल करने का हक भी शामिल हो जाता है। मालवा, गुजरात, राजस्थान और महाराष्ट्र में ५वीं सदी से लेकर १२वीं सदी तक यह प्रथा खूब प्रचलित थी। परिणामतः काश्तकारों के स्थायी अधिकार कमजोर हो गये। वे अब जमींदार की इच्छानुसार जमीन जोतते थे या उसकी मर्जी पर जमीन से हटा दिये जा सकते थे, जिससे वे अतिरिक्त मजदूर के समान बनते जा रहे थे। यह स्पष्ट नहीं है कि उत्तर भारत के अन्य क्षेत्रों में भी भूस्वामियों को ऐसे अधिकार प्राप्त थे अथवा नहीं, लेकिन लगता है कि जो क्षेत्र भली भाँति आबाद हो गये थे और जिनमें आबादी काफी होने के कारण काश्तकारों की कोई कमी नहीं थी उनमें यह प्रथा विशेष रूप से प्रचलित थी। जनजातियों से आबाद पिछड़े इलाकों में किसान लोग खेती का काम छोड़कर किसी दूसरे गाँव में जाकर नहीं बस सकते थे।

मध्यभारत के कुछ हिस्सों में और [illegible] तथा उड़ीसा में ऐसे अनेक ग्राम अनुदान किए गए जिनमें अनुदत्त क्षेत्रों के रहनेवाले शिल्पी, कारीगर और किसान सब अधीन गुलामों या कृषि दासों की तरह ग्रहीताओं को सौंप दिए गए। मजदूरों की कमी होने के कारण ग्रामीण अर्थव्यवस्था को कायम रखने के लिए यह प्रथा शायद जरूरी हो गयी थी।

अनुदत्त क्षेत्रों में किसानों को घाटा इससे भी हुआ कि ग्रामवासियों के सामुदायिक अधिकार अनुदानभोगियों को दे दिए जाते थे। बहुत-से अनुदत्त गाँवों की सीमाएँ निर्धारित नहीं की जाती थीं जिससे लाभ उठाकर अनुदानभोगी अपनी निजी जायदाद बड़े मजे में बढ़ा लेते थे। फिर परती जमीन, जंगल झाड़, चारागाह, पेड़ पौधे जलाशय आदि पर उन्हें पूरा अधिकार दे दिए जाते थे। इसके कारण बिना कर दिए किसान इन साधनों का उपयोग नहीं कर सकते थे। स्पष्ट है कि गाँव के सामुदायिक साधन इस सिद्धान्त पर अनुदान में दिए जाते थे कि सारी जमीन राजा की है, लेकिन एक बार जब जमीन अनुदानभोगी के हाथ में चली जाती थी तो उस पर उसका व्यक्तिगत अधिकार हो जाता था और ग्रामवासियों के परम्परागत अधिकार उनसे छिन जाते थे। और इसमें तो सन्देह की गुंजाइश ही नहीं है कि गाँव की जमीन पर गाँव वालों को ऐसे परम्परागत अधिकार प्राप्त थे। गुप्त काल में हमें इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। उन दिनों बंगाल में ग्रामीण समाज की सहमति के बिना जमीन नहीं बेची जा सकती थी। आगे चलकर पाल राजा भी गाँव का अनुदान करने में ग्रामवासियों से विधिवत् सहमति लिया करते थे। इस प्रकार गाँव के जिन साधनों का उपभोग ग्रामीण समाज करता था, उनके ग्रहीताओं के नाम हस्तान्तरित किए जाने से किसानों की बहुत-सी सुविधाओं और अधिकारों का अन्त हो गया।

ऊपर जो तरीके बतलाए गए हैं उनके द्वारा राजा अथवा धार्मिक या गृहस्थ अनुदानभोगी अपने लाभ के लिए किसानों से तरह तरह की सेवाएँ प्राप्त करते थे। इस सबके परिणामस्वरूप किसान आर्थिक दृष्टि से पराधीन हो गये और इस स्थिति से छुटकारा पाने का उनके सामने कोई रास्ता नहीं था।

स्वभावतः यह सवाल उठता है कि इस दोहन के प्रति किसानों में कैसी प्रतिक्रिया हुई। भूमि अनुदानपत्रों से इस प्रश्न पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता और न साहित्यिक कृतियों से ही, क्योंकि उस काल का साहित्य मुख्यतः दरबारी है। लेकिन कुछ कृतियों से ऐसा जान पड़ता है कि किसानों की प्रतिक्रिया दो रूपों में प्रकट होती थी। एक रूप तो यह था कि वे गाँव छोड़ दिया करते

थे। यह बात बहुत पुराने जमाने से चली आ रही थी क्योंकि इसका उल्लेख हमें जातकों में भी मिलता है। सुभाषितरत्न-कोष में छठी शताब्दी के ज्योतिषी वराहमिहिर का एक अनुच्छेद उद्धृत किया गया है। उसमें एक ऐसे उजाड़ गाँव की दशा का वर्णन किया गया है जिसमें केवल ढही गिरी दीवारें ही रह गयी हैं क्योंकि वहाँ के भोगपति के अत्याचारों से पीड़ित होकर किसानों ने उस गाँव को त्याग कर दिया है।[1] भोगपति के अत्याचारों का उल्लेख बाण कृत हर्षचरित में भी हुआ है। इसी प्रकार बृहन्नारदीय पुराण में बताया गया है कि अकाल तथा भारी करों से परेशान होकर लोग एक स्थान को छोड़कर किसी दूसरे अधिक समृद्ध स्थान में चले जाते हैं।[2] लेकिन किसान उन गाँवों को छोड़कर नहीं जा सकते थे जो भूदानों के साथ साथ दान किये जाते थे, क्योंकि अनुदानभोगियों को किसानों को जमीन से बाँध रखने का कानूनी अधिकार होता था। शोषण के खिलाफ किसानों की दूसरी प्रतिक्रिया यह हो सकती थी कि वे विद्रोह कर दें। इसका एकमात्र उदाहरण पूर्वी बंगाल में कैवर्तों का विद्रोह है जिसका वर्णन संध्याकरनन्दी ने रामचरित में किया है। आज तक इस घटना को या तो अत्याचारी शासक के खिलाफ अपने अधिकारों को जतलाने वाला जनविद्रोह माना गया है या जनता की इच्छा से सिंहासन पर बैठाये गये विधिसम्मत शासकों के खिलाफ उपद्रव बताया गया है। लेकिन अगर हम इस बात की ओर ध्यान दें कि कैवर्तों को सेवा वृत्तियों के रूप में जो जमीन मिली हुई थी वह उनसे छीन ली गयी थी[3] और उन पर करों का बहुत भारी बोझ डाल दिया गया था[4] तो इस घटना का महत्त्व हम ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं। इस विद्रोह के वर्णन में बतलाया गया है कि निवसन और नग्न सिपाही भैंसों पर चढ़कर तीर धनुष से लड़े[5] जिससे प्रकट होता है कि ये विद्रोही योद्धा साधारण किसान थे। रामपाल के खिलाफ विफल विद्रोह का नेतृत्व करनेवाले भीम की सेना में रथ बिलकुल नहीं थे।[6] फिर भी यह विद्रोह इतना जबर्दस्त था और विद्रोही इतने दुर्धर्ष थे कि इसे

---

१ सं० डी० डी० कोसम्बी व वी० वी० गोखले, श्लोक ११७८।

२ सं० पी० एल० शास्त्री, ३८।

३ ए० इ०, २९ ५।

४ रामचरित, २, ४०।

५ वही ३६ ४२।

६ वही ४०।

दबाने के लिए सामन्तों की अपनी सत्ता और शक्ति-साधन पर्याप्त नहीं सिद्ध हुए और उन्हें अपने सामन्तों के साधनों का सहारा लिया। शायद यह पालों के खिलाफ एक किसान विद्रोह था, और पाल शासक अपने सामन्तों की सहायता से बगावत के खिलाफ लड़े। लेकिन, इस तरह का और उदाहरण हमें नहीं मिलता है और इसलिए इसके आधार पर हम कोई सामान्य निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। सम्भव यही लगता है कि कठिन परिस्थितियों से तंग आकर किसान लोग आमतौर पर अपना पहले गाँव पर छोड़कर कहीं अन्यत्र जा बसते होंगे। लेकिन पूर्व मध्य काल की आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था में यह उपाय भी बहुत कारगर नहीं हो सकता होगा, क्योंकि किसान तो जमीन से बँधे होते थे। अन्यत्र भी तो वैसी ही आर्थिक परिस्थितियाँ और राजनीतिक संगठन होते थे। इसलिए किसानों के वहीं और जो वतन था मानकर उनका छुटकारा नहीं था।

सामन्ती व्यवस्था देश के विभिन्न हिस्सों में मौजूद आत्मनिर्भर आर्थिक इकाइयों पर आधारित थी। मुद्रा का अभाव, नाप तौल के स्थानीय मानकों का चलन और राजाओं तथा सामन्त सरदारों द्वारा उद्योग व्यापार से होनेवाली नकदी तथा जिंसी आय का मन्दिरों के नाम हस्तान्तरण—ये तमाम बातें एसे एकाकों के अस्तित्व की साक्षी भरती हैं। पालों ने लगभग चार सौ वर्षों तक राज्य किया किन्तु उनका शायद ही कोई सिक्का आज प्राप्य हो। हम निश्चयपूर्वक गुर्जर प्रतीहारों के सिक्कों का भी हवाला नहीं दे सकते हैं और राष्ट्रकूटों के सिक्कों का नितान्त अभाव है। उड़ीसा और दक्षिण भारत में भी सातवीं से दसवीं सदी तक सिक्कों का अभाव रहा है। चाहमानों और सेनों के अभिलेखों में सिक्कों का उल्लेख तो हुआ है लेकिन इनके सिक्के अभी तक मिल नहीं पाये हैं। प्रारम्भिक मध्यकाल में मुद्रा का कितना चलन था और तत्कालीन समाज पर उसका क्या असर पड़ा इसका अध्ययन अभी तक नहीं हुआ है। हमें जितना कुछ मालूम है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि ग्यारहवीं सदी से पश्चिमी और मध्य भारत में मुद्रा का चलन फिर से काफी बड़े पैमाने पर प्रारम्भ हो गया। इसका सम्बन्ध इस काल में उद्योग व्यापार के पुनरुद्धार और बेठ बेगार प्रथा की समाप्ति से था। लेकिन अगर हम इस क्षेत्र और काल की बात अलग रख दें तो लगता यही है कि प्रत्येक स्थान की आवश्यकताओं की पूर्ति वहीं पैदा किये माल से की जाती थी और इस प्रयोजन से किसानों और कारीगरों को गाँवों से बाँधकर रखा जाता था। कभी-कभी अनुदानपत्रों में यह व्यवस्था भी होती थी कि करद किसानों और कारीगरों

को किसी अन्य स्थान से हटाकर अनुदत्त गाँव में दाखिल नहीं किया जा सकता। इसका प्रयोजन यही हो सकता था कि अनुदत्त भाव के आत्मनिर्भर आर्थिक जीवन में अनुदान के परिणामस्वरूप कोई व्यवधान न उपस्थित हो पाय। मठ और मन्दिर भी आर्थिक इकाइयों का काम करते थे, लेकिन ये इकाइयाँ काफी विस्तृत होती थीं। कभी-कभी तो ऐसी इकाइयों में सौ से भी अधिक गाँव हुआ करते थे। स्पष्टतः ऐसी इकाइयों में कुछ गाँव अन्न जुटाते थे, कुछ कपड़े और कुछ इमारतों की मरम्मत के लिए श्रमिक आदि। या ऐसा भी रहा हो कि प्रत्येक गाँव थोड़ी थोड़ी मात्रा में इनमें से हर चीज मुहैया करता हो।

प्रारम्भिक भारतीय सामन्तवाद की ऐतिहासिक भूमिका कई दृष्टियों से बड़ी महत्त्वपूर्ण रही। पहली बात तो यह है कि मध्य भारत, उड़ीसा और पूर्वी बंगाल में भूमि अनुदान परती जमीन को आबाद किये जाने में बहुत सहायक सिद्ध हुए। उद्यमी और साहसी ब्राह्मणों ने पिछड़े और जन जातियों से आबाद क्षेत्रों में बहुत उपयोगी काम किये। वे ऐसे इलाकों में कृषि के नये तरीके लाये। पुरोहितों द्वारा प्रतिपादित कतिपय मध्यकालीन विश्वास और विधि विधान जन-जातियों की आर्थिक समृद्धि में सहायक सिद्ध हुए। उदाहरण के लिए, गो हत्या को नर हत्या के ही समान जघन्य कृत्य बताया गया जिससे गोधन के परिरक्षण में सहायता मिली। खेती के लिए गोधन कितना उपयोगी है, यह तो स्पष्ट ही है। ब्राह्मणों और पुरोहितों ने आदिवासियों को हल तथा खाद का उपयोग करना तो सिखाया ही साथ ही उन्हें नक्षत्रों और ऋतुओं विशेषकर वर्षा के आगमन की जानकारी देकर भी कृषि की उन्नति में योग दिया। इस विषय की बहुत-सी जानकारी कृषि पराशर में [1] जो इसी काल की कृति जान पड़ती है, सकलित है। जो इलाके बसे-बसाये थे, उनमें धार्मिक श्रोत्रियों को ऐसी जमीन दान की जाती थी जिसमें पहले से ही खेती-बाड़ी होती थी। ऐसे क्षेत्रों में उनकी उपयोगिता इस बात में निहित थी कि वे लोगों में प्रतिष्ठित सामाजिक व्यवस्था के प्रति सम्मान का भाव पैदा करते थे। दूसरे भूमि अनुदानों के परिणामस्वरूप अनुदत्त क्षेत्रों में शान्ति सुव्यवस्था कायम रखने में सहायता मिलती थी, क्योंकि इन क्षेत्रों में कानून की सत्ता और शान्ति बनाये रखने का दायित्व ग्रहीताओं को दिया जाता था। दाताओं की इस कृपा का प्रतिदान भी ब्राह्मणों ने किसी-न किसी रूप में अवश्य दिया। उन्होंने पूर्व मध्य काल के राजाओं के लिए जाली वंश वृक्ष

---

१ स० व अनु० जी० पी० मजुमदार और एस० सी० बनर्जी प्रारम्भिक पृष्ठ ८।

तैयार किए, और उन्हें सूर्यवंशी अथवा चन्द्रवंशी साबित करके लोगों में भ्रम फैलाया कि वे अपने दैवी अधिकार के बल पर शासन कर रहे हैं। दूसरी ओर गृहस्थ सामन्तगण अपनी अपनी जागीरों का शासन चलाकर और युद्ध काल में सेना जुटाकर अपने अपने प्रभुओं की सहायता किया करते थे। तीसरी बात यह है कि भूमि अनुदानों के परिणामस्वरूप जन जातियों के बीच ब्राह्मण संस्कृति का प्रसार हुआ और अपने आदिम रहन सहन को छोड़कर वे सभ्य सुसंस्कृत बने। ब्राह्मणों ने उन्हें लिपि, कला तथा साहित्य का ज्ञान कराया और उन्नततर भौतिक जीवन से परिचित कराया। इस अर्थ में सामन्तवाद देश के एकीकरण में सहायक सिद्ध हुआ। ये ब्राह्मण मूलतः मध्यदेश और तीरभुक्ति के निवासी थे। भूमि अनुदानों का उपभोग करने के लिए उन्हें वहाँ से बंगाल, उड़ीसा और मध्य भारत बुलाया गया। इस प्रकार ये सारे क्षेत्र एक संस्कृति की परिधि में आये और फलतः इनकी पारम्परिक एकता बढ़ती गयी। वर्ण संकर और अन्य जातियों की संख्या बढ़ गयी और ब्रह्मवैवर्त पुराण में तो इनकी संख्या १०० तक पहुँच गयी है। इसका एक मुख्य कारण यह था कि ब्राह्मणों को दिए गए भूमि अनुदानों के परिणामस्वरूप बहुत सी जनजातियाँ ब्राह्मणों के संपर्क में आयीं और ब्राह्मण संस्कृति वाले समाज में उन्हें किसी न किसी जाति के रूप में स्थान दिया गया। इस प्रकार हम मान सकते हैं कि भूमि अनुदान नये क्षेत्रों और नये लोगों को वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत लाने में सहायक सिद्ध हुए और [illegible] नव समाज सामाजिक

वृत्तिस्वरूप जमीन दी जाती थी, लेकिन यह जमीन, उनके जिम्मे प्रशासनार्थ जितना क्षेत्र होता था उसका छोटा सा हिस्सा भर हुआ करती थी। यह न तो यूरोपीय ढंग की जागीर थी और न ताल्लुका (मनर) ही थी। इस कोटि में शायद ब्राह्मणों को दिये गावों को ही रखा जा सकता है। इसके अलावा भारत में सामन्तों को मुख्यतः अपने प्रभु की सैनिक सेवा ही करनी पड़ती थी। यहाँ वे यूरोप की तरह प्रशासनिक सेवा नहीं किया करते थे। लेकिन यूरोपीय सामन्तवाद की प्रमुख विशेषताएँ यहाँ भी मौजूद थीं। यह देश भी आर्थिक दृष्टि से छोटी छोटी आत्मनिर्भर इकाइयों में बँटा हुआ था, और इन इकाइयों के बनने और कायम रहने का कारण व्यापारिक आदान प्रदान का अभाव था। यहाँ भी एक जबरदस्त भूमिधर मध्यवर्ती वर्ग का उदय हुआ जिससे किसान निरंतर अधिकाधिक पराधीन होते चले गये।

यह सवाल उठाया गया है कि सामन्तवाद समाज में एक ही बार प्रकट हुआ था बदले हुए कलेवरों में कई बार सामने आया।[1] भारत के सन्दर्भ में इसका उत्तर इस बात पर निर्भर है कि सामन्तवाद से हमारा तात्पर्य क्या है। यदि हम राजनीतिक सत्ता के विघटन और प्रशासन के विकेन्द्रीकरण को ही सामन्तवाद मान लें तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना से पूर्व सामन्तवाद कई बार आया। लेकिन यदि हम सामन्तवाद को एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था के रूप में देखें जिसमें किसानों की जमीन और देह पर अपने उच्चतर अधिकारों के द्वारा श्रीमंत वर्ग उपज का सारा अतिरिक्त हिस्सा हड़प लेता था और किसानों के पास उतना ही छोड़ता था जितना खा पहनकर वे उस वर्ग के लाभ के लिए आगे भी मेहनत मशक्कत करते रह सकें तो कहा जा सकता है कि यह चीज भारत में गुप्त काल से पूर्व कभी नहीं आई। ऋग्वैदिक काल में कबीलों के सरदार जिन्हें पुरोहितों का समर्थन प्राप्त था मुख्यतः युद्ध में प्राप्त लूट के माल पर जीवन-यापन करते थे। उत्तर वैदिक काल और बादवाले काल में सरदार और पुरोहित किसानों से प्राप्त उपज के एक हिस्से और शूद्रों द्वारा की जानेवाली तरह तरह की सेवाओं के बल पर फूलते फलते रहे। मौर्य और मौर्योत्तर काल में ईस्वी सन् के प्रारम्भ तक वे मुख्यतः नकद राजस्व पर निर्भर रहे जो प्रजा से वसूल किया जाता था। राज्य ने बहुत बड़ी तादाद में सिक्के जारी किये थे, इसलिए नकद अदा-

1 एम० सी० सरकार क्वार्टर्ली रिव्यू ऑफ हिस्टॉरिकल स्टडीज, ३ (१९६२ ६३) १२९।

यगी और वसूली अब आसान हो गयी थी। वे दासों और किराये के मजदूरों की सेवाओं का भी उपयोग करते थे। इन किराये के मजदूरों (कमकरों) की स्थिति भी प्रायः वैसी ही थी जैसी बेगार करने वाले मजदूरों की होती थी, और ये उत्पादन के काम में लगाये जाते थे।[1] लेकिन गुप्त काल से शासक वर्ग के सदस्य प्रधानतः जमीन से प्राप्त होनेवाले राजस्व पर निर्भर रहने लगे, जो उन्हीं के लिए निर्धारित किया जाता था और फिर ८वीं सदी से वे सीधे जमीन का ही उपभोग करने लगे। स्वभावतः गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद की पाँच सदियों में किसान और कारीगर जमीन से इस तरह बाँध दिये गये जैसा पहले कभी नहीं हुआ था, क्योंकि अब जमीन तो सीधे पुरोहितों, मंदिरों, सरदारों, सामंतों और राज्याधिकारियों के नियंत्रण में थी और सर्वसत्तासम्पन्न स्वामि-वर्ग ने वैसी ही व्यवस्था कायम की जो उसकी स्वार्थसिद्धि के लिए सर्वाधिक उपयुक्त थी। भूमिधर मध्यवर्ती लोगों की राजनीतिक तथा आर्थिक शक्ति जितनी सुदृढ़ इस काल में हुई उतनी पहले किसी भी काल में नहीं हुई थी। मुस्लिम सल्तनत की स्थापना से पूर्व के मध्य काल को हम पुरातन सामन्तवाद का चरमोत्कर्ष-काल कह सकते हैं, क्योंकि मुसलमानों ने यहाँ फिर से नकद अर्थव्यवस्था का चलन बड़े पैमाने पर शुरू कर दिया[2] जिससे किसानों पर भूमिधर मध्यवर्ती लोगों का प्रत्यक्ष नियंत्रण बहुत ढीला पड़ गया। पूर्व मध्यकाल की सामंती व्यवस्था में किसानों के पास गुजर बसर के बाद जो कुछ भी बच जाता था उसे श्रीमन्त-वर्ग उनकी भूमि पर अपने उच्चतर अधिकारों के बल पर उनसे ले लेता था और यह वसूली मुख्यतः जिंसों के रूप में की जाती थी। इसके अलावा उनके शरीरों पर भी एक ही आधिपत्य रखने के कारण वह उनसे बेगार लिया करता था। यह सब हमें न तो ईसवी सन् की प्रारम्भिक सदियों से पूर्व और न तुर्कों की भारत विजय के बाद किसी बड़े पैमाने पर देखने को मिलता है। इस काल का सारा राजनीतिक ढाँचा भूमि-अनुदानों के आधार पर खड़ा किया गया था और धार्मिक तथा धर्मेतर दोनों तरह के भूस्वामियों का परम ध्येय यह बन गया था कि चाहे जैसे हो वे अपने प्रतिद्वंद्वियों तथा किसान विद्रोहों का सामना करते हुए छोटे छोटे ग्राम न राज्यों का अस्तित्व बनाये

1 इनमें से कुछ-एक बातों का विशद विवेचन लेखक ने शूद्राज इन एंशियंट इंडिया के ५वें और ६ठे परिच्छेदों में तथा स्वाध्याय नं० ६ में प्रकाशित स्टडीज इन एन्शियंट इंडियन ... शीर्षक निबंध में किया है।

2 मूरलैंड, एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुस्लिम इंडिया, पृष्ठ २०६।

रखें, ताकि उनके हितो की रक्षा हो।

लेकिन भारतीय सामन्तवाद भिन्न भिन्न अवस्थाओं से गुजरा। गुप्तकाल तथा बाद की दो सदियो मे मन्दिरो और ब्राह्मणो का भूमि अनुदान दिया जाना प्रारम्भ हुआ, और पालो, प्रतीहारो तथा राष्ट्रकूटो के राज्यो म ऐसे अनुदानो की सख्या धीरे धीरे बढती गयी और साथ ही उनके स्वरूप म भी बुनियादी परिवतन हुए। प्रारम्भिक काल म अनुदानभोगियो को केवल उपभोगाधिकार ही दिये जाते थे, किन्तु ८वी सदी से उन्हे स्वामित्वाधिकार भी दिये जाने लगे। ११वी और १२वी सदियो म अनुदानो का यह सिलसिला अपनी चरम सीमा पर पहुच गया, और उत्तरी भारत अनेक छोटी छोटी राजनीतिक इकाइयो मे बँट गया। य इकाइया मुख्यत धार्मिक तथा गृहस्थ अनुदानभोगियो के हाथो मे थी। जितनी सत्ता के साथ यूरोपीय सामन्त अपने अपने ताल्लुका (मनर) का उपभोग करते थे उससे कुछ अधिक सत्ता के साथ य अनुदानभोगी अनुदत्त गावो का उपभोग करते थे। किन्तु पश्चिमी और मध्य भारत मे वाणिज्य व्यापार के पुनरुद्धार, मुद्रा के बढते हुए चलन और विष्टि की प्रथा क विलय क परिणामस्वरूप वहा पुरातन सामन्तवाद अपने चरम वैभव पर पहुँचकर ह्रासोन्मुख हो चला।

परिशिष्ट १

मध्यकालीन उडीसा मे भूमि-व्यवस्था

(लगभग ७५० १२०० ईस्वी)

पूर्व मध्यकाल म उडीसा म पन्द्रह या इससे भी अधिक राजवशो का उत्थान पतन हुआ। इनम से कई तो एक ही काल म शासन करते थे। यातायात क अविकसित साधन और पवत पहाडिया से भरा पडा क्षेत्र—उडीसा छोटे छोटे राज्यो के उदय के लिए सचमुच बडा उपयुक्त प्रदेश था। और इन राज्यो के अस्तित्व को स्थायित्व प्रदान करत थ वे आदिवासी कबील जिन्हे स्वतन्त्रता प्राणो से भी अधिक प्यारी थी और जो इस प्रदेश के मुख्य निवासी थे। जान पडता है स्थानीय सरदारो न यहा भञ्ज और तुग जसे अनेक राजवशो की स्थापना की। होता यह था कि अपनी श्री समृद्धि की वृद्धि के साथ साथ ब्राह्मण सस्कृति के सपक म आने के कारण इन्हे क्षत्रियत्व का सम्मानित दर्जा प्राप्त हो जाता था और य नये राजवशो के सस्थापक बन जात थे इस प्रथा का अवशेष उडीसा के पडोसी क्षेत्र छोटानागपुर मे आज भी देखा जा सकता है। पहाडी इलाको के ये शासक वस तो समुद्र तट के क्षेत्रो के शासको की अधीनता स्वीकार करत थ लेकिन वास्तव म दोनो के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत क्षीण थे और सारा प्रदेश छोटे छोटे अनेक शासको के बीच बँटा हुआ था। य शासक सामन्तो राज्याधिकारियो मन्दिरो और सबसे बढकर ब्राह्मणो को भूमि अनुदान दिया करत थे। फलत उडीसा और भी छोटे छोट टुकडो म बट गया। आप किसी भी काल को ले लीजिए, ताम्रपत्रो पर अकित जितन भूमि अनुदान आपको उडीसा मे मिलगे उतने बगाल और बिहार म नही मिलगे। इन अनुदानपत्रो से प्रकट होता है कि यहा धार्मिक तथा गहस्थ अनुदानभागियो का

बहुत बडा वग सामान्य किसानो के ऊपर थोप दिया गया।

गृहस्थ अनुदानभोगियो मे सामन्त भी थे और राज्याधिकारी भी। सामन्ता के दिये गये भूमि अनुदानो के प्रत्यक्ष प्रमाण बहुत कम मिलते है, लेकिन अनुदानपत्रो म उल्लिखित कोई दजन भर शब्द भूमिधर साम तो के पर्याय हैं। उदाहरण के लिए भूपाल, जिसका शाब्दिक अथ भूमि का रक्षक है बहुत बड़े बडे भूमिधर साम त रहे होगे। दसवी सदी के अ तिम वर्षों मे खिज्जिंग के भञ्जा द्वारा जारी किये गये अनुदानपत्रो म अनुदानो की सूचना केवल इन भूपालो को ही दी गयी है जो बात उनका महत्त्व दर्शाती है। प्रत्येक आदिवासी राज्य म शायद कई क्षेत्रीय इकाइयाँ हुआ करती थी, और इनम से हरएक इकाई किसी कबायली सरदार (जिस सस्कृत का भूपाल विरुद प्राप्त था) के अधीन हुआ करती थी और वही सरदार उस क्षेत्र के प्रशासन के लिए जिम्मेदार होता था। इस समय खिज्जिगो के भञ्जा के राज्य म शायद उन राज्याधिकारियो तथा अन्य राज्यपुरुषा के लिए कोई स्थान नही था जिनका उल्लेख हम अन्य अनुदानपत्रो म पाते है। ऐसा जान पडता है कि भञ्जा के अधीन कुछ समय तक राज्य की राजनीति म भोगियो और साम तो का बडा महत्त्वपूण स्थान प्राप्त रहा क्योकि विद्याधर भञ्ज के एक अनुदानपत्र म केवल इन्ही दो श्रेणियो के राजपुरुषो का उल्लेख मिलता है।[1] सोम कर तथा भञ्ज अनुदान पत्रो म भोगी शब्द बार बार आया है। भोगी शब्द का अथ कभी कभी ग्राम-प्रधान भी लगाया जाता है, लेकिन ग्राम प्रधान मह त्तर कहलाता था, और वह महामहत्तर के अधीन हुआ करता था।[2] कि तु भोगी शब्द के शाब्दिक अथ से लगता है कि उसे राज्य की ओर स जो जमीन मिली होती थी उसके बदले उसे कोई राजस्व नही देना पडता था। शायद प्रशासनीय सेवाओ के एवज म उसे जागीर दी जाती थी। विद्याधर भञ्ज के अधीन भञ्ज राज्य म ऐसी जागीरो की सख्या इतनी अधिक थी कि ग्रामीण प्रजा को दो वर्गों मे विभक्त कर देना पडा। एक वग म प्रत्यक्ष रूप से राज्य द्वारा शासित क्षेत्रो (विषयो) की प्रजा आती थी और दूसरे म भोगियो को जागीरो के रूप म मिले इलाको (भोगो) की प्रजा आती थी।[3] सोमवशी शासको के अधीन भोगियो का एक विशिष्ट वग

---

१ ए० इ० ९, न० ३७ पंक्ति १७।

२ ए० इ० १९, न० १ पंक्तियाँ, ११० मिलाइए डी० सी० सरकार, वही २९ ८५ ८६ स

३ भोग्यादिविषयजनपदम् ए० इ० ९ न० ३७ पंक्तियाँ १६ १७।

ही था जिसे भोगिजन कहा जाता था।[1] इनके अलावा भोगिरूप भी हुआ करते थे।[2] वैसे तो भोगिरूप का मतलब हुआ ऐसा व्यक्ति जो प्राय भोगी के ही स्तर का हो, किंतु इन्हें भोगियों की तुलना में कुछ कम अधिकार प्राप्त थे। जान पड़ता है कि भोगियों का सम्बन्ध राजस्व-व्यवस्था से हुआ करता था, और भौम-करों के अधीन कुछ भोगी महाक्षपटलिक अर्थात् महालेखापाल का पद भार भी सँभालते थे और उनसे अनुदानपत्र तैयार करने का काम लिया जाता था।[3] उच्चतर भोगी को महाभोगी कहा जाता था। इसका उल्लेख किसी ऐसे शासक परिवार के अभिलेख में हुआ है जिसका नाम धाम उसमें नहीं बताया गया है।[4] किंतु भौमकर अनुदानपत्रों में उच्चतर भोगी के अर्थ में बृहद्भोगी का उल्लेख बार बार हुआ है।[5] इस अधिकारी को ग्राम प्रधान माना गया है[6] लेकिन हमारे विचार से वह उच्चतर श्रेणी का भोगी ही था जिसके हाथों में साधारण भोगियों की अपेक्षा बहुत अधिक गांव थे। भौम कर अनुदानपत्रों में भोगियों और बृहद्भोगियों दोनों की चर्चा बार बार हुई है।[7] इससे जान पड़ता है कि उड़ीसा में भूमिधर श्रीमंतों की श्रेणियाँ बनी हुई थीं।

सामंत और महासामंत के बीच श्रेणीबद्ध सम्बन्ध होता था। इस सम्बन्ध का आधार शायद भूमि अनुदान और यह बात थी कि प्रभु को कौन कितनी सैनिक सहायता देता है। भौमकरों और उनके अधीनस्थ सरदारों के राज्यों में इन सामंतों और महासामंतों का अपना विशेष महत्व था। तुंगवंश के एक सरदार ने अपने अनुदानपत्र में केवल सामंतों को ही सम्बोधित किया है[8] जिससे प्रकट होता है कि राज काज में केवल उन्हीं की प्रधानता थी। नन्दवंश के ततीय देवानन्द (नवीं सदी के अंतिम वर्ष) के लिए प्रयुक्त महासामंताधिपति

---

१ इ० हि० क्वा०, ३५ न० ?, बलिभारी (नरसिंहपुर) ताम्रपत्र, पंक्ति ३६।

२ ए० इ०, २८ ३२३।

३ विनायक मिश्र मेडिएवल डाइनेस्टीज आफ ओडिसा पृष्ठ १०२ ३, ए० इ०, १५, न० १ पं० ३३ ३४, ज० बि० प्रो० रि० सो० २, ४२६ ७) पं० ४० २।

४ मिश्र स० ग्र० पु०, पृष्ठ २४ २८ अभिलेख न० १।

५ इ० हि० क्वा० २१, २२१ पंक्तियाँ २७-४०।

६ वही २१७।

७ ए० इ०, २९, ८५ ६।

८ ज० ए० एस० बी०, न्यू० सि०, १२ (१९१६), २९१।

विरुद इससे भी ऊँचा था। वह किसी की अनुमति लिये बिना अपनी इच्छा से भूमि-अनुदान भी दे सकता था।[1] यह ज्ञात नहीं है कि उसने महासामन्तों और सामन्तों को जागीरें दीं या नहीं। लेकिन इस बात के तो निश्चित प्रमाण हमें उपलब्ध हैं कि खिज्जिंग के दो भञ्ज शासकों ने महासामन्त वटट को ग्राम-अनुदान दिये।[2] वटट का पिता पुण्डि मात्र एक सामन्त था,[3] लेकिन स्पष्ट ही पुत्र ने उससे उच्चतर स्थान प्राप्त कर लिया था और अपने पिता की जागीर पूरी अपना ली थी। यद्यपि हमारे पास ऐसा कोई अभिलेखीय प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर हम कह सकें कि सामन्तों को भी भूमि अनुदान किये जाते थे किन्तु लगता यही है कि उन्हें भूमि अनुदान दिये जाते थे, क्योंकि आगे चलकर वे उड़ीसा के प्रमुख भूमिधर वर्ग के रूप में सामने आते हैं जो शायद पूर्व मध्यकाल में उनको दी गयी जागीरों का ही परिणाम था।

भूस्वामियों का एक और वर्ग राणक कहलाता था। ये लोग शायद राजा की सैनिक सेवा-सहायता करनेवाले सामन्त थे। इनमें और राजनकों में जो मूलतः राजपरिवार के ही सदस्य थे और अपने आप में एक वर्ग थे, कोई अन्तर नहीं था।[4] उनके लिए 'उपजीविजन" शब्द का भी प्रयोग हुआ है,[5] जिससे प्रकट होता है कि वे राजा के दान-दाक्षिण्य पर पलते थे। कालक्रम से ऐसे लोग भी राणकों की श्रेणी में आ गये जो राज-परिवार से सम्बद्ध नहीं थे और जिन्हें भूमि अनुदान भी प्राप्त हुए। सोमवंशी राजा द्वितीय महाभवगुप्त (१००० २५) ने एक ब्राह्मण राणक को, जिसका पितामह श्रावस्ती से आकर यहीं बसा था, एक गाँव अनुदान में दिया।[6] कुछ राणकों को गाँव दिये जाते थे, जिसका संकेत हम गंग शासक वज्रहस्त (१०३८ ७०) के अधीन एक राणक द्वारा किये ग्राम अनुदान से मिलता है।[7] उसने कोई गाँव तभी दान किया होगा जब उसके पास एकाधिक गाँव रहे होंगे। इस वर्ग के सामन्तों को बड़े-बड़े प्रशासनिक पद मिले होते थे—

१ ए० इ० २६, ७७।
२ ज० ए० एस० बी० ६०, न० ३, १६६ ८।
३ वही १६८।
४ स्ववंशसमुद्भवानेपराजन्य (क) वर्ग, ए० इ०, १८, न० २६, पंक्तियाँ १७ ८।
५ वही।
६ ए० इ० ८, न० ६७ प्लेट एफ०, पंक्तियाँ ३८ ६२।
७ वही, न० ३१, पृष्ठ २२२।

विशेष रूप से सोमवंशियों के अधीन। ये लोग अनुज्ञानक प्रवराज,[1] महाक्षपटलिक[2] और महासंधिविग्रहिक[3] का काम करते थे। सामंतियों के राज्य के सामंती श्रेणि विन्यास में इनका ऊंचा स्थान होता था—रानी से नीचे और राजपुत्र से ऊपर।[4] रानियों की अपनी निजी जागीर होती थी। यह बात विशेष रूप से सोमवंशों पर लागू होती है, जिनके वंश में छः महिला शासिकाएँ हुई। इसी प्रकार शायद राजपुत्रों की भी निजी जागीरें होती थीं। उदाहरण के लिए किसी एक राजपुत्र को वज्रहस्त के किसी वंशज अनन्त ने पौत्र में एक कर मुक्त गांव दिया।[5] राजपुत्रों के बाद राजवल्लभों का स्थान आता है।[6] इन्हें भी राजकृपा प्राप्त थी और ऐसा प्रतीत होता है कि इनको भी उस समय प्रचलित पद्धति के अनुसार ग्राम अनुदान द्वारा पुरस्कृत किया जाता होगा।[7]

उपर्युक्त विवरण के अनुसार हमें उडीसा में सामंत भूस्वामियों के जिन विभिन्न वर्गों की जानकारी मिलती है, वे इस प्रकार हैं: भूपाल, भोगी, भोगिरूप, महाभोगी, बृहद्भोगी, सामंत, महासामंत, महासामंताधिपति, रानी, राजन्यक या राणक, राजपुत्र और राजवल्लभ। लगता है, इनमें से अधिकांश को कुछ न कुछ सैनिक दायित्वों का निर्वाह करना पड़ता था और इनकी जीविका का साधन राज्य की ओर से प्राप्त भूमि थी जिसके राजस्व आदि पर इन्हीं का अधिकार होता था। इन विभिन्न भूमिधर वर्गों में परस्पर कौन ऊंचा था और कौन नीचा, इसकी जानकारी के लिए आवश्यक सामग्री उपलब्ध नहीं है किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि पडोसी प्रदेशों की तुलना में उडीसा में भूमिधरों की संख्या भी बहुत अधिक थी और महत्त्व भी बहुत ज्यादा था।

काफी कुछ गांव राज्याधिकारियों के हाथों में भी थे। ये राजसेवा के बदले इन गांवों से राज्य को होनेवाली आय का उपभोग करते थे। सोमवंशी

१ मिश्र डाइनेस्टीज ऑफ मेडिएवल ओडिसा पृष्ठ १०२ ३ अभिलेख नं० १२।

२ वही पृष्ठ १७ अभिलेख नं० १०।

३ वही पृष्ठ ६६ ७।

४ ए० इ० ३, नं० ४७ प्लेट एफ० पंक्तियां ३२ ३४।

५ वही, नं० ३१ पंक्तियां ६ १५।

६ वही नं० ४८, प्लेट एफ०, पंक्तियां ३३ ३४।

७ मिश्र डाइनेस्टीज ऑफ मेडिएवल ओडिसा पृष्ठ २७७।

राजा प्रथम महाभवगुप्त (६३५ ७०) ने तीन भूमि अनुदानपत्रो द्वारा अपने ब्राह्मण महामात्य साधारण को चार गांव दिये।[1] नन्न राज तृतीय देवानन्द (८६८) ने अपने कायस्थ महासांधिविग्रहिक को कटक जिले मे एक गांव दिया।[2] खिजलि के दो भञ्ज शासको (ये दोनों भाई थे) मे से प्रत्येक ने १२वी सदी के उत्तरार्द्ध मे एक ज्योतिषी को एक-एक गांव दिया।[3] सेन और गाहड़वाल राजपुरुषो की सूची मे ज्योतिषियो का स्थान ऊँचा है, और सम्भव है कि खिज्जिंग के भञ्जो के अधीन भी राजा के विभिन्न कार्यों के लिए शुभ मुहूर्त निर्धारित करने के बदले मे उन्हे भूमि अनुदान मिले हो। इससे कही अधिक स्पष्ट साम्प्रदायिक उद्देश्यो से गग शासक अनन्तवर्मन् चोडगग (१०७६ ११३८) का दिया एक अनुदान है। उसने अपने विश्वासी अधिकारी (आप्तनियाय) चोडगग को कलिंग क्षेत्र मे एक पुरखे के साथ एक गाव दिया।[4]

गग अनुदानो के असली स्वरूप की झाकी हम सैनिक अधिकारियो को दिये अनुदानो मे मिलती है। ये अधिकारी नायक कहे जाते थे, और इनमे से कुछ वैश्य भी थे। गग सम्वत् के ५२६वें वर्ष मे अनन्तवर्मन् के पुत्र मधुकामार्णव द्वारा जारी किये गये एक अनुदानपत्र के अनुसार तीन गावो का एक वैश्य अग्रहार बनाकर वैश्य जातीय मचि नायक के पुत्र एरप नायक को अनुदान मे दे दिया गया।[5] शिक्षण संस्था को चलाने के निमित्त दिये अनुदान को अग्रहार कहा जाता था किन्तु सैनिक अधिकारी से शिक्षण-संस्था के संचालन की अपेक्षा नही की जा सकती है। वास्तविक स्थिति यही जान पड़ती है कि यह सैनिक सेवा के लिए दिया गया अनुदान था। अनन्तवर्मन चोडगग के एक अभिलेख मे भी एक नायक को अनुदान दिये जाने का कुछ सकेत मिलता है। उसने अपने आश्रित नायक को एक कर मुक्त गाव अनुदान मे दिया।[6] ऊपर जो उदा-

---

१ ए० इ०, ३ न० ४७, बी पक्तिया ४५, सी, पक्तिया ४५, क्नाट, वही ३४५।
२ वही २६ न० २६, पक्तिया १९ ३८।
३ ए० इ०, १८, न० २६ पक्तिया १६ २६, १६, ४३, पा० टि० १।
४ वही, ३ पृष्ठ १७४, पक्तियाँ ३०-३४।
५ मद्रास रिपोर्ट ऑन एपिग्राफी, १९१८ १९ परिशिष्ट ए० न० ३।
६ वही, न० ५।
७ वही।
८ इ० ए०, १८, १७१ २ पक्तियाँ १०६-१३।

हरण दिय गय हैं उनकी सख्या अधिक नहीं है। फिर भी इस काल म हमें बिहार और बगाल में इस प्रकार के जितने अनुदानों के उदाहरण मिलते हैं उनसे इनकी तादाद कहीं ज्यादा है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि मध्य कालीन उड़ीसा म सैनिक तथा गरसैनिक अधिकारियों को वृत्तिस्वरूप ग्राम अनुदान दिये जाते थे, और साथ ही ऐसे अनुदान मन्दिर सेवा करने वाले सामन्तों को भी मिलते थे।

बारह तरह श्रेणियों के सामन्तों और राज्याधिकारियों की तुलना म हम लगभग तीन सौ ब्राह्मणों को दिये अनुदानों के प्रमाण उपलब्ध हैं।[1] इनमें से अधिकांश ब्राह्मण "बाहर" से बुलाये गये थे। कतिपय भञ्ज अनुदानपत्रों म तो ब्राह्मणों को सम्बोधित किया गया है किन्तु भौमकरों, तुगों, सोमवंशियों तथा गगों के सारे अनुदानपत्रों म ब्राह्मणों को अनुदानों की सूचना नहीं दी गयी है। इसका कारण यह हो सकता है कि जिन क्षेत्रों म ऐसे अनुदान दिये गये उनमें या तो ब्राह्मण वास रहते नहीं थे या अगर रहते थे तो उनकी संख्या इतनी अधिक नहीं थी कि उनका विशेष रूप से उल्लेख किया जाता। ग्रहीताओं की सूची से प्रकट होता है कि वे मुख्यतः मध्यप्रदेश, श्रीरभुक्ति, राढ, वग तथा बरे ■ से बुलाये गये थे।[2] एक मत यह है कि उड़ीसा के भूमि अनुदानपत्रों मे उल्लिखित मध्यप्रदेश, बगाल और उड़ीसा के बीच में पड़ता था। जो भी हो ऐसा कोई प्रमाण तो नहीं मिलता जिससे माना जा सके कि यह क्षेत्र उड़ीसा का अंग था। कुछ अनुदानपत्रों से यह सकेत मिलता है कि यद्यपि ब्राह्मण लोग बाहर से ही आये थे किन्तु बीच म वे राढ म ठहरे थे[3] जहाँ से उन्हें उड़ीसा के दूसरे हिस्सों म बसाया गया।

आमतौर पर तो एक अनुदान एक ही ब्राह्मण को दिया जाता था लेकिन कभी-कभी एक ही अनुदान के ग्रहीता दो से लेकर दो सौ ब्राह्मण भी होते थे। भौमकर राजा प्रथम शुभाकरदेव ने जो आठवीं सदी के मध्य म शासन करता था उत्तरी तोसली म दो गावों को मिलाकर वह पूरा क्षेत्र विभिन्न गोत्रों और

१ यह संख्या मिश्र की ■० प्र० पु० म दी गई अभिलेखों की सूची पर आधारित है। १९३४ म इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद से उड़ीसा म और भी भूमि-अनुदानपत्र प्राप्त हुए हैं। लेकिन उनसे धार्मिक तथा गृहस्थ ग्रहीताओं के अनुपात म किसी अन्तर का सकेत शायद नहीं मिलता।

२ मिश्र स० प्र० पु०, सारेतिक, पृ० १।

३ वही।

दिये गये। तिर्जलि में यशोमल्लदेव ने पेड़ पौधे, झाड़ झंखाड़ और जंगल के साथ-साथ पाटिरोम्याण (स्पष्टतः यह कोई आर्येतर बस्ती थी) नामक एक गाँव दान किया, और उसने ग्रहीता को मछली और कछुआ पकड़ने का भी अधिकार दिया।[1] जाहिर है कि यह गाँव जंगलों से घिरा हुआ था। फिर हमें सोमवंशी राजा चतुर्थ महाभवगुप्त का एक अनुदानपत्र उपलब्ध है, जो ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भ में पश्चिमी उड़ीसा और दक्षिणी कोसल पर शासन करता था। उक्त अनुदानपत्र के द्वारा उसने अहिदण्ड तथा हस्तिदण्ड अर्थात् साँप और हाथी मारने के अधिकार, के साथ-साथ दो गाँव दान किये।[2] शायद इस क्षेत्र में हाथी बहुत अधिक संख्या में पाये जाते थे क्योंकि जिस इलाके में ये दोनों गाँव थे उसे ऐरावट्टमण्डल कहा जाता था।[3] इस क्षेत्र में हाथी तथा साँप-सम्बन्धी ज्ञान के लिए विख्यात शबर (अन सवार) लोग रहते थे।[4] जागीर (उपभोग) के रूप में दो भाइयों को दिये इस अनुदान में भविष्य में लगाये जानेवाले कर (भविष्यत् कर)-सम्बन्धी अधिकार भी शामिल थे।[5] यह स्पष्ट नहीं है कि भविष्यत् कर का मतलब भविष्य में राजा द्वारा लगाया जानेवाला कर था अथवा ग्रहीताओं द्वारा लगाया जानेवाला कर। यदि इसका दूसरा मतलब रहा हो तब तो मानना पड़ेगा कि यहाँ राजा ने उन्हें एक असाधारण अधिकार प्रदान किया था, जिसके बल पर वे ग्रामवासियों को बिलकुल कृषि दासत्व की अवस्था में पहुँचा सकते थे। अन्तिम सोमवंशी राजा सोमेश्वरदेव के एक अनुदानपत्र में वन प्रदेश के अनुरूप कुछ नये राजस्विक अधिकारों का भी परिचय मिलता है। उसने दो गाँवों से जमीन के कुछ टुकड़े (खण्ड क्षेत्र) अनुदान में दिये जिसमें जमीन के साथ साथ हस्तिदन्त, व्याघ्र चर्म और नाना वनचरों के उपभोग का अधिकार भी शामिल था। इसके अलावा इमली पखिमा खजूर आदि पेड़ तथा जंगलों के उपभोग का अधिकार भी हस्तान्तरित कर दिया गया था।[6] उक्त तीनों अनुदान

---

१ ए० इ० १८, न० २८, पंक्तियाँ १६ २२
२ ज० बि० आ० रि० सो० १७ १, पंक्तियाँ २६ ४६।
३ वही, पंक्तियाँ ३७ ४६।
४ वही पंक्तियाँ १८ २१।
५ वही पंक्तियाँ ३७ ४६। केवल एक ही गाँव के अनुदान से सम्बन्धित शर्तें बतायी गयी हैं। लेकिन सम्भव है कि दूसरे गाँव के अनुदान के साथ भी वही शर्तें लागू रही हों।
६ ए० इ०, न० ५० पंक्तियाँ ३ ८।

पत्रों में अनुदत्त क्षेत्रों की सीमाएँ नहीं बतायी गयी हैं जिससे ग्रहीताओं के लिए आसपास के जंगलों को अपने अधिकार-क्षेत्र में लाने का पूरा अवकाश रह गया था। लेकिन गंग राजा अनंतवर्मन् के एक अनुशासनपत्र में अनुदत्त गाँव की सीमाएँ जंगल, पेड़-पौधे और चट्टानें बतायी गयी हैं,[1] जिससे प्रकट है कि यह गाँव किसी वन प्रदेश में पड़ता था। इस अनुदान की शर्तें तो नहीं बतायी गयी हैं लेकिन अन्य अनुदानों की शर्तों में इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि पिछड़े इलाकों में पेड़ पौधे जंगल चमड़ा, मछलियाँ आदि भूमि राजस्व के मुख्य साधन थे।

विकसित और आबाद इलाकों की भूमि राजस्व-व्यवस्था की एक खास विशेषता यह थी कि दाता विभिन्न प्रकार के करों के साथ न केवल गाँव दान किया करते थे, बल्कि उनके साथ ही गाँवों में रहने वाले बुनकर कलाल, चरवाहे और अन्य प्रजाजन (प्रकृति) भी ग्रहीताओं को सौंप देते थे। सोमवंशी राजाओं ने ११वीं सदी के मध्य से लेकर लगभग सौ वर्षों तक अनुदान की इस परिपाटी का अनुसरण किया।[2] उनके सामन्त भञ्जों[3] और तुगों[4] ने भी इसी तरह के अनुदान दिये। ग्रहीता को सौंपे गये प्रजाजनों में बुनकरों और आसवकों के उल्लेख से ऐसा जान पड़ता है कि कपड़ा और शराब बनाना, ये दोनों ग्रामीण क्षेत्रों के अनिवार्य धंधे थे। इसके अलावा, चरवाहों के हस्तान्तरण से प्रकट होता है कि देश के उस हिस्से के आर्थिक जीवन में पशु-पालन का कितना महत्त्व था। ग्रहीता को सौंपे अन्य शिल्पी और किसान शायद प्रकृति शब्द के अन्तर्गत आ जाते हैं, क्योंकि इस शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से सभी ग्रामवासियों के लिए हुआ है। कारीगरों और किसानों के स्पष्ट शब्दों में ग्रहीता के हाथों सौंप दिये जाने से प्रकट होता है कि वे जमीन से बँधे हुए थे[5] और ग्रहीता के अत्याचार करने पर भी वे न तो किसी दूसरे गाँव में शरण ले सकते थे और

---

१ वही ३ नं० ३ पंक्तियाँ १८ २२।

२ एच० पी० शास्त्री, 'सवन कापर-प्लेट रेकर्ड्स आफ लैंड ग्राण्ट्स फ्राम दक्षिण कोसल जी ग्राण्ट ऑफ त्रिभुवन महादेवी, ज० बि० ओ० रि० सो० २ ८२६ ७, पंक्तियाँ २४ ३२।

३ सत तुवायगोकुल शौंडि (हि०) कादि प्रकृति 'वही ज० बि० ओ० रि० सो० १६ ८१ ३ पंक्तियाँ १८ २४, ए० इ०, २०, ८५ ८६, इ० हि० क्वा० २१ २२१, पंक्तियाँ २८-३८।

४ ए० इ०, २५, नं० १८ पंक्तियाँ १२ २०।

५ ज० बि० ओ० रि० सो० ६, २३६ ११५ ६।

न परती जमीन को ही आबाद कर सकते थे हालांकि वहाँ ऐसी जमीन की कोई कमी नहीं थी। १२वीं सदी में एक चन्देल अभिलेख में भी, जिसमें ग्रहीताओं की सेवा के लिए कारीगर किसान और व्यापारी सभी उन्हें दिये गये हैं, कुछ इसी प्रकार की व्यवस्था देखने को मिलती है।[1] लेकिन उड़ीसा में यह प्रथा व्यापक बन गयी थी, और यह दीर्घ काल तक चलती रही। सम्भव है कि श्रमिकों की कमी के कारण ग्रामीण अर्थतन्त्र को चलाने के लिए वहाँ ऐसी व्यवस्था करना आवश्यक पाया गया हो। लेकिन ऐसे अनुदानों का परिणाम यही हुआ होगा कि किसान लगभग कृषि-दासों की स्थिति में पहुँच गये होंगे और उनकी सारी मेहनत मशक्कत का लाभ ब्राह्मण ग्रहीताओं को मिलता होगा। इन ग्रहीताओं में से बहुतों को सगुल्मक का अधिकार भी दिया गया। इस विद्वानों ने शिकार करने का अधिकार माना है[2] लेकिन 'मनुस्मृति'[3] में इस शब्द के प्रयोग से पता चलता है कि गुल्म गाँवों में राजा द्वारा स्थापित सैनिक चौकियाँ थीं जो उसने ग्रहीताओं को सौंप दी थीं। अवज्ञाकारियों को दण्ड देने के स्थानीय साधनों के हाथ में आ जाने से ग्रहीता अपने राजस्विक अधिकारों को अधिक कारगर बना सकते थे और आत्म निर्भर ग्रामीण अर्थ व्यवस्था को बलपूर्वक कायम रख सकते थे।

इस भूमि पर पारस्परिक सामूहिक अधिकारों के धीरे धीरे क्षीण होते जाने के भी प्रमाण मिलते हैं। दाता ग्रहीताओं को पेड़-पौधे जंगल झाड़, नदियाँ आदि भी दान कर देते थे।[4] बाद के काल में ग्रामीणों द्वारा इन सम्पदाओं के उपभोग के जो कुछ अवशेष मिलते हैं उनसे प्रकट होता है कि पहले उन्हें इन तमाम स्थानीय सम्पदाओं के उपयोग का निर्बाध अधिकार प्राप्त था, यद्यपि उनको इन पर अपने सामूहिक स्वामित्व का कोई स्पष्ट बोध नहीं था। लेकिन एक बार इन सबके ग्रहीताओं के नाम हस्तान्तरित कर दिये जाने के बाद वे स्वभावतः गाँववालों को बिना कुछ कीमत लिये उनका उपयोग नहीं करने देते

---

१ सकारुकपक्ववणिग्वास्तव्यम्। ए० इ०, २०, न० १४ बी प्लेट, पंक्ति १६। यहाँ मैंने 'भारती' के एक हाल के अंक में डा० वी० एस० पाठक द्वारा प्रकाशित मदनवर्मन के एक अभिलेख के आधार पर उक्त शब्द समुच्चय को शुद्ध कर के दिया है।

२ एच० पी० शास्त्री वही २ ४२६-७।

३ ७, ११४।

४ ए० इ०, १८ न० २६, पंक्तियाँ १९ २२।

होंगे। उत्तर प्रदेश में यह प्रथा जैसे तैसे पिछली हुई १९वीं सदी तक चली आयी थी। वहाँ स्थानीय मुखिया प्रधान पेड़ काटने पर कर लिया करते थे।[1] इसके अलावा ग्रामीण लोग अब जंगली क्षेत्रों को आसानी से आबाद नहीं कर सकते थे। दूसरी ओर ज्यों-ज्यों ग्रहीताओं के परिवारों की सदस्य-संख्या में वृद्धि होती, वे अधिकाधिक परती जमीन पर कब्जा करके उसका निजी उपयोग करने लगते होंगे।[2] इस प्रकार किसान लोग वीरान इलाकों में खेती करने के अपने प्रकृत अधिकार से वंचित हो गये होंगे। परिणामतः गाँवों में भूमि का असमान वितरण अवश्यम्भावी था—अर्थात् उसका अधिकांश भाग ग्रहीताओं और उनके वंशजों के हाथों में चला जाता होगा। इसके अतिरिक्त उनके पक्ष में एक बात यह भी थी कि उन्हें भूमि राजस्व विषयक बहुत से अधिकार मिले होते थे जिनके बल पर कालक्रम से वे जमीन के स्वामी ही बन जाते थे। लेकिन ऐसी स्थिति केवल उड़ीसा में ही रही हो सो बात नहीं है। यह तो उत्तर भारत के मध्यकालीन भूमि अनुदानों की एक सामान्य विशेषता थी कि जिन अधिकारों का उपभोग पहले ग्रामीण लोग करते थे वे ग्रहीताओं को दे दिये जाते थे।

ऐसे भूमि राजस्व के साधनों की सूची काफी लम्बी है जो पहले तो राजा को दिया जाता था और अनुदान के बाद ग्रहीताओं को दिया जाने लगता था। लेकिन उपज का कितना हिस्सा राजस्व-स्वरूप माँगा जाता था और जो माँगा जाता था वह किस हिसाब से तय किया जाता था यह हमें ज्ञात नहीं है। दो भूमि अनुदानों से प्रकट होता है कि लगान नकद राशि में निर्धारित किया जाता था। एक अनुदानपत्र में एक ब्राह्मण को दिये गये पूरे गाँव का राजस्व ६४ रुपक तय किया गया है।[3] दूसरे अनुदानपत्र में यह राशि ८२ रुपक है।[4] बंगाल में नकद राशि में लगान तय करने के उदाहरण सबसे पहले ११वीं सदी में सेनों के अधीन मिलते हैं। लेकिन यह बात सन्दिग्ध ही है कि प्रारम्भिक मध्यकाल में बंगाल अथवा उड़ीसा में लगान की वसूली भी नकद रकमों में ही की जाती थी क्योंकि सातवीं से दसवीं सदी तक यहाँ सिक्के नहीं के बराबर मिले

१ बेडन पावेल, *लैंड सिस्टम्स इन ब्रिटिश इंडिया*, १, १२८ ९।

२ वही १, १७३।

३ ज० ए० एस० बी० न्यू सिरीज १२ (१९१६), पृष्ठ २९५ पंक्तियाँ २२ ३६।

४ ए० इ०, १२ नं० २० पंक्तियाँ २२-२८।

है। क्या यही मानना कि उन दिनों भूमि पर धार्मिक [illegible] के लिए [illegible] प्रतिष्ठित हो [illegible] कि [illegible] की [illegible] था [illegible] गये थे।

भूमि दानों [illegible] यह नहीं [illegible] कि [illegible] भी साथ नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई—साधारण किसानों के लिए भूस्वामी सामन्त वर्ग [illegible] जो [illegible] के [illegible]। [illegible] सामन्तों के प्रसार में योगदान किया जिनमें सान्धिविग्रहिक [illegible] राजाओं का [illegible] के लिए और वैधानिक आधार प्राप्त हुआ। कालक्रम से कुछ सान्धिविग्रहिक सरदार भी [illegible] बन गये। [illegible] सरदार पुत्र का [illegible] और सामन्तिक [illegible] का उत्तराधिकारी हो गया।[1] उन [illegible] ग्रामों का अधिपति कहा जाता था[2] जिससे प्रकट होता है कि उसके अधीन जितने [illegible] थे उन सबका वह स्वामी माना जाता था। यद्यपि इन सरदारों को भूमि अनुदान देने का अधिकार नहीं होता था पर सान्धिविग्रहिक सरदार पुरि[illegible]राज इतना प्रभावशाली था कि उसने सोमवंशी राजा [illegible] (११वीं सदी) से एक [illegible] मन्दिर के लिए और [illegible] के भरणपोषण के लिए एक गाँव दान करवाया।[3] भूमिधर सामन्तों का एक तीसरा वर्ग भी था, जिसे शायद [illegible] की भूमि के रूप में उन्हीं शर्तों पर जमीन मिली हुई थी जिन पर ब्राह्मणों को मिली हुई थी।

किन्तु ब्राह्मण अनुदानभोगियों की संख्या गृहस्थ अनुदानभोगियों से बहुत अधिक थी। इन्हें भूमि से होनेवाली वह सारी आय तो सौंप ही दी जाती थी जिस पर प्रभुतया से पूर्व राजा का हक होता था, साथ ही इन्हें यह अधिकार भी दिया जाता था कि इनकी इच्छा हो तो औरों को अनुदत्त भूमि में बसाकर रखें। एक ओर उन्हें ये अधिकार प्राप्त थे, और दूसरी ओर उन्हें गाँव की उन सारी सम्पदाओं पर भी हाथ डालने की खुली छूट थी जिनका उपभोग अबतक ग्रामीण समुदाय करता आया था। दोनों का नतीजा यह हुआ कि किसान और कारीगर कृषि दासों की स्थिति में पहुँच गये। मध्यकालीन उड़ीसा में इन तमाम बातों ने सामन्तवादी भूमि-व्यवस्था के कुछ विशिष्ट लक्षणों को जन्म

१ डी० सी० सरकार हि० क० इ० पा०, ८ २०६।

२ वही।

३ ज० बि० ओ० रि० सो०, १६ ८१ २, पंक्तियाँ १८ २४।

दिया। किन्तु उड़ीसा में इस भूमि-व्यवस्था का उदय उत्तर भारत की तरह किसी सगठित साम्राज्य के ध्वसावशेष पर नहीं हुआ था। यहाँ यह व्यवस्था आदिवासी जनजातियों की रीति परम्पराओं की पृष्ठभूमि में विकसित हुई थी। विभिन्न राजवंशों ने ब्राह्मण भूस्वामियों को इन लोगों के बीच बसा कर इन्हें हिन्दू जीवन पद्धति में समाहित कर लिया।

परिशिष्ट २

पाल तथा चन्देल राज्यों की दुर्ग-रक्षित बस्तियाँ

पूब मध्यकाल म देग म बहुत से छोटे छोटे सामन्त राज्य कायम हो गये। य बराबर एक दूसरे के क्षत्र को हडप लने की ताक म रहत थ। फलत इस काल म गांवा की सुरक्षा की समस्या बहुत महत्त्वपूण हो गयी। गाँव बसाने के निर्देश हमे सबस पहले कौटिल्य कृत अथशास्त्र म दखने को मिलत हैं और शायद यही एक कृति है जिसम इस विषय की विस्तत चर्चा की गयी है। कौटिल्य ने गाव की रूपरेखा की योजना काफी विस्तार से बतायी है और कहा है कि उसकी सुरक्षा का दायित्व वागुरिक पुलिन्द आदि आदिवासी जन जातियों को सौंप देना चाहिए। लेकिन इस कृति म गाव की किलेबन्दी का उल्लेख कही नही हुआ है। बाणभट्ट की रचनाओं म भी कुछ गांवा का वणन किया गया है किन्तु ये दुग रक्षित गाव नही हैं। ऐस गावा की जानकारी हम बहुत आगे चलकर मानसार म मिलती है। इसम आठ प्रकार के गावा का वणन किया गया है और आदश गाव उसे बतलाया गया है जो चारा ओर से इट या पत्थर से बनी दीवारो से घिरा होना हो और जिसकी दीवारा से परे शत्रु के आक्रमण को रोकने के लिए चारो ओर चौडी और गहरी खाई हो[1] आग बताया गया है कि गाँव क चारों ओर खडी की गयी दीवार म चार प्रवेश-द्वार होने चाहिए।[2] मयमत म भी कहा गया है कि गाँव खाइयो और मिटटी के कोटा से घिरे होने चाहिए।[3] मानसार म किलो की जसी विशद चर्चा

---

१ पी० के० आचाय, मानसार सरीज ६ १०२।

२ वही १०२ ३।

३ [illegible] ६०।

की गयी है उससे प्रकट होता है कि उन दिनो सुरक्षा की दृष्टि से सवत्र उनका महत्त्व था। एक स्थल पर इसम आठ प्रकार के किला का उल्लेख है, एक अन्य स्थल पर सात प्रकार के किलो का, और फिर तीसरे स्थल पर तीन प्रकार के पवत दुर्गों का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार इस कृति म हमे कुल अट्ठारह प्रकार के किलो की जानकारी प्राप्त होती है।[1] यदि इन तमाम प्रमाणा को ध्यान मे रखकर सोचें तो मानना होगा कि मानसार का रचनाकाल किलो और कोटा का काल था। हम यह मालूम नही है कि इन कृतियो म दिये गये निर्देशो का पालन कहा तक किया जाता था। भूमि अनुदानपत्रो म गाँवा की सीमाओ का वणन करते हुए दुग प्राचीरो का उल्लेख कहीं नहीं किया गया है। स्पष्ट है कि मानसार मे एक विशिष्ट प्रकार के गावो का ही वणन किया गया है। य गाव या तो राजा द्वारा नियुक्त किय स्थानीय अधिकारियो के सत्ता केन्द्र थे या फिर स्थानीय सरदारो और साम तो के शक्ति केन्द्र थ। सम्भव है इनम से कुछ गाव कालक्रम स सुदृढ दुग बन गये हो। सदियां बीत गयीं। इस बीच पूव मध्य काल मे खडे किये उन दुर्गों को न जाने प्रकृति और मनुष्य के कितने प्रहारो को झेलना पडा। किन्तु आज भी सारे उत्तर भारत म उनम से बहुतो के अवशेष देखे जा सकते हैं। यहा हम पालो तथा चन्देलो के राज्यो के दुग रक्षित स्थलो का एक मोटा विवरण प्रस्तुत करेंगे।[2] जहाँ तक पुरावशेषों के रूप म उपलब्ध प्रमाणो का सम्बन्ध है, पाल कोटा और किलो के बारे म हम कुछ ज्यादा जानकारी है। मुगेर तथा उसस लगे भागलपुर, पटना और गया के हिस्सो म पाल युग के बहुत से दुग रक्षित स्थल मिलत हैं। गगा स दक्षिण मुदगगिरि (मुगेर) का प्रसिद्ध किला था, जो काफी महत्त्वपूण था। यह पालो के विजय स्कन्धावारो म से एक था और शायद उनकी राजधानी भी। उसके पडोस के इलाको म अनेक अन्य किले थे। मुगेर सदर सबडिवीजन म रामपुर और पोखरामा नाम के गाँव पाल युग की दुग रक्षित बस्तियाँ थ। उसी क्षत्र म लखीसराय के निकट जयनगर का किला भी है जहाँ शायद पाल

---

१ मानसार सिरीज ६ १०४।

२ यद्यपि पूव मध्य काल के लगभग प्रत्येक राजवश पर शोध प्रबन्ध लिखकर शोधकर्त्ताओ ने डाक्टरेट की उपाधियाँ ली हैं लेकिन किसी भी प्रबन्ध म शोध के लिए चुने राजवश से सम्बन्धित दुग रक्षित बस्तियो का विवरण नहीं दिया गया है।

राजा इन्द्रद्युम्न की राजधानी थी।[1] उससे कुछ ही दूर हटकर सूरजगढ़ा का दुर्ग था। या तो यह स्थल गंगा में बह गया है, लेकिन इसके उपांत क्षेत्र में अब भी बहुत से पाल युगीन पुरावशेष देखने को मिलते हैं।[2] जमुई सबडिवीजन में इन्दपे का किला है। इसकी दीवारें और दीवारों के चारों ओर की खाई आज भी ज्यों की त्यों कायम है। अनुश्रुतियों के अनुसार इस किले का भी सम्बन्ध इन्द्रद्युम्न से ही था।[3] गंगा से उत्तर बेगूसराय जिले में नौलागढ़, जयमंगलागढ़ और अलौलीगढ़ के किले थे।

पाल युग के बहुत से दुर्ग भागलपुर जिले में भी मिलते हैं। इस जिले में सबसे पश्चिम में पड़नेवाला किला सुल्तानगंज में है। यहाँ पाल-युग की बहुत सी बौद्ध प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। सबसे पूर्व में पड़नेवाला किला कहलगाँव के निकट अन्तीचक में स्थित था। बटेसरथान से दस मील दूर अन्तीचक में हाल में हुई खुदाई में वटपर्वतक की तीन मुहरें मिली हैं। पाल अनुदानपत्रों में वटपर्वतक को एक विजय स्कन्धावार कहा गया है और विद्वानों का विचार है कि आज का बटेसरथान ही तब वटपर्वतक कहा जाता था। अन्तीचक का दुर्ग प्राचीर लगभग ढाई मील की दूरी तक देखा जा सकता है जिससे लगता है कि वटपर्वतक का स्कन्धावार दुर्ग रक्षित स्थल था और अन्तीचक का पूरा क्षेत्र इसमें शामिल था। इसके अतिरिक्त यहाँ एक राणक की (राणक श्री देवस्य) मुहर भी मिली है।[4] इससे लगता है कि दुर्ग किसी सामंत की देख रेख में था। जान पड़ता है पथरघटा का पहाड़ी दुर्ग भी जिसका सम्बन्ध अनेक पाल पुरावशेषों से है इसी स्थान के आस पास पड़ता था।[5] पहाड़ी के ऊपर बना शाहकुण्ड का किला भी इसी तरह का पहाड़ी दुर्ग था, और लगता है कि इसका सम्बन्ध भी पालों से ही था। भागलपुर नगर के उपांत क्षेत्र में चम्पानगर का किला था। बुकानन कहता है कि यहाँ उसने एक वर्गाकार कोट देखा जो चारों ओर से खाई से घिरा हुआ था। उसके अनुसार यह कोट शायद पाल युग

१ ए० रि० वि० न० २१०।

२ वही न० ४२७।

३ वही, न० १६०।

४ इस सारी जानकारी के लिए मैं पटना विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास और पुरातत्व विभाग के फील्ड डायरेक्टर डॉ० आर० सी० पी० सिंह का आभारी हूँ।

५ ए० रि० वि० न० ३०३।

का ही था।[1]

गया जिले में कम से कम पाँच पाल किलों के ध्वंसावशेष देखने को मिलते हैं। उदाहरण के लिए, दाउदनगर के निकट अमौना में, जहा छठी शताब्दी के मध्य का एक अभिलेख भी मिला है,[2] मिट्टी का एक किला है, और यह शायद पाल-युग का ही है। फिर कुर्कीहार में भी ईंटों से बने एक किले का ध्वंसावशेष मिला है और साथ ही बहुत से पाल पुरावशेष भी—[3] विशेष कर काँसे के वे टुकड़े जो पटना संग्रहालय में रखे हुए हैं। स्पष्ट ही, यह पाल युग का एक महत्त्वपूर्ण दुर्ग था। इनके अलावा तीन अन्य दुर्गों का भी उल्लेख किया जा सकता है। एक तो है धरवत जहाँ बहुत सी बौद्ध प्रतिमाएँ मिली हैं।[4] दूसरा है निडर और तीसरा अफसद जहा आदित्यसेन का शिलालेख भी मिले हैं।[5]

पालों के अन्य किलों के अवशेष पटना जिले में मिले हैं। स्वयं पाटलिपुत्र नगर पालों का एक विजय स्कन्धावार था। ऐसा जान पड़ता है कि पालों के अधीन पटना दुर्ग रक्षित स्थल था, और वैसे तो यह मुस्लिम-काल तक दीवारों से घिरे नगर के रूप में कायम रहा।

जहा हम पालों के केवल नौ विजय-स्कन्धावारों के नाम मिलते हैं वहा चन्देलों के इक्कीस स्कन्धावारों और राज शिविरों की जानकारी उपलब्ध है।[7] ऐसा मानना असंगत न होगा कि ये सब के सब किले रहे होंगे। कम से कम सात शिविरों के सम्बन्ध में तो यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है। ये सात शिविर थे—खजुराहक वारिदुर्ग जयपुर या नन्दिपुर (अजयगढ) कीर्त्तिगिरि दुर्ग (देवगढ़) गोपगिरि (ग्वालियर) कालञ्जर और सोधि, (सिउन्ध दुर्ग अब कन्हरगढ)।[8] इसके अलावा अनुश्रुतियों में आठ और दुर्ग भी चन्देलों के बताये जाते हैं लेकिन इन आठ में उक्त सात दुर्गों में से दो-तीन शामिल हैं।[9]

---

१ वही न० १००।
२ वही, न० १२।
३ वही, न० २६२।
४ वही न० १४०।
५ का० इ० इ०, ३ २००१।
६ ए० रि० बि०, न० ३०५ (३)।
७ एस० के० मित्र द अर्ली रूलस आफ खजुराहो पृष्ठ १६३ ४।
८ वही।
९ वही पृष्ठ ६८।

अतएव, मूल मिलाकर चन्देल दुर्गों की संख्या लगभग दो दजन मानी जा सकती है। उनके सबसे ज्यादा किले स्वभावत बुन्देलखण्ड में थ, क्योंकि चन्देलों के राज्य का अधिकांश भाग बुन्देलखण्ड म ही पडता था। चन्देलों का राज्य आजकल के डिवीजन से बड़ा नहीं था। सच तो यह है कि उनका मूल नाम ही जेजाभुक्ति था और भुक्ति क्षेत्रफल म डिवीजन के बराबर ही होती थी। उनके राज्य म केवल सोलह विषय या पत्तला थ।[1] इतने छोटे राज्य म दुर्गों की यह संख्या कोई कम नहीं मानी जायगी।

जाहिर है कि ये चन्देल दुर्ग स्थानीय सरदारों के अधीन स्वशासित सामन्ती किले नहीं थे। य वास्तव म सैनिक केन्द्र थे, जहाँ से स्थानीय किसानों से राजस्व वसूल किया जाता था और उन पर सत्ता का रोब रखा जाता था। ऐसा लगता है कि प्रत्येक दुर्ग एक एक दुर्गाधिप[2] के हाथों म रहता था और उसके पद को दुर्गाधिकार[3] कहा जाता था। कालञ्जर तथा अजयगढ जैसे दुर्गों के सेनानायकों को विपिप कहा जाता था, और उनम से प्रत्येक को कम स कम एक गाँव सेवावृत्ति के रूप म दिया जाता था।[4] शायद चन्देल शासन के अन्तिम दिनों म उन्होंने स्वत त्र सामन्तों का पूरा दर्जा पा लिया था। १२वीं सदी म इग्लैंड के राजकीय दुर्गों की गढ-सेनाओं को दो चार जमींदारियों के समूह वृत्ति-स्वरूप द दिये जाते थ।[5] चन्देलों क अधीन राजकीय दुर्ग के प्रधान को वृत्तिस्वरूप भूमि अनुदान तो दिया जाता था, लेकिन दुर्ग रक्षक सैनिक भरती और मुहैया करना उसका काम नहीं होता था। यहाँ इन सैनिकों का भरण पोषण आदि राज्य के खर्चे पर होता था। जो भी हो, चन्देल राज्य म किलों की इस बहुलता को राज्य के सामन्ती गठन का लक्षण माना जा सकता है।

पाल और चन्देल राज्यों क दुर्गों के इस छिट पुट अध्ययन के आधार पर कोई सामान्य निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। यदि हम मुस्लिम शासन की स्थापना से पूर्व के इन मध्य-कालीन शक्ति केन्द्रों की भूमिका के महत्त्व को ठीक-

१ एस० के० मित्र ने स० प्र० पु० (पृष्ठ १६१ ३) मे विषय को पत्तला कर पर्याय मानकर चन्देल अभिलेखों के आधार पर सोलह विषयों के नाम गिनाये हैं।

२ वही पृष्ठ १६०।

३ वही।

४ वही पृष्ठ १५८ ६।

५ फ्रैंक स्टेंटन इंग्लिश फ्यूडलिज्म, १०६६ ११६६, पृष्ठ २१२ ३।

ठीक समझना चाहे तो यह आवश्यक है कि विभिन्न राजवशो से सम्बन्धित दुर्गों का इलाकावार अध्ययन किया जाये। फिर भी राजनीतिक तथा आर्थिक सगठन की दृष्टि से दुर्गों की उपयोगिता मे कोई सन्देह नही किया जा सकता। मध्यकालीन किला बहूद्देश्यीय सगठन था। ये किले आस-पास के ग्रामीण क्षेत्रो की आवश्यकताओ की पूर्ति करते थे और इस दृष्टि से ये आज के शहरो की ही तरह थे। जिन्सो के रूप मे वसूल किये कर को यहाँ एकत्र किया जा सकता था दुग रक्षक सनिको को रखा जा सकता था, तथा युद्ध बाढ (विशेषकर पूर्वी प्रदेशो म) और अकाल के समय आस पास के लोगो को आश्रय मिल सकता था। और सबसे बडी बात तो यह है कि दुग वह अतिम अस्त्र था जिसका प्रयोग राजा या सरदार किसानो पर अपनी सत्ता कायम रखने के लिए कर सकते थे।



अनुक्रमणिका

BIBLIOGRAPHY

DHARMAŚĀSTRA AND ALLIED LITERATURE

Aitareya Brahmna Ed & Tr Martin Haug 2 volumes, London 1863

Āpastamba Dharmasutra Ed G Buhler Bombay 1932

Arthasastra of Kautilya Ed R Shamasastry, 3rd edn Mysore 1924 (unless otherwise stated references in this work refer to this text) Tr R Shamasastry 3rd edn, Mysore 1929 Edn with comm by T Ganapati Śāstrī 3 vols Trivandrum 1924 25 Ed J Jolly and R Schmidt vol i Lahore 1924

Commentaries on the *Arthasastra*

(i) *Jayamangala* (runs up to the end of the Bk I of the AŚ with gaps) Ed G Harihara Śastri *JOR* xx xxiii

(ii) *Pratipada pancika* by Bhattasvāmin (on Bk II from sec 8) Ed K P Jayaswal and A Banerji Sastri *JBORS* xi xii

(iii) *Naya Candrika* by Madhava Yajva (on Bks vii xii) Ed Udayavīra Śāstri Lahore 1924

(iv) A Fragment of the Kautalya s *Arthaśāstra* alias *Raja siddhanta* with the fragment of the commentary named *Nitinirniti* of Acharya Yogghama alias Mugdhavilāsa Ed Muni Jina Vijaya Bombay 1959

Barhaspotya sutram (Arthaśastra) Ed F W Thomas Punjab Sanskrit Series Lahore 1922

Baudhayana Dharmasutra Ed E Hultzsch Leipzig 1884

Brhaspati Smrti Ed K V Rangaswami Aiyangar (this text has been followed in Ch I In other chapters Jolly s edn has been followed) GOS lxxxv Baroda 1941

Brhat Paraśara Samhita Bombay 1911

Gautama Dharmasutra Ed A S Stenzler London 1876 with the comm of Maskarin Ed L Srinivasacharya Mysore 1917

Kāmandakiya Nitisara Ed R L Mitra Bl Calcutta 1884 Tr M N Dutt Calcutta 1896

Kāmandaka Nitisāra Trivandrum Sanskrit Series Trivandrum 1912

Katyayana Smṛti on *Vyavahāra* (Law and Procedure) Ed with reconstituted text Tr Notes and introduction by P V Kane Bombay 1933

Kṛtyakalpataru of Lakṣmidhara Ed K V Rangaswami Aiyangar GOS Baroda 1943

Lekhapaddhati Ed C D Dalal and G K Shrigondekar GOS xix 1925

Manu Smṛti or Manava Dharmasastra Ed V N Mandlik Bombay 1886 Tr G Buhler *SBE* xxv Oxford 1886

Narada Smṛti with extracts from the comm of Asahaya Ed J Jolly Calcutta 1885 Tr J Jolly *SBE* xxxiii Oxford 1889

Parašara Smṛti with the comm *Manohara* Banaras Sanskrit Series 1907

Šukranitisara Ed *Jivananda Vidyasagara* Calcutta 1890 Tr B K Sarkar Allahabad 1914

Tirukkural Tr V R R Dikshitar The Adyar Library 1949

Vasistha Dharmasastra Ed A A Fuhrer Bombay 1916

Viṣnu Smrti or *Vaisnava Dharmasastra* (with extracts from the comm of Nanda Pandita) Ed J Jolly, Bl Calcutta 1881 Tr J Jolly *SBE* vii Oxford 1880

Vyavaharamayukha of Bhaṭṭa Nilakantha Ed P V Kane Poona 1926

Yajñavalkya with *Viramitrodaya* and *Mitaksara* Chowkhamba Sanskrit Series Banaras 1930

Trs of the *Dharmasutras of Āpastamba Gautama Vasisṭha and Baudhayana* by G Buhler in *SBE* ii and xiv Oxford, 1879 82

EPCIS PURANAS AND ALLIED WORKS

Agni Purana Bl Calcutta 1882 Tr M N Dutt 2 volumes Calcutta 1903 4

Bṛhannaradiya Purana Ed P H Sastri, Calcutta, 1891

Krsnajanmakhanda of the *Brahmavaivarta Purana* Allahabad, 1920

Mahabharata Calcutta Edn , Ed N Siromani and others BI Calcutta, 1834 9 Tr K M Ganguly Published by P C Roy, Calcutta, 1884 96 Kumbakonam Edn Ed T R Krishna charya and T R Vyasacharya Bombay, 1905 10 *Śantiparvan* (Rajadharma 2 Parts) Critical Edn , Ed S K Belvalkar Poona 1949 50 *Śanti Parva* Chitrashala Press, Poona 1932

Markandeya Purana Ed Rev K M Banerjee BI, Calcutta 1862

BUDDHIST TEXTS

Digha Nikaya Ed T W Rhys Davids and J E Carpenter, 3 volumes PTS, London 1890 1911 Tr T W Rhys Davids 3 volumes *SBB* London 1899 21

Jataka with commentary Ed V Fausboll 7 volumes (vol 7 index by D Anderson), London 1877 07 Tr Various hands 6 volumes London 1895 1997

Milindapanho Ed V Trenckner London 1928 Tr T W Davids *SBE*, Oxford 1890 4

HISTORICAL AND SEMI HISTORICAL WORKS

SANSKRIT

Harsacharita of Bānabhatta with the commentary of Śankara Ed K P Parab Bombay 1937

Harasa carita of Bana Tr E B Cowell & F W Thomas London 1897

Kumarapalacharita by Hemachandra with a commentary by Purnakalas Agani Ed S P Pandit Bombay 1900

Prabandhacintamani of Merutunga Ed Jinavijaya Muni Santiniketan 1933

Rajatarangini of Kalhana Tr M A Stein Westminster 1900

Ramacarita of Sandhyakaranandī Ed R C Majumdar R G Basak and N G Banerji Rajshahi 1939

ARABIC & PERSIAN (Tr)

The History of India as told by its own Historians Ed and compiled by H M Elliot & John Dowson 8 Volumes London 1867 77

TECHNICAL WORKS

Aparajitaprccha of Bhuvanadeva Ed P A Mankad GOS Baroda 1950

Brhat Samhita of Varahmihira Tr Durga Prasad Lucknow 1884 with the comm of Bhattotpala 2 Parts Ed Sudhakar Dwivedi Banaras 1895 7

Desinamamala of Hemacandra Ed Muralydhar Banerjee Calcutta 1931

Kamasutra of Vatsyayana with the comm *Jayamangala* of Yasodhara Ed Gosvami Damodar Shastri Banaras 1929

Karnatakabhasabhusana of Naga Varmma Ed L Rice Bangalore 1884

Krsi Parasara Ed & tr G P Majumdar & S C Banerji BI Calcutta 1960

Manasara on Architecture and Sculpture (Sanskrit Text with critical Notes) Ed P K Acharya Oxford 1933

fanasollasa (or *Abhilasitarthacintamani*) Ed G K Shrigondekar GOS xxviii & lxxxiv Baroda 1925 39

ajamata Ed T Ganapati Śastri Trivandrum Sanskrit Series 1919

'aranganasutradhara of King Bhojadeva Ed T G Sastri Baroda 1925

MISCELLANEOUS LITERARY TEXTS

Subhasitaratnakosa Ed D D Kosambi and V V Gokhale Harvard Oriental Series 1957

(The) *Tilaka Mañjari* of Dhanapala Ed Bhavadatta Śastrī & K B Parab Nirnayasagara Press Bombay 1903

Kadambari of Bāna with the commentary by M R Kale Bombay 1928

COINS AND INSCRIPTIONS

A S Altekar (ed) and compiled by C R Singhal *Bibliography of Indian Coins* Part I

C J Brown *Coins of India* Calcutta 1922

A Cunningham *Coins of Mediaeval India from the 7th c ntury down o the Muhammadan conquests* London 1894

M G Dikshit, *Selected Inscriptions from Maharashtra* (5th to 12th century A D) Poona 1947

M G Dikshit *Sources of the Mediaeval History of the Deccan* (Texts with comments in Marāṭhi), iv Poona 1951

J F Fleet, *Inscriptions of the Early Gupta Kings, CII* iii London 1888

Sten Korow *Kharoṣṭhi Inscriptions CII* ii, Part i Calcutta 1929

G H Khare *Sources of the Medieaval History of the Dekkan* i, Poona, 1930

Luders List of Insciptions, *EI* x

N G Majumder (ed) *Inscriptions of Bengal* iii Rajshahi 1929

V V Mirashi *Inscriptions of the Kalacuri Cedi Era CII*, iv two parts Ootacamund 1955

———— *Vakatak Rajvams ka itihas tatha Abhilekh* Varanasi, 1964

R B Pandey *Historical And Literary Inscriptions* Varanasi, 1962

R [illegible] Patil *Antiquarian Remains in Bihar*, Patna 1963

V A Smith *Catalogue of the Coins in the Indian Museum* Calcutta Oxford 1906

D C Sircar *Select Inscriptions Bearing on Indian History and Civilisation* i Calcutta 1942

FOREIGN SOURCES

(i) Greek

J W McCrindle, *Ancient India as described by Megasthenes and Arrian* Calcutta 1926

———— *Ancient India as described in Classical Literature* Westminster 1901

(ii) Chinese

Samuel Beal *Travels of Fah hian and Sung Yun* (Tr), London, 1869

———— *The Life of Hiuen Tsiang*, London, 1888

Ho Chang Chun 'Fa hsien s Pilgrimage to Buddhist Countries *Chinese Literature* 1956, No 3

H A Giles, *The Travels of Fa Hsien or Record of Buddhistic Kingdoms* (Tr) Cambridge 1933

James Legge *A Record of Buddhistic Kingdoms* (being an account of the Chinese monk Fa hien s Travels) Tr Oxford 1886

T Takakusu *A Record of Buddhist Religion* Oxford 1896

T Watters *On Yuan Chwang s Travels in India* Ed T W Rhys Davids and S W Bushell 2 volumes London 1904 5

(iii) Others

Henry Yule tr & ed *The Book of Ser Marco Polo* 2 volumes London 1926

REFERENCE BOOKS

Laxmanshastri Joshi *Dharmakosa* (in three parts) Wai Dist Satara 1937 41

Monier Monier Williams *A Sanskrit English Dictionary* Oxford 1951

T W Rhys Davids and W Stede *Pali English Dictionary* PTS London 1921

SECONDARY WORKS ON EARLY INDIAN FEUDALISM ECONOMIC HISTORY AND ALLIED SUBJECTS

P K Acharya *Hindu Architecture in India and Abroad Manasara Series* Vol VI Oxford 1946

V S Agarwala *Harshacharita Ek Sanskritik Adhyayan* Patna 1953

V S Agarwala *Kadambri Ek Sanskritik Adhyayan* Varansi 1958

A S Altekar *The Rashtrakutas and Their Times* Poona 1934

K A Antonova K Voprosu O Razvitii Feodalizma V Indii *Kratkie Soobschenia Instituta Vostokovedenya* iii (A K Nauk U S S R Moskva, 1952) 23 32

B H Baden Powell *The Indian Village Community* London 189

———, *The Land Systems of British India*, 3 Volumes, London 1892

P C Bagchi *India and Central Asia*, Calcutta 1955

P N Banerjee *Public Administration in Ancient India*, Calcutta 1916

A L Basham *Studies in Indian History and Culture* Calcutta, 1964

——— *The Wonder that was India* London, 1954

R G Basak *The History of North Eastern India*, Calcutta 1934

Marc Bloch *Feudal Society* London 1961

C E Bosworth *The Ghaznavids* (994 1040) Edinburgh 1963

M A Buch *Economic Life in Ancient India* Volume II, Baroda 1924

R K Choudhary Feudalism in Ancient India, *JIH* xxxvii 385 ff xxxviii, 193 ff

——— Viṣṭi (Forced Labour) in Ancient India *IHQ* March 1962

——— Some Aspects of Feudalism in Cambodia *JBRS* xlvii 246 68

H T Colebrooke *Miscellaneous Essays* Ed E B Cowell, London 1873

R. Coulbourn (ed), *Feudalism in History*, Princeton 1956

V R R Dikshitar *The Gupta Polity* Madras 1952

Charles Drekmeir *Kingship and Community in Early India* Stanford Stanford University 1962

B N Dutta *Hindu Law of Inheritance* Calcutta 1957

——— *Studies in Indian Social Polity* Calcutta 1944

D C Ganguly, *History of the Paramara Dynasty* Dacca 1933

F L Ganshof *Feudalism* London, 1959

U N Ghoshal *The Beginnings of Indian Historiography and other Essays* Calcutta 1944

——— *Contributions to the History of Hindu Revenue System*, Calcutta, 1929

Marrion Gibbs, *Feudal Order* London 1949
Krishna Kanti Gopal 'The Assembly of the Samantas in Early Mediaeval India *JIH* xlii 241 50
——— Feudal Composition of Army in Early Mediaeval India' *Journal of the Andhra Historical Research Society*, xxviii, 30 49
Lallanji Gopal *Economic Life of Northern India* (c A D 700-1200) Banaras 1965
———, On Feudal Polity in Ancient India *JIH* xli, 405 13
——— Sāmanta—Its Varying Significance in Ancient India' *JRAS* 1963
——— The *Śukraniti*—a nineteenth century text *BSOAS* xxv 524 526
S Gopal and R Thapar (ed), *Problems of Historical Writing in India* New Delhi 1963
S A Q Husaini *The Economic History of India* i Calcutta 1962
K P Jaiswal, *Hindu Polity* 2 Pts Calcutta, 1924
——— *Hindu Polity* Bangalore 1943 (Unless specified otherwise references correspond to this edition)
P V Kane *History of Dharmasastra* ii Poona 1941
D D Kosambi On the Development of Feudalism in India *ABORI* xxxvi 258 69
——— *The Culture and Civilisation of ancient India in Historical Outline* London 1935
———, Indian Feudal Trade Charters *JESHO* ii 281 93
——— *An Introduction to the Study of Indian History*, Bombay 1956
——— Origins of Feudalism in Kaśmir *The Sardha Satābdi Commemoration Volume* 1804 1954, Asiatic Society of Bombay
S K Maity, *The Economic Life of Northern India in Gupta Period* (c A D 300-550) Calcutta 1957
A K Majumdar *Chaulukyas of Gujarat* Bombay 1956
R. C. Majumdar (ed) *History of Bengal* i Dacca 1943

R C Majumdar & A S Altekar (ed) *The Vakataka Gupta Age* Banaras 1954

R C Majumdar & A D Pusalker (ed) *History and Culture of the Indian People* ii *The Age of Imperial Unity* Bombay 1951

——— *History and Culture of the Indian People* iii *The Classical Age* Bombay 1953

Karl Marx *Pre Capitalist Economic Formations* tr Jack Cohen & ed E J Hobsbawm London 1964

B P Mazumdar *The Socio Economic History of Northern India* (11th & 12th centuries) Calcutta 1960

——— Date and Concordance of the *sukranitisara* *JBRS*, xlvii 214 33

Y M Medvedev K Voprosu O Formakh Jemlevladeniya V Severnoi Indii T VI VII Vekakh *Problemi Vostoko videniya* 1959 i pp 49 61

——— Origin and evolution of the form of the Indian grants (3rd 12th centuries) *Istoriy i Kultura drevnei Indii* ed W Ruben V Struve and G Bongard Levin Moscow 1963

Binayak Misra *Mediaeval Dynasties of Orissa* Calcutta 1934

S K Mitra *The Early Rulers f Khajuraho* Calcutta 1958

W H Moreland (*The*) *Agrarian System of Moslem India* Allahabad 1929

Sultan Nadvi *Arab Bharat Ke Sambandha* Allahabad 1930

Pran Nath *Economic Conditions of Ancient India* London 1929

Puspa Niyogi *Contributions to the Economic History of Northern India* Calcutta 1962

Roma Niyogi *The History of the Gahadavala Dynasty* Calcutta 1959

Richard Pankhurst *An Introduction to the Economic History of Ethiopia* London 1961

Henry Pirenne *Economic and Social History af Mediaeval Europe* London 1961

B N Puri *The History of the Gurjara Pratiharas* Bombay 1957

E J Rapson (ed) *The Cambridge History of India*, Volume I, Ancient India First Indian Reprint Delhi 1955

Niharranjan Ray *Bangalir Itihas* (Ādi Parva) Calcutta 1948

J H Round *Feudal England* London 1964 (first published 1895)

H D Sankalia *Archaeology of Gujrat* Bombay 1941

B C Sen *Some Historical Aspects of the Inscriptions of Bengal* Calcutta 1942

Dasharatha Sharma *Early Chauhan Dynasties* Delhi 1959

R S Sharma *Aspects of political Ideas and Institutions in Ancient India* Delhi 1959

———— *Śudras in Ancient India*, Delhi 1958

———— *Some Economic Aspects of the Caste System in Ancient India* Patna 1952

———— Stages in Ancient Indian Economy *Enquiry* No 4

R B Singh *The History of the Chahamanas* Varanasi 1964

V A Smith *Early History of India* Oxford 1904

Frank Stenton *English Feudalism* 1066 1166, Oxford 1961

Paul M Sweezy and others *The Transition from Fedualism to Capitalism* (A Symposium) Sanskriti Publication Patna 1957

K J Virji *Ancient History of Saurashtra* Bombay 1952

Lakshmishankar Vyas *Caulukya Kumarpala* (in Hindi) 2nd edn Varanasi 1962

G Yazdani (ed) *The Early History of the Deccan* I VI Oxford 1960